1 2

प्रकाशकीय

पं० जवाहरलाल नेहरू की सुविख्यात पुस्तक 'द डिस्कवरी ऑव इंडिया' का हिंदी संस्करण 'हिंदुस्तान की कहानी' के नाम से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। हिंदी के पाठकों ने उसे काफी पसंद किया। यह अनुभव किया गया कि यदि उसका संक्षिप्त संस्करण निकाल दिया जाय, तो हिंदी के सामान्य पाठक, विशेषकर विद्यार्थी, इस उपयोगी पुस्तक का विशेष लाभ उठा सकते हैं।

हमें हर्ष है कि इस पुस्तक द्वारा इस कमी की पूर्ति हो रही है। श्री रामचंद्र टंडन ने यह कार्य बड़ी जिम्मेदारी के साथ किया है। वह स्वयं विद्वान लेखक और कुशल संपादक हैं। अतः उन्होंने संक्षेपीकरण में जहां आकार को कम किया है, वहां लेखक की मूल भावना को सुरक्षित रक्खा है।

इस पुस्तक की उपयोगिता के विषय में दो मत नहीं हो सकते। यह हिंदुस्तान का सामान्य इतिहास नहीं है; बल्कि एक ऐसा इतिहास है, जो तिथिक्रम से इतिहास की घटनाओं पर प्रकाश न डालकर अपने देश के प्राचीन और नवीन रूप को देखने की एक दृष्टि प्रदान करता है। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा से लेकर सन् १९४२ तक भारतीय संस्कृति की धारा को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक वर्तमान रूप में विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी बन गई है। आशा है, शिक्षा-संस्थाएं तथा सामान्य पाठक इसका अधिक-से-अधिक लाभ लेंगे।

—मंत्री

प्रस्तावना

यह किताब मैंने अहमदनगर किले के जेलखाने में, अप्रैल से सितम्बर १९४४ के पांच महीनों में लिखी थी। मेरे कुछ जेल के साथियों ने इसकी सामग्री पढ़ने और उसके बारे में कई कीमती सुझाव देने की मेहरबानी की थी। जेलखाने में किताब को दोहराते हुए मैंने इन सुझावों से लाभ उठाया और कुछ बातें और जोड़ दीं।...

अहमदनगर किले के मेरे ग्यारह साथी हिंदुस्तान के जुदे-जुदे भागों का एक दिलचस्प नमूना पेश करते थे। वह न केवल राजनीति की नुमाइंदगी करते थे, बल्कि हिंदुस्तानी ज्ञान की, पुराने और नये ज्ञान की, और आजकल के हिंदुस्तान के जुदे-जुदे पहलुओं का भी प्रतिनिधित्व करते थे। लगभग सभी खास-खास जीती-जागती हिंदुस्तानी भाषाओं के बोलने वाले वहां मौजूद थे, उन पुरानी भाषाओं के जाननेवाले भी थे, जिन्होंने हिंदुस्तान पर पुराने या नये जमाने में असर डाला है और अक्सर हमें ऊंचे दर्जे की योग्यता मिलती थी। पुरानी भाषाओं में संस्कृत और पाली, अरबी और फारसी थीं; मौजूदा जबानों में हिंदी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, तेलुगू, सिंधी और उड़िया थीं। मेरे सामने इतनी दौलत थी, जिसमें मैं फायदा उठा सकता था।...

मैं नहीं जानता कि दूसरे लेखक अपनी रचनाओं के बारे में कैसा खयाल करते हैं, लेकिन जब मैं अपनी किसी पुरानी चीज को पढ़ता हूं तो हमेशा एक अजीब-सा अहसास मुझे होता है। इस अहसास में और भी अनोखापन उस समय आ जाता है जबकि रचना जेल की बंधी हुई और गैर-मामूली आबोहवा में हुई हो और पढ़ने का मौका बाहर आने पर मिला हो।

इसी तरह का खयाल इस किताब के बारे में भी मुझमें पैदा हुआ है।...यह मेरे किसी पुराने व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है, जो कि उन व्यक्तित्वों के लम्बे सिलसिले में शामिल हो चुका है, जो कुछ समय तक कायम रहकर मिट गये हैं और अपनी केवल एक याद छोड़ गये हैं।

जवाहरलाल नेहरू

दो शब्द

लगभग ९ वर्ष पहले जब यह पुस्तक अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी तो इसने सारे संसार का ध्यान आकृष्ट किया था। इसके अनुवाद न केवल अपने देश की कई भाषाओं में हुए, अपितु अनेक विदेशी भाषाओं में भी हुए और पुस्तक के पढ़ने का चाव आज भी लोगों में कम नहीं।

इस पुस्तक में हिंदुस्तान की कहानी उस रूप में नहीं मिलेगी जैसी कि साधारण इतिहास-ग्रंथों में मिलती है। इस देश के इतिहास को हम-में से प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से पढ़ सकता है और हरेक की प्रतिक्रिया अलग-अलग हो सकती है। अपने युग के एक अत्यन्त सजग व्यक्ति की प्रतिक्रिया उसके विषय में क्या हुई है, इसे जानने के लिए हमें यह पुस्तक पढ़नी चाहिए।

इस पुस्तक के लिखने के बाद पिछले १० वर्षों में समय का प्रवाह बहुत आगे बढ़ चुका है। हमारा देश स्वतंत्र ही नहीं हुआ है, बल्कि उसने प्रगति के सात वर्ष देखे हैं। यही नहीं, संसार में न जाने कितनी घट-नाएं घटी हैं। फिर भी कदाचित् यह कहना बहुत ठीक न होगा कि पुस्तक की बातें पुरानी पड़ गई हैं। यह ठीक है कि कुछ जगहों पर वर्तमान-कालिक क्रिया को भूतकालिक क्रिया में बदल देने की आवश्यकता है, लेकिन इससे अधिक परिवर्तन अनावश्यक होगा। इस संक्षिप्त संस्करण में लेखक के शब्दों में कहीं भी हेर-फेर नहीं किया गया है। केवल कुछ अंशों को काटकर आकार छोटा कर दिया गया है।

इस पुस्तक में सिंधु सभ्यता के युग से, जबकि हमारे सांस्कृतिक इति-हास का पहला पन्ना खुलता है, अगस्त १९४२ तक की कहानी आ गई है जबकि कांग्रेस ने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध 'भारत छोड़ो' का नारा उठाया। इसके बाद हमारे सभी नेता जेलों में गये। यद्यपि बाद के दो वर्षों के

विषय में भी मूल पुस्तक में कुछ बातें आ गई हैं, तथापि कहानी को यहीं तक लेना उचित समझा, क्योंकि हमारे स्वतंत्रता-संग्राम में १९४२ का साल एक बड़ा मील का पत्थर है और वस्तुतः यहीं से हमारी कहानी एक बिल्कुल नया मोड़ लेती है।

मूल पुस्तक का अनुवाद श्री सुरेश शर्मा के सहयोग से संपादक को १९४७ में प्रस्तुत करने का सुयोग मिला था, तबसे अनुवाद की भाषा में बहुत परिमार्जन हुआ है। पुस्तक के संक्षेपीकरण का पूरा दायित्व संपादक पर ही है। उद्देश्य यह है कि पुस्तक विद्यार्थियों के विशाल समुदाय तक पहुंच सके और इस संस्करण से वे लोग भी लाभ उठा सकें, जो बड़े संस्करण से लाभ उठाने में असमर्थ रहे हैं।

—रामचंद्र टंडन

विषय-सूची



हिंदुस्तान की कहानी

(संक्षिप्त)

: १ :

हृदय-मंथन

१ : हिंदुस्तान के अतीत का विहंगावलोकन

यह हिंदुस्तान क्या है, जो मुझपर छाया हुआ है और मुझे बराबर अपनी तरफ बुला रहा है और अपने दिल की किसी अस्पष्ट पर गहराई के साथ अनुभव की हुई इच्छा को हासिल करने के लिए काम करने का उत्साह दिला रहा है ? अगर हम उसके भौतिक और भौगोलिक पहलुओं को छोड़ दें तो आखिर यह हिंदुस्तान है क्या ? गुजरे हुए जमाने में इसके सामने क्या आदर्श थे ? कौन-सी ऐसी चीज थी जिससे इसे शक्ति प्राप्त होती थी ? किस तरह वह अपनी पुरानी शक्ति खो बैठा ? और क्या उसने यह शक्ति पूरी तौर पर खो दी है ? और सिवा इसके कि बहुत बड़ी संख्या में लोग यहां बसते हैं, क्या कोई ऐसी जीवित वस्तु है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है ? आज की दुनिया में उसकी ठीक जगह क्या है ?

ज्यों-ज्यों मैंने इस बात का अनुभव किया कि हिंदुस्तान का और मुल्कों से अलग-थलग होकर रहना अनुचित है और असंभव भी, मेरा ध्यान इस प्रश्न के अंतर्राष्ट्रीय पहलू की ओर बराबर जाता रहा। आनेवाले जमाने की जो तस्वीर मेरे सामने बनती, वह ऐसी होती जिसमें हिंदुस्तान और दूसरे मुल्कों के बीच राजनीति, व्यवसाय और संस्कृति का गहरा मेल और संबंध होता। लेकिन आनेवाले जमाने की बात तो बाद में उठती थी, पहले तो हमारे सामने वर्तमान था, और इस

वर्तमान के पीछे एक लंबा और उलझा हुआ अतीत था, जिसने वर्तमान की रूपरेखा बनाई थी। इसलिए, बातों को समझ पाने के उद्देश्य से मैंने अतीत का सहारा लिया।

हिंदुस्तान मेरे खून में समाया हुआ था और उसमें बहुत-कुछ ऐसी बात थी जो स्वभाव से मुझे उकसाती थी। यह सही है कि हमारे सामने बहुत-कुछ ऐसा था जिसे मिटा देना ही उचित था, लेकिन अगर हिंदुस्तान में कोई ऐसी वस्तु न होती कि जो बनाये रहने के योग्य और सजीव थी, और जिसकी सचमुच कीमत थी, तो यह निश्चय है कि हजारों साल तक वह अपनी संस्कृति और अस्तित्व की रक्षा न कर सकता था। यह वस्तु क्या थी ?

उत्तर-पच्छिमी हिंदुस्तान की सिंध-घाटी में, मोहन-जो-दड़ो के एक टीले पर मैं खड़ा हुआ। मेरे चारों ओर इस प्राचीन नगर के मकान थे और गलियां थीं। कहा जाता है कि यह शहर पांच हजार साल पहले मौजूद था और उस समय भी यहां एक पुरानी और विकसित सभ्यता मौजूद थी। प्रोफेसर चाइल्ड लिखते हैं—"सिंध-सभ्यता, एक विशेष वातावरण में, मनुष्य के जीवन का पूरा संगठन प्रकट करती है, और यह अनेकानेक वर्षों के प्रयत्नों का ही परिणाम हो सकती है। यह एक टिकाऊ सभ्यता थी; उस समय भी उसपर हिंदुस्तान की अपनी छाप पड़ चुकी थी और यह आज की हिंदुस्तानी संस्कृति का आधार है।" यह एक बड़े अचरज की बात है कि किसी भी तहजीब का, इस तरह पांच या छः हजार बरसों का अटूट सिलसिला बना रहे और वह भी इस रूप में नहीं कि वह स्थिर और गतिहीन हो, क्योंकि हिंदुस्तान बराबर बदलता और उन्नति करता रहा है। ईरानियों, मिस्रियों, यूनानियों, चीनियों, अरबों, मध्य-एशियाइयों और भूमध्य-सागर के लोगों से इसका गहरा संबंध रहा है। लेकिन बावजूद इस बात के कि इसने इनपर प्रभाव डाला और इनसे प्रभावित हुई, इसकी सांस्कृतिक नींव इतनी दृढ़ थी कि वह कायम रह सकी। इस दृढ़ता का रहस्य क्या है ? यह आई कहां से ?

मैंने हिंदुस्तान का इतिहास पढ़ा और उसके विशाल प्राचीन साहित्य का एक अंश भी देखा। उस विचार-शक्ति का, साफ-सुथरी

भाषा का, और उस ऊंचे दिमाग का, जो इस साहित्य के पीछे था, मुझपर बड़ा गहरा असर हुआ। चीन के और पच्छिमी व मध्य-एशिया के उन महान् यात्रियों के साथ, जो बहुत पुराने समय में यहां आये और जिन्होंने अपने यात्रा-वृत्तांत लिखे हैं, मैंने हिन्दुस्तान की सैर की। पूर्वी एशिया, अंगकोर, बोरोबुदुर और बहुत-सी जगहों में हिंदुस्तान ने जो कर दिखाया था, उसपर मैंने मनन किया; मैं हिमालय में भी घूमा, जिसका हमारी पुरानी कथाओं और उपाख्यानों से संबंध रहा है और जिन्होंने हमारे विचार और साहित्य पर इतना प्रभाव डाला है। पर्वतों से प्रेम और कश्मीर से अपने संबंध ने मुझे विशेष रूप से पहाड़ों की तरफ खींचा, और वहां मैंने न केवल आज के जीवन और उसकी शक्ति और सौंदर्य को देखा, बल्कि बीते हुए युगों की यादगारें भी देखीं। उन उन्मादिनी नदियों ने, जो इस पहाड़ी सिलसिले से निकलकर हिंदुस्तान के मैदानों में बहती हैं, मुझे अपनी तरफ खींचा और अपने इतिहास के अनगनित पहलुओं की याद दिलाई। सिंधु, जिससे हमारे देश का नाम हिंदुस्तान पड़ा, और जिसे पार करके हजारों बरसों से न जाने कितनी जातियां, फिरके, काफिले और फौजें आती रही हैं; ब्रह्मपुत्र, जो इतिहास की धारा से तनिक अलग रही, लेकिन जो पुरानी कथाओं में जीवित है और पूर्वोत्तर के पहाड़ों की गहरे दरारों के बीच से रास्ता बनाकर हिंदुस्तान में आती है और फिर शांतिपूर्वक और मनोहारी प्रवाह के साथ पहाड़ों और जंगल भरे मैदानों से बहती है; जमुना, जिसके नाम के साथ रास-नृत्य और क्रीड़ा की अनेक दंत-कथाएं जड़ी हुई हैं, और गंगा, जिससे बढ़कर हिंदुस्तान की कोई दूसरी नदी नहीं; जिसने हिन्दुस्तान के हृदय को मोह लिया है, और जो इतिहास के आरंभ से न जाने कितने करोड़ लोगों को अपने तट पर आकर्षित करती रही है। गंगा की, जिसके उद्गम से लेकर सागर में मिलने तक की, कहानी, पुराने जमाने से लेकर आजतक की हिंदुस्तान की संस्कृति की, साम्राज्यों के उठने और नाश होने की, विशाल और शानदार नगरों की, मनुष्य के साहस और साधना की, जीवन की पूर्णता की और साथ-ही-साथ त्याग और वैराग्य की, अच्छे और बुरे

दिनों की, विकास और ह्रास की, जीवन और मृत्यु की कहानी है।

मैंने अजंता, एलौरा, एलिफेंटा और अन्य जगहों के स्मारकों, खंडहरों, पुरानी मूर्तियां और दीवारों पर बनी चित्रकारी को देखा, और आगरा और दिल्ली की, पुरानी इमारतें भी देखीं, जिनका एक-एक पत्थर हिंदुस्तान के बीते हुए युग की कहानी कहता है।

अपने ही नगर, इलाहाबाद में, या हरिद्वार के स्नानों में, या कुंभ-मेले में मैं जाता, और देखता कि वहां लाखों आदमी गंगा में नहाने के लिए आते हैं, उसी तरह जिस तरह कि उनके पुरखे सारे हिंदुस्तान से हजारों बरस पहले से आते रहे हैं। चीनी यात्रियों के और औरों के, तेरह सौ साल पहले के, इन मेलों के वृत्तांतों की याद करता। उस समय भी ये मेले बड़े प्राचीन माने जाते थे और कब से इनका आरंभ हुआ, यह कहा नहीं जा सकता। मैं सोचता, यह भी कौनसा गहरा विश्वास है, जो हमारे देश के लोगों को अनगनित पीढ़ियों से इस प्रसिद्ध नदी की ओर खींचता रहा है?

मेरी इन यात्राओं ने—और इनके साथ वे सभी बातें थीं, जिन्हें मैंने पढ़ रखा था—मुझे बीते हुए युगों की झांकी दिखाई। अबतक जो एक कोरी मानसिक जानकारी थी, उसमें हृदय का समर्थन मिला और क्रमशः हिन्दुस्तान का मेरा कल्पित चित्र वास्तविक लगने लगा, और मुझे अपने पुरखों की भूमि जीते-जागते लोगों से बसी हुई दिखाई पड़ी, ऐसे लोगों से बसी हुई, जो हँसते भी थे और रोते भी, जो प्रेम करना जानते थे और दुःख सहना भी; और उनमें ऐसे लोग थे जो जीवन का अनुभव रखनेवाले और उसे समझनेवाले थे, और उन्होंने अपनी बुद्धि के द्वारा एक ऐसा ढांचा तैयार किया जिसने कि हिन्दुस्तान को एक सांस्कृतिक स्थायित्व प्रदान किया और वह हजारों साल तक बनी रही। इस बीते हुए काल की सैकड़ों जीती-जागती तस्वीरें मेरे मस्तिष्क में फिर रही थीं और जब मैं किसी खास जगह जाता, जिससे कि उनका संबंध होता, तो वे मेरे सामने आ जातीं। बनारस के पास, सारनाथ में, मैं बुद्ध को अपना पहला उपदेश देते हुए प्रायः देख सका, और मुझे उनके

कुछ वे शब्द, जो लिखे जा चुके हैं, ढाई हजार साल बाद एक दूर की प्रतिध्वनि की तरह सुनाई दिये। अशोक की लाटें, जिनपर लेख खुदे हुए हैं, अपनी शानदार भाषा में, एक ऐसे आदमी का हाल बताती हैं, कि जो यद्यपि वह बादशाह था, फिर भी किसी भी राजा या बादशाह से ऊंची हैसियत रखता था। फतहपुर-सीकरी में, अकबर, अपनी सल्तनत की शान को भूलकर, सभी मजहबों के आलिमों से कुछ नई बात सीखने और मनुष्य की चिरंतन समस्या का हल पाने की गरज से बहस करने बैठता।

सिर्फ चीन ही ऐसा देश है कि जहां ऐसी अटूट परंपरा और सांस्कृतिक जीवन दिखाई देते हैं। फिर अतीत की यह विशाल तस्वीर धीरे-धीरे वर्तमान की बदनसीबी में बदल जाती है, जबकि हिंदुस्तान अपने बीते दिनों के बड़प्पन के बावजूद एक गुलाम मुल्क है, और इंगलिस्तान का पुछल्ला बना हुआ है, और सारी दुनिया एक भयानक और नाशकारी लड़ाई के शिकंजे में है, और इंसान को हैवान बनाये हुए है। लेकिन पांच हजार वर्षों की इस कल्पना ने मुझे एक नई दृष्टि दी और वर्तमान का बोझ कुछ हल्का जान पड़ने लगा। अंग्रेजी-सरकार की एक सौ-अस्सी साल की हुकूमत हिंदुस्तान की लंबी कहानी की केवल एक दुःखदायी घटना-जैसी जान पड़ी।

२ : हिंदुस्तान की मजबूती और कमजोरी

हिंदुस्तान की शक्ति और उसके ह्रास के कारणों की खोज एक लंबी और टेढ़ी खोज है। फिर भी इस ह्रास के कारण पर्याप्त रूप में स्पष्ट हैं। शिल्प-शास्त्र की दौड़ में वह पीछे पड़ गया, और यूरोप, जो कि बहुत जमाने से कई बातों में पिछड़ा हुआ था, औद्योगिक प्रगति में नेता बन बैठा। यंत्रों की इस उन्नति के पीछे विज्ञान की भावना थी और थी एक खुदबुदाती हुई जिंदगी, जिसने अपने को बहुत-से क्षेत्रों में और खोज की साहसी यात्राओं में प्रकट किया था। नये-नये यंत्रों की जानकारी ने यूरोप के देशों की फौजी शक्ति को बहुत बढ़ाया और उनके लिए यह संभव हो गया कि पूरब में फैलकर वे वहां के मुल्कों पर अधिकार

कर सकें। यह केवल हिंदुस्तान की ही नहीं बल्कि सार एशिया की कहानी है।

ऐसा हुआ कैसे, यह बता सकना कुछ कठिन है, क्योंकि मानसिक स्फूर्ति में और यंत्रों के हुनर में, पुराने जमाने में, हिंदुस्तानी पिछड़े न थे। ज्यों-ज्यों सदियां बीतती हैं, हम इस हुनर का क्रमशः ह्रास देखते हैं। जिंदगी और बड़े-बड़े कारनामों के लिए उमंग घट जाती है। रचनात्मक शक्ति का लोप हो जाता है और उसकी जगह पर नक्काली आ जाती है। जहां विजयी और क्रांतिकारी विचारों ने प्रकृति और संसार के रहस्यों को भेदने की कोशिश की थी, वहां अब शब्दाडंबरवाले टीकाकार अपनी टीकाओं को लेकर आते हैं। शानदार कला और मूर्तियों की जगह पर अब हमें मिलते हैं पेचीदा खुदाई के काम, जिनमें विस्तार तो बहुत है, लेकिन कल्पना या कौशल की शान नहीं दिखाई देती। भाषा की ओजस्विता, संपन्नता और सादगी जाती रहती है और उनकी जगह बहुत संवारी हुई और जटिल साहित्यिक रचनाएं ले लेती हैं। वह उत्साही जीवन और साहस के लिए उमंग, जिसके बूते पर लोग दूर-दूर के देशों में हिंदुस्तानी संस्कृति स्थापित करने की योजना किया करते थे, एक संकीर्ण कट्टरता बनकर रह जाती है जो समुद्र की यात्रा तक की मनाही कर देती है। जिज्ञासा की तर्कपूर्ण भावना, जिसे हम पुराने समय में बराबर पाते हैं. और जिसकी वजह से विज्ञान की और भी उन्नति हो सकती थी, तर्कहीनता और अंध-विश्वास में बदल जाती है। हिंदुस्तानी जीवन की धार मंद पड़ जाती है, मुर्दा सदियों के बोझ को जैसे-तैसे ढोते हुए लोग मानो अतीत में ही रहते हैं। बीते हुए काल का भारी बोझ उसे कुचल देता है और उसपर एक तरह की बेहोशी छा जाती है। मानसिक मूढ़ता और शारीरिक थकान की ऐसी हालत में हिंदुस्तान का ह्रास हुआ, यह कोई अचरज की बात नहीं। और इस तरह वह जहां-का-तहां रह गया, जबकि दुनिया के और भाग आगे बढ़ गए।

फिर भी यह पूरा या सोलह आने सच्चा नक्शा नहीं है। अगर बीच में कोई ऐसा लंबा समय आया होता जबकि घोर जड़ता या गति-

हीनता छा गई होती, तो बहुत संभव है कि इसका परिणाम यह होता कि बीते हुए जमाने से हमारा संबंध बिल्कुल टूट गया होता, एक युग का अंत हो जाता और उसके खंडहरों पर कोई नई चीज तैयार हो गई होती। इस तरह का बिलगाव कभी नहीं हुआ और निश्चय ही एक सिल-सिला जारी है। साथ ही समय-समय पर पुनर्जागृति की कौंधें उठी हैं, और इनमें से कुछ बड़ी चमकदार और देर तक बनी रहनेवाली रही हैं। सदा इस बात की कोशिश दिखाई दी है कि नये का समन्वय पुराने से किया जाय, कम-से-कम पुराने के उन भागों से, कि जो इस योग्य हैं कि उनकी रक्षा की जाय। अक्सर वह, जो पुराना दिखता है, केवल बाहरी रूप-रेखा में पुराना है, एक तरह का प्रतीक है, और भीतरी वस्तु बदल गई है। लेकिन कोई शक्तिशाली और जीवित वस्तु ऐसी है, जो बनी रही है; कोई प्रेरणा ऐसी है, कि जो लोगों को ऐसी वस्तु के पीछे ले जाती रही है, जिसे प्राप्त करना शेष है और जो हमेशा नये और पुराने के बीच समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न में रही है। यही प्रेरणा और इच्छा थी जो उन्हें आगे बढ़ाती रही और उन्हें इस योग्य बनाती रही कि पुराने विचारों को न छोड़ते हुए भी नये विचारों को अपना सकें। जीते-जागते और ज़ीवन से भरे-पूरे या कभी-कभी परे-शान नींद की बड़बड़ाहट-जैसे इन युगों में, क्या कोई ऐसी वस्तु रही है जिसे हिंदुस्तान का स्वप्न कहा जा सके, मैं नहीं जानता। हर एक जाति और हर एक राष्ट्र के लोगों का अपने होनहार के संबंध में कोई विश्वास या कल्पना रही है, और शायद हर एक में यह विश्वास कुछ हद तक उसके लिए अच्छा भी है। हिंदुस्तानी होने के नाते स्वयं मुझपर इस कल्पना या वास्तविकता का प्रभाव रहा है कि हिंदुस्तान को किसी एक उद्देश्य को पूरा करना है। मैं समझता हूं कि जिस वस्तु में सैकड़ों पीढ़ियों को निरंतर ढालने की शक्ति रही, उसने अपनी यह स्थिर रहनेवाली शक्ति, शक्ति के किसी गहरे कुएं से हासिल की होगी और उसमें यह सामर्थ्य होगी कि इसे हर युग में नई कर ले।

कोई राष्ट्र, कोई जाति ऐसी नहीं जो बदलती न रहती हो। बरा-बर वह औरों में घुलती-मिलती और बदलती रहती है। ऐसा हो सकता

है कि वह करीब-करीब मुर्दा दिखाई दे और फिर इस तरह उठ खड़ी हो जैसे कोई नई जाति, या पुरानी जाति का नया रूप हो। पुराने और नये लोगों में बिल्कुल संबंध टूट सकता है या यह भी हो सकता है कि विचार और आदर्शों की नई और दृढ़ कड़ियां उन्हें जोड़ती रहें।

इतिहास में न जाने कितनी ऐसी मिसालें हैं, जोकि पुरानी और अच्छी तरह से स्थापित संस्कृतियां धीमे-धीमे या यकायक मिट गई हैं, और उनकी जगह नई और शक्तिशाली संस्कृतियों ने ले ली है। या यह कोई जीवनी-शक्ति है, शक्ति का कोई भीतरी सोता है, जो किसी संस्कृति या राष्ट्र को जीवन देता रहता है, और उसके बिना सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं और ऐसे हैं कि जैसे कोई बुड्ढा आदमी किसी युवक का अभिनय कर रहा हो?

आज की दुनिया के लोगों में, मैंने तीन में इस जीवनी-शक्ति का अनुमान किया है—अमरीकी, रूसी और चीनी लोगों में—और इनका एक अजीब मेल है। अमरीका के लोग, यद्यपि उनकी जड़ें पुरानी दुनिया में मिलती हैं, नये लोग हैं और उनकी नई कौम है, और इसमें संदेह नहीं कि वे पुरानी कौमों के बोझों और जटिल विचारों से बचे हुए हैं और उनका अपार उत्साह सहज में समझ में आ जाता है। कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के लोगों की भी यही स्थिति है। ये सभी बहुत-कुछ पुरानी दुनिया से अलग-थलग हैं और एक नई जिंदगी उनके सामने है।

रूसी नये लोग नहीं हैं, फिर भी उन्होंने बीते हुए युग से पूरी तरह से अपना नाता तोड़ लिया है, उस तरह से कि जैसे नाना मौत तोड़ देती है। उनका नया जन्म हुआ है—इस रूप में कि उसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं है। वह फिर जवान हो गए हैं, और उनमें एक अद्भुत शक्ति और स्फूर्ति आ गई है। वे अपनी कुछ पुरानी जड़ों को खोजने लगे हैं, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से वे नये लोग हैं और उनकी एक नई कौम और नई तहज़ीब है।

रूस की मिसाल यह दिखाती है कि अगर कोई कौम पूरा-पूरा मूल्य चुकाने के लिए और जनता की दबी हुई शक्ति को उकसाने के

लिए तैयार हो, तो वह किस तरह फिर से अपने में नई शक्ति पैदा कर सकती है।

चीनी लोग इन सबसे अलग हैं। उनकी कोई नई कौम नहीं है, न उन्हें ऊपर से लेकर नीचे तक परिवर्तन का धक्का सहना पड़ा है। यह सही है कि सात साल की खूंखार लड़ाई ने उन्हें बदल दिया है। कहांतक यह इस युद्ध का नतीजा है या दूसरे स्थायी कारणों का या दोनों का मिला-जुला हुआ, मैं नहीं जानता। लेकिन चीनी लोगों की जीवनी-शक्ति मुझे आश्चर्य में डाल देती है। मैं इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि कोई राष्ट्र, जिसकी नींव इतनी दृढ़ हो, मर सकता है।

जो जीवनी-शक्ति मैंने चीन में देखी, वैसी-ही कुछ मैंने कभी-कभी हिंदुस्तान के लोगों में महसूस की। ऐसा हमेशा नहीं हुआ है; और हर हालत में मेरे लिए तटस्थ होकर विचार करना मुश्किल है। शायद मेरी इच्छाएं मेरे विचारों को टेढ़ा-मेढ़ा रूप दे देती हैं लेकिन हिंदुस्तान के लोगों के बीच घूमते-फिरते हुए, मैं बराबर इस चीज की तलाश में रहा हूं। अगर हिंदुस्तानियों में यह जीवनी-शक्ति है तो उनका कुछ नहीं बिगड़ा है, वे अपना काम पूरा करके रहेंगे। अगर उनमें इसकी कमी है, तो हमारे सारे राजनैतिक प्रयत्न और हंगामे केवल अपने को भुलावे में डालनेवाली वस्तुएं हैं, और यह हमें बहुत दूर न ले जा सकेंगी। मेरी रुचि इस बात में नहीं है कि हम कोई ऐसी राजनैतिक व्यवस्था पैदा करें जिससे कि हम लोग अपना काम कमी-बेश पहले जैसा, केवल कुछ अधिक अच्छी तरह चला सकें। मैंने अनुभव किया है कि हमारे लोगों में एक दबी हुई शक्ति और योग्यता का बड़ा भंडार है, और मैं चाहता हूं कि यह खुल जाय और हिंदुस्तानी अपने में नये जोश और नई स्फूर्ति का अनुभव करें। हिंदुस्तान ऐसा देश है कि वह दुनिया में दूसरे दर्जे का काम नहीं कर सकता। या तो वह बहुत बड़ा काम करेगा या उसकी कोई पूछ न होगी।

३ : हिंदुस्तान की खोज

यद्यपि पुस्तकों और पुराने स्मारकों और बीते हुए जमाने के

सांस्कृतिक कारनामों ने हिंदुस्तान की कुछ जानकारी मुझमें पैदा की, फिर भी उनसे मेरा संतोष न हुआ, और जिस बात की मुझे खोज थी उसका पता न चला। और उनसे मिल भी कैसे सकता था, क्योंकि उनका संबंध बीते हुए जमाने से था और मैं यह जानने की कोशिश में था कि आया उस बीते हुए जमाने का हाल के जमाने-से कोई सच्चा संबंध है भी या नहीं ? मेरे लिए, और मेरे-जैसे बहुतों के लिए वर्तमान कुछ ऐसा था, जिसमें मध्य-युग की बातों की, हद दर्जे की गरीबी और दुख की और बीच के वर्गों की कुछ हद तक सतही आधुनिकता की एक अजीब खिचड़ी थी। मैं अपने-जैसे या अपने वर्ग के लोगों का सराहनेवाला नहीं था, लेकिन मुझे आशा थी कि हो-न-हो वही हिंदुस्तान की रक्षा की लड़ाई में आगे आयंगे। बीच का वर्ग अपने को कैद और जकड़ा हुआ पाता था, और स्वयं बढ़ना और उन्नति करना चाहता था, और चूंकि अंग्रेजी हुकूमत के चौखटे में गिरफ्तार रहते हुए उसके लिए ऐसा संभव न था, इस हुकूमत के विरुद्ध उसमें एक विद्रोही भावना पैदा हो गई। फिर भी यह भावना उस ढांचे के विरुद्ध नहीं थी जो हमें पीसे डाल रहा था। वास्तव में यह केवल अंग्रेजी बागडोर को बदलकर, उसे बनाये रखना चाहता था। यह बीच का वर्ग खुद इस ढांचे की पैदावार था और इस वर्ग के लिए यहं संभव न था कि उसे ललकारे और उखाड़कर फेंक दे।

नई शक्तियों ने सिर उठाया और इन्होंने हमें गांवों की जनता की ओर ढकेला, और पहली बार हमारे नौजवान पढ़े-लिखों के सामने, एक नये और दूसरे-ही हिंदुस्तान की तस्वीर आई, जिसके अस्तित्व को वह करीब-करीब भला चुके थे, या जिसे वह अधिक महत्त्व नहीं देते थे। यह एक विचलित कर देनेवाला दृश्य था, न केवल इस ख़याल से कि हमें हद दर्जे की गरीबी और उनके मसलों का बहुत बड़े पैमाने पर सामना करना था, बल्कि इसलिए भी कि उसने हमारे मूल्यांकन को और उन नतीजों को, जिनपर हम अबतक पहुंचे थे, बिल्कुल पलट दिया था। इस तरह हमारे लिए असली हिंदुस्तान की खोज शुरू हुई और इसने जहां एक तरफ हमें बहुत-सी जानकारी प्राप्त कराई,

दूसरी तरफ हमारे भीतर एक द्वंद भी पैदा कर दिया। अपने पुराने रहन-सहन और अनुभवों के अनुसार हमारी प्रतिक्रियाएं जुदा-जुदा थीं। कुछ लोग तो गांवों की इस बड़ी जनता से पहले से काफी परिचित थे, इसलिए उनमें कोई नई सनसनी नहीं पैदा हुई, उन्होंने जैसी भी हालत थी, पहले से ही मान रखी थी; लेकिन मेरे लिए यह सचमुच एक खोज की यात्रा सिद्ध हुई और जहां मैं अपने लोगों की कमियों और कमजोरियों को दुःख के साथ समझता था, वहीं मुझे हिंदुस्तान के गांवों में रहनेवालों में कुछ ऐसी विशेषता मिली, जिसको शब्दों में बताना कठिन था, और जिसने मुझे अपनी तरफ खींचा। यह विशेषता ऐसी थी जिसका मैंने अपने यहां के बीच के वर्ग में बिल्कुल अभाव पाया था।

आम जनता की मैं आदर्शवादी कल्पना नहीं करता हूं और जहां-तक हो सकता है अमूर्त रूप में उसका खयाल करने से बचता हूं। हिंदुस्तान की जनता इतनी विविध और विशाल होते हुए भी मेरे लिए बड़ी वास्तविक है। मैं उसकी कल्पना अस्पष्ट गुट्टों के रूप में नहीं बल्कि व्यक्तियों के रूप में करना चाहता हूं। यह हो सकता है कि चूंकि उनसे मैं बड़ी उम्मीदें नहीं रखता था, इसलिए मुझे कोई मायूसी नहीं हुई। जितनी मैंने आशा कर रखी थी, उससे मैंने उन्हें बढ़कर पाया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उनमें जो दृढ़ता और भीतरी शक्ति है, उसकी वजह यह है कि वे अपनी पुरानी परंपरा अब भी अपनाये हुए हैं। पिछले दो सौ वर्षों में उन्होंने जो चोटें खाई हैं, उनसे इस परंपरा का बहुत-कुछ तो जा चुका है; फिर भी कुछ बच रहा है, जिसका मूल्य है। साथ ही बहुत-कुछ ऐसा है जो बुरा और निकम्मा है।

मैंने संयक्त-प्रांत के ४८ जिलों में—गांवों और शहरों में—लंबी यात्राएं कीं, और मैं काफी घूमा। यह प्रदेश बहुत समय से हिंदुस्तान का हृदय समझा जाता रहा है और प्राचीन और बीच के, दोनों ही कालों की संस्कृतियों का केंद्र रहा है। यहां कितनी ही संस्कृतियां और कौमें आपस में मिली-जुली हैं। यह वह भाग है जहां १८५७ में क्रांति की आग भड़की थी और जिसका बाद में बड़ी बेरहमी से दमन

हुआ था। रफ़्ता-रफ़्ता मेरा परिचय उत्तरी और पश्चिमी जिलों के जाटों से हुआ, जो धरती के सच्चे बेटे हैं, जो बहादुर और आज़ाद दिखाई देते हैं और औरों की अपेक्षा खुशहाल हैं। राजपूत किसानों और छोटे जमींदारों से मेरी जान-पहचान हुई और मैंने जाना कि उन्हें अब भी अपनी जाति का और पुरखों का गुमान है—उन्हें भी, जिन्होंने कि इस्लाम अख्तियार कर लिया है। मैंने गुनी कारीगरों और घरेलू धंधों में लगे हुए लोगों से, हिंदुओं और मुसलमानों से, परिचय किया, और बड़ी संख्या में जानकारी हासिल की—उन गरीब रिआया और किसानों से, विशेषकर अवध में और पूरबी जिलों में, जो पीढ़ियों के दमन और गरीबी से पिस रहे थे और जिन्हें यह आशा करने का साहस नहीं होता था कि उनके दिन फिरेंगे, लेकिन फिर भी जो आशा लगाये बैठे थे और जिनके मन में विश्वास था।

बंगाल के देहातों को छोड़कर, जहां दुर्भाग्य से मुझे जाने का बहुत कम अवसर मिला, मैंने हर-एक सूबे का दौरा किया और मैं गांवों में पैठा। हिंदुस्तान की धरती और उसके लोग मेरे सामने फैले हुए थे, और मैं एक बड़ी खोज की यात्रा पर था। हिंदुस्तान, जिसमें इतनी विविधता और मोहिनी-शक्ति है, मुझपर एक धुन की तरह सवार था, और यह धुन बढ़ती ही गई। जितना-ही मैं उसे देखता था उतना ही मुझे इस बात का अनुभव होता था कि मेरे लिए या किसीके लिए भी, जिन विचारों का वह प्रतीक था, उन्हें समझ पाना कितना कठिन था। उसके बड़े विस्तार से या उसकी विविधता से मैं नहीं घबड़ाता था, लेकिन उसकी आत्मा की गहराई ऐसी थी, जिसकी थाह मैं न पा सकता था—अगरचे कभी-कभी उसकी झलक मुझे मिल जाती थी। यह किसी प्राचीन ताल-पत्र-जैसा था, जिसपर विचार और चिंतन की तहें, एक-पर-एक जमी हुई थीं, और फिर भी किसी बाद की तह ने पहले से आंके हुए लेख को पूरी तरह से मिटाया न था। उनका हमें भान हो चाहे न हो, ये सब एक साथ मेरे चेतन और अचेतन दिमाग में मौजूद हैं, और ये सब मिलकर हिंदुस्तान के पेचीदा और भेद-भरे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। वह स्फिंक्स-जैसा चेहरा, अपनी भेद-भरी और

कभी-कभी व्यंग-भरी मुस्कराहट के साथ सारे हिंदुस्तान में दिखाई देता था। यद्यपि ऊपरी ढंग से हमारे देश के लोगों में विविधता और विभिन्नता दिखाई देती थी, लेकिन सभी जगह वह समानता और एकरूपता भी मिलती थी, जिसने कि, हमारे दिन चाहे जैसे बीते हों, हमें एक साथ रखा। हिंदुस्तान की एकता, मेरे लिए अब एक कल्पित बात न रह गई। यह एक आंतरिक अनुभव था और मैं इसके बस में आ गया।

४ : भारतमाता

प्राय: जब मैं एक जल्से से दूसरे जल्से में जाया करता और इस तरह चक्कर काटता रहता, तो इन जल्सों में मैं अपने सुननेवालों से अपने इस हिंदुस्तान या भारत की चर्चा करता। भारत एक संस्कृत शब्द है और इस जाति के परंपरागत संस्थापक के नाम से निकला हुआ है। मैं शहरों में ऐसा बहुत कम करता, क्योंकि वहां के सुननेवाले कुछ अधिक सयाने थे और उन्हें दूसरे-ही प्रकार के भोजन की आवश्यकता थी। लेकिन किसानों से, जिनका कि दृष्टिकोण सीमित था, मैं इस बड़े देश की चर्चा करता, जिसकी स्वतंत्रता के लिए हमलोग प्रयत्न कर रहे थे, और बताता कि किस तरह देश का एक हिस्सा दूसरे से जुदा होते हुए भी हिंदुस्तान एक था। मैं उन मसलों का जिक्र करता जो कि उत्तर से लेकर दक्खिन तक, और पूरब से लेकर पच्छिम तक किसानों के लिए यकसां थे, और स्वराज्य का भी जिक्र करता, जो थोड़े लोगों के लिए नहीं, बल्कि सभी के फायदे के लिए हो सकता था।

कभी ऐसा भी होता कि जब मैं किसी जल्से में पहुंचता तो मेरा स्वागत "भारतमाता की जय !" इस जोर के नारे से किया जाता। मैं लोगों से अचानक पूछ बैठता कि इस नारे से उनका क्या मतलब है, यह भारतमाता कौन है जिसकी वे जय चाहते हैं ? मेरे सवाल से उन्हें कुतूहल और आश्चर्य होता और फिर कुछ जवाब न बन पड़ने पर वह एक-दूसरे की तरफ या मेरी तरफ देखने लग जाते। मैं सवाल करता ही रहता। अंत में एक हट्टे-कट्टे जाट ने, जो

अनगनित पीढ़ियों से किसानी करता आया था, जवाव दिया कि भारत-माता से उनका मतलव धरती से है। कौन-सी धरती ? खास उनके गांव की धरती, या जिले की, या सूबे की, या सारे हिंदुस्तान की धरती से उनका मतलब है ? इस तरह सवाल-जबाव चलते, यहां तक कि वह ऊवकर मुझसे कहने लगते कि मैं ही वताऊं। मैं इसकी कोशिश करता, और वताता कि हिंदुस्तान वह सवकुछ है जिसे कि उन्होंने समझ रखा है, लेकिन वह इससे भी वहुत अधिक है। हिंदुस्तान के नदी और पहाड़, जंगल और खेत, जो हमें अन्न देते हैं, यह सभी हमें प्रिय हैं। लेकिन अंत में जिनकी गिनती है वह हैं हिन्दुस्तान के लोग, उनके और मेरे जैसे लोग, जो कि इस सारे देश में फैले हुए हैं। भारत-माता दर-असल यही करोड़ों लोग हैं, और "भारतमाता की जय" से मतलव हुआ इन लोगों की जय का। मैं उनसे कहता, कि तुम इस भारतमाता के अंश हो, एक तरह से तुम ही भारतमाता हो, और जैसे-जैसे यह विचार उनके मन में उठते, उनकी आंखों में चमक आ जाती, इस तरह मानो उन्होंने कोई वड़ी खोज कर ली हो।

५ : हिंदुस्तान की विविधता और एकता

हिंदुस्तान में अपार विविधता है: यह प्रकट-सी वस्तु है; यह इस तरह सतह पर है कि कोई भी इसे देख सकता है। इसका संवंध उन भौतिक वस्तुओं से भी है जिन्हें हम ऊपर-ऊपर देखते हैं और कुछ मानसिक अभ्यासों और स्वभाव से भी है। बाहरी ढंग से देखें तो उत्तर-पच्छिम के पठान में और धुर दक्खिन के तमिल में बहुत कम ऐसी वातें हैं जो आपस में समान कही जायगी। नस्ल की दृष्टि से ये जुदा-जुदा हैं, यद्यपि हो सकता है कि दोनों के बीच कुछ ऐसे धागे हों जो एक-दूसरे को जोड़ रहे हों; सूरत-शक्ल में, खाने-पीने और पोशाक में ये जुदा-जुदा हैं, और भाषा में तो है ही। उत्तर-पच्छिम के सरहदी सूबे में मध्य-एशिया की हवा पहुंची हुई है और यहां के रीति-रिवाज हमें हिमालय के परली तरफ के देशों की याद दिलाते हैं। पठानों के देहाती नाचों में और रूस के कज़्ज़ाकों के नाचों में अद्भुत समानता है। लेकिन इन

भेदों के रहते हुए भी इस बात में शक नहीं हो सकता कि पठान पर हिंदुस्तान की छाप है, उसी तरह जिस तरह कि हम तमिल पर यह छाप साफ़तौर पर देखते हैं। इसमें अचरज की कोई बात नहीं है, क्योंकि ये सरहदी देश और सच पूछिए तो अफ़ग़ानिस्तान भी, हजारों बरस तक हिंदुस्तान से मिल रहे हैं। अफ़ग़ानिस्तान में बसनेवाले पुरानी तुर्क तथा दूसरी कौमें, इस्लाम के आने से पहले अधिकतर बौद्ध थीं और उससे भी पूर्व रामायण और महाभारत के समय में हिंदू थीं। सरहदी प्रदेश पुरानी हिंदुस्तानी संस्कृति का एक केंद्र था और आज भी न जाने कितने मठों और इमारतों के खंडहर हमें वहां दिखाई देते हैं, विशेष-रूप से तक्षशिला के विश्वविद्यालय के, जो दो हजार बरस पहले प्रसिद्ध हो चुका था और जहां हिन्दुस्तान भर से और मध्य-एशिया से भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे। धर्म के परिवर्तन ने अंतर अवश्य उत्पन्न किया था, लेकिन उस हिस्से के लोगों की जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, उसे बदलने में यह असफल रहा।

पठान और तमिल, दो अलग-अलग छोर की मिसालें हैं; और लोग इनके बीच में आते हैं। सभी के रूप जुदा हैं, लेकिन जो बात सबसे बढ़कर है वह यह है कि सभी पर हिंदुस्तान की अपनी छाप है। यह एक दिलचस्प बात है कि बंगाली, मराठी, गुजराती, तमिल, आंध्र, उड़िया, असमी, मलयाली, सिंधी, पंजाबी, पठान, कश्मीरी, राजपूत और बीच के लोगों का एक बड़ा टुकड़ा, जो हिंदुस्तानी भाषा बोलता है—इन सबने, सैकड़ों वर्षों से, अपनी खासियतें कायम रखी हैं, और अब भी उनमें वेही गुण या दोष मिलते हैं, जिनका पता परंपरा और पुराने लेखों से मिलता है। फिर भी इन युगों में वे बराबर हिंदुस्तानी बने रहे हैं, राष्ट्रीय बपौती के रूप में उन्हें जो-कुछ प्राप्त है और उनके आचार-विचार के आदर्श एक-से हैं। इस बपौती में कुछ ऐसी जीती-जागती बात है, जिसका पता हमें जीवन के प्रश्नों के प्रति उनके दर्शन से लगता है। पुराने चीन की तरह, पुराना हिंदुस्तान, एक अलग दुनिया थी, वहां की संस्कृति हर वस्तु को एक विशेष रूप दे देती थी। विदेशी प्रभाव आते और प्रायः इस संस्कृति पर अपना प्रभाव

डालते थे, और बाद में उसीमें समा जाते थे। जहां फूट की प्रवृत्तियां दिखाई दीं, वहां समन्वय के प्रयत्न होने लगते थे। सभ्यता के उषा-काल से लेकर आजतक हिंदुस्तान के मस्तिष्क में, एकता का एक स्वप्न बराबर रहा है। इस एकता की कल्पना इस तरह से नहीं की गई कि मानो वह बाहर से आरोपित वस्तु हो, या बाहरी बातों या विश्वासों तक में एकरूपता आ जाय। यह कुछ और ही गहरी वस्तु थी—इसके क्षेत्र के भीतर रीति-रिवाजों और विश्वासों की ओर अधिक-से अधिक सहिष्णुता बरती गई है और उनके सभी अलग-अलग रूपों को स्वीकार किया गया है और उन्हें बढ़ावा दिया गया है।

एक राष्ट्र के लोगों के अंदर भी, वे आपस में चाहे जितने निकट क्यों न हों, छोटे या बड़े भेद सदा देखने को मिल सकते हैं। किसी गिरोह की एकता का अनुमान तब होता है, जब हम उसकी तुलना दूसरे राष्ट्रीय गिरोह से करते हैं। अगर दो गिरोह पास-पास के देशों के हुए, तो सरहदी हिस्सों में उनके भेद-भाव कम, और नहीं के बराबर मालूम देते हैं। यों भी इस काल में, राष्ट्रीयता का यह विचार जिससे हम परिचित हैं, मौजूद न था। जागीरदारी, धर्म, जाति और संस्कृति के संबंधों को अधिक महत्त्व दिया जाता था। फिर भी मैं समझता हूं कि हिंदुस्तान के किसी भी समय में, जिसका कि इतिहास लिपिबद्ध हो चुका है, एक हिंदुस्तानी अपने को हिंदुस्तान के किसी भी भाग में अजनबी न समझता, और वही हिंदुस्तानी किसी भी दूसरे देश में अपने को अजनबी और विदेशी अनुभव करता। हां, निश्चय ही वह अपने को उन देशों में कम अजनबी पाता, जिन्होंने कि उसकी संस्कृति और धर्म को अपना लिया था। हिंदुस्तान से बाहर के देशों में उत्पन्न होनेवाले धर्मों के अनुयायी, हिंदुस्तान में आने और यहां पर बसने के कुछ-ही पीढ़ियों के भीतर स्पष्टरूप से हिंदुस्तानी बन जाते थे, जैसे ईसाई, यहूदी, पारसी और मुसलमान। ऐसे हिंदुस्तानी, जिन्होंने इनमें से किसी एक धर्म को स्वीकार कर लिया, एक क्षण के लिए भी इस धर्म-परिवर्तन के कारण गैर-हिन्दुस्तानी न हो गए। दूसरे देशों में इन्हें हिंदुस्तानी और विदेशी समझा जाता रहा, चाहे इनका धर्म वही रहा

हो जो इन दूसरे देशवालों का था।

आज भी, जबकि राष्ट्रीयता का विचार बहुत बदल गया और उन्नति कर गया है, विदेशों में हिंदुस्तानियों का गिरोह एक अलग गिरोह समझा जाता है, और अपने भीतरी भेदों के बावजूद उन्हें एक गिना जाता है। हिंदुस्तानी ईसाई चाहे जहां जाय, हिंदुस्तानी ही समझा जाता है, और हिंदुस्तानी मुसलमान चाहे तुर्की में हो, चाहे ईरान और अरब में, सभी इस्लामी मुल्कों में वह हिंदुस्तानी समझा जाता है।

मैं समझता हूं कि हममें से सभी ने, अपनी जन्मभूमि की अलग-अलग तस्वीर बना रखी होगी, और कोई दो आदमी एक-सा विचार न रखते होंगे। जब मैं हिंदुस्तान के बारे में सोचता हूं, तो कई बातों का ध्यान आता है—दूर तक फैले हुए मैदानों का, जिनपर अनगिनत छोटे-छोटे गांव बसे हुए हैं; उन शहरों और क़स्बों का, जहां मैं हो आया हूं; बरसात के मौसम के जादू का, जो सूखे और जले हुए मैदानों में जीवन बखेरता है और उन्हें अचानक हरियाली और सौंदर्य का, और बड़ी और ज़ोर-शोर से बहनेवाली नदियों का प्रदेश बना देता है; खैबर के सुनसान दर्रे का, हिंदुस्तान के दक्खिनी छोर का, और सबसे बढ़कर बर्फ़ से ढंके हुए हिमालय का, या कश्मीर में, बसंत ऋतु में, किसी पहाड़ी घाटी का, जिसमें कि नये-नये फूल फूल रहे हैं और जिसमें पानी के सोते फूटकर गुनगुना रहे हैं; हम लोग अपनी पसंद की तस्वीरें बनाते हैं और उनको संजोते हैं। इसलिए बजाय गर्म मैदानी हिस्सों के, जो ज़्यादा आम हैं, मैंने पहाड़ी मंजर पसंद किया है। दोनों तस्वीरें ठीक हैं, क्योंकि हिंदुस्तान उष्ण-कटिबंध से लेकर सम-शीतोष्ण कटिबंध तक और भूमध्य-रेखा से लेकर एशिया के ठंडे प्रदेश तक फैला है।

६ : जनता की संस्कृति

मैं आज के हिंदुस्तान की जनता का मार्मिक नाटक देखता था, और अक्सर मैं उन धागों का पता लगा पाता था जो उनके जीवन

को बीते हुए जमाने से जोड़ रहे थे, जबकि उनकी निगाहें आनेवाले समय की तरफ लगी हुई थीं। मैं पाता था कि संस्कृति की एक पृष्ठभूमि है जो उनके जीवन पर गहरा असर डाल रही है। यह पृष्ठभूमि साधारणत: दर्शन, परंपरा, इतिहास, पौराणिक और कल्पित कथाओं के मेल-जोल से तैयार हुई थी और इन विविध अंगों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था। जो लोग बिल्कुल अनपढ़ और अशिक्षित थे, उनकी भी यही पृष्ठभूमि थी। अपने पुराने महाकाव्यों, रामायण और महाभारत से, और दूसरे ग्रंथों से, जनता सुगम अनुवादों या गुटकाओं के द्वारा अच्छी तरह परिचित थी। एक-एक घटना और उपदेश उनके मन में टंके हुए थे और इस तरह उनके दिमाग भरे-पूरे थे। अनपढ़ देहातियों को भी सैकड़ों पद्य जबानी याद थे और उनकी बात-चीत में इनके या किसी प्राचीन कथा या उपदेश के हवाले आते रहते थे। मुझे इस बात पर अचरज होता था कि गांव के लोग आजकल की साधारण बातों को साहित्यिक पैराया देते थे। अगर मेरे दिमाग में लिखे हुए इतिहास और कमीबेश जाने हुए वाक्यों के चित्र भरे हुए थे, तो मैंने अनुभव किया कि अनपढ़ किसान के दिमाग में भी एक चित्र-शाला थी हां, इसका आधार परंपरा, पुराण की कथाएं, और महाकाव्य के नायक और नायिकाओं के चरित्र थे। इसमें इतिहास कम था, फिर भी चित्र काफी सजीव थे।

मैं उनके शरीरों और उनकी सूरतों की तरफ देखता था और उनके रहने-सहने के ढंग पर गौर करता। उनमें बहुत-सी सूरतें ऐसी थीं जो बातों का जल्द असर लेनेवाली थीं, उनमें हट्टे-कट्टे, सीधे और साफ अंगवाले लोग मिलते थे, और औरतों में अदा और लोच तथा शान और सम-तौल होती और अक्सर उनके चेहरों पर उदासी दिखाई पड़ती। आमतौर पर ऊंची जात के लोगों में, जिनकी आर्थिक दशा दूसरों की अपेक्षा कुछ अच्छी होती, अच्छे शरीरवाले मिलते। कभी-कभी जब मैं किसी देहाती सड़क या गांव से होकर गुजरता, तो मुझे किसी अच्छे वदन के आदमी को देखकर या रूपवाली स्त्री को देखकर अचरज होता और मुझे पुराने जमाने के भीति-चित्रों की याद

हो आती। युगों की यातना और मुसीवत के बाद भी हिंदुस्तान में आज ऐसे नमूने किस तरह मिल जाते हैं, इस बात पर मुझे आश्चर्य होता। अच्छी स्थिति में, और अच्छे अवसर मिलने पर ये लोग क्या न कर सकते थे?

गरीबी और गरीबी से उपजी हुई अनगनित वातें सभी जगह दिखाई पड़ती थीं, और इसके हैवानी पंजे के निशान हर एक माथे पर लगे हुए थे। जीवन इस तरह कुचल और मरोड़ दिया गया था कि एक अभिशाप वन गया था और दमन और अरक्षा की स्थिति ने वहुतेरी वुरा-इयां पैदा कर दी थीं। यह वातें, देखने में खुशगवार नहीं हो सकती थीं, फिर भी हिंदुस्तान में बुनियादी वास्तविकता यही थी। लोग आवश्य-कता से अधिक भाग्य पर भरोसा करते थे और जैसी भी वीतती, उसे स्वीकार करते थे। साथ-ही उनमें एक नरमी और भलमनसी थी, जो हजारों वर्षों की संस्कृति का परिणाम थी, और जिसे कठोर-से-कठोर दुर्भाग्य नहीं मिटा पाया था।

: २ :

हिंदुस्तान की खोज

१ : सिंध-घाटी की सभ्यता

हिंदुस्तान के बीते हुए युग की सबसे पहली तस्वीर हमें सिंध-घाटी की सभ्यता में मिलती है, जिसके प्रभावशाली खंडहर सिंध में, मोहन-जो-दड़ो में और पश्चिमी पंजाब में हड़प्पा में मिले हैं। यहांपर जो खुदाइयां हुई हैं, उन्होंने प्राचीन इतिहास के बारे में, हमारे विचारों में क्रांति पैदा कर दी है।

मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा एक दूसरे से काफी दूर पर हैं। इन दो जगहों के खंडहरों की खोज एक आकस्मिक बात थी। इसमें शक नहीं कि बहुत-से ऐसे, मिट्टी में दबे हुए शहर और पुराने जमाने के आदमियों के कारनामे इन दो जगहों के बीच पड़े होंगे, और यह संस्कृति हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों में, और निश्चय ही उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थी। ऐसा समय आ सकता है कि जब हिंदुस्तान के सुदूर अतीत के ऊपर से परदा उठाने का काम फिर हाथ में लिया जाय और मारके की खोजें हों। अभी ही इस सभ्यता के चिह्न हमें इतनी दूर फैली हुई जगहों में मिले हैं, जैसे पच्छिम में काठियावाड़ और पंजाब में अंबाला जिला, और ऐसा विश्वास करने के कारण हैं कि यह सभ्यता गंगा-घाटी तक फैली हुई थी। इस तरह यह सभ्यता सिंध-घाटी की सभ्यता से बढ़कर थी। मोहन-दो-जड़ो में मिले हुए लेख अभीतक ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा सके हैं। लेकिन जो भी हम अबतक जान सके हैं, वे बड़े महत्त्व की बातें हैं।

सर जॉन मार्शल हमें बताते हैं—"मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा, इन दोनों जगहों में, एक बात तो स्पष्ट है और इसके बारे में कोई धोखा

नहीं हो सकता। वह यह ह कि इन दोनों जगहों में जो सभ्यता हमारे सामने आई है, वह कोई प्रारंभिक सभ्यता नहीं है, वल्कि ऐसी है जो उस समय ही युगों पुरानी पड़ चुकी थी, हिंदुस्तान की धरती पर पुष्ट हो चुकी थी और उसके पीछे मनुष्य का हजारों वर्ष पुराना प्रयास था। इस तरह अवसे मानना पड़ेगा कि ईरान, मेसोपोटामिया और मिस्र की तरह हिंदुस्तान उन सबसे प्रमुख प्रदेशों में एक है, जहां कि सभ्यता का आरंभ और विकास हुआ था।" और फिर वह कहते हैं कि "पंजाव और सिंध में, अगर हम हिंदुस्तान के और दूसरे हिस्सों में भी न मानें, एक बहुत उन्नत, और अद्भुत रूप से आपस में मिलती-जुलती हुई सभ्यता का प्रचार था, जो उसी काल की मेसोपोटामिया और मिस्र की सभ्यताओं से पृथक होते हुए भी, कुछ वातों में उससे ज़्यादा उन्नत थी।"

सिंध-घाटी के इन लोगों के, उस काल की सुमेर-सभ्यता से बहुत-से संपर्क थे, और इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि अक्काद में हिंदुस्तानियों की, संभवत: व्यापारियों की, एक वस्ती थी। "सिंध-घाटी के शहरों की वनी हुई चीज़ें दजला और फ़रात के बाज़ारों में बिकती थीं और उधर सुमेर की कला के कुछ रूपों—मेसोपोटामिया के सिंगार के सामान, और एक बेलन के आकार की मुहर—की नकल सिंधवालों ने कर ली थी। व्यापार कच्चे माल और विलास की चीजों तक ही सीमित न था। अरब सागर के किनारों से लाई गई मछलियां मोहन-जो-दड़ो की खाने की चीजों में सम्मिलित थीं।"[1]

इतने पुराने जमाने में भी हिंदुस्तान में रुई कपड़ा वनाने के काम में लाई जाती थी। मार्शल सिंध-घाटी की सभ्यता की समकालीन मेसो-पोटामिया और मिस्र की सभ्यता से तुलना करते हैं—"इस तरह, कुछ मुख्य-मुख्य बातें ये हैं कि इस काल में रुई का कपड़ा वनाने के काम में उपयोग केवल हिंदुस्तान में होता था और पच्छिमी दुनिया में २००० या ३००० साल बाद तक यह नहीं फैला। इसके अतिरिक्त मिस्र या

---

[1]गॉर्डन चाइल्ड, 'ह्वाट हेपेन्ड इन हिस्टरी' (पेलिकन बुक्स), पृ० ११२

मेसोपोटामिया या पच्छिमी एशिया में कहीं भी हमें वैसे अच्छे बने हुए हम्माम या विस्तृत घर नहीं मिलते, जैसेकि मोहन जो-दड़ो के नागरिक अपने उपयोग में लाते थे। उन देशों में देवताओं के शानदार मंदिरों और राजाओं के लिए महलों और समाधियों के बनाने पर अधिक ध्यान दिया जाता था और धन खर्च किया जाता था। लेकिन जान पड़ता है कि जनता को मिट्टी की छोटी झोंपड़ियों से संतोष करना पड़ता था। सिंध-घाटी में इससे उल्टी-ही तस्वीर दिखाई देती है और अच्छी-से-अच्छी इमारतें वहां मिलती हैं जिनमें नागरिक रहा करते थे।" निजी या आम लोगों के लिए खुले हम्मामों का और नालियों के जरिये गंदगी निकालने का जो इंतजाम हम मोहन-जो-दड़ो में पाते हैं, वह अपने ढंग का पहला है, जो कहीं भी नहीं मिलता है। हमें रहने के दो मंजिले घर भी मिलते हैं जो पकी हुई ईंटों के बने होते थे, जिनमें हम्माम, चौकीदार के घर, और अलग-अलग घरानों के रहने के लिए हिस्से होते थे।

मार्शल से, जो सिंध-घाटी की सभ्यता के माने हुए विशेषज्ञ हैं और जिन्होंने खुद खुदाई कराई थी, एक और उद्धरण दूंगा। वह कहते हैं—"सिंध घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं, और उन-पर एक अपनी विशेष छाप है। इस काल के दूसरे देशों की हम कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो शैली की दृष्टि से यहां की चीनी-मिट्टी की बनी भेड़ों, कुत्तों या और जानवरों की मूर्तियों से मिलती हो या उन खुदी हुई मुहरों से, विशेषकर जिनपर छोटी सींगों के कूबड़वाले बैलों की नक्काशी है, और जो बनाने के कौशल और सुडौलपन की दृष्टि से अनु-पम हैं। न यही संभव होगा कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी मूर्तियों की तुलना बनावट की सुघराई के विचार से किन्हीं और मूर्त्तियों से कर सकें सिवाय इसके कि जब यूनानी सभ्यता के प्रौढ़-काल के समय की कृतियां देखें। सिंध-घाटी के लोगों के धर्म में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती हुई बातें हमें और देशों में मिल सकती हैं, और यह बात सभी पूर्व-ऐ[illegible]हासिक और ऐति[illegible]ासिक धर्मों के बारे में सच ठहरेगी। लेकिन सबकुछ लेकर, उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ हिंदुस्तानी है कि

आजकल के प्रचलित हिंदू-धर्म से उसका भेद मुश्किल से किया जा सकता है।"

इस तरह से हम देखते हैं कि सिंध-घाटी की सभ्यता, ईरान, मेसोपोटामिया और मिस्र की उस काल की सभ्यताओं के संपर्क में रही है, इसके और उनके लोगों में आपस में व्यापार होता रहा है और कुछ बातों में यह उनसे बढ़कर रही है। यह एक शहरी सभ्यता थी जहां के व्यापारी मालदार और प्रभावशाली लोग थे। सड़कों पर दूकानों की कतारें होतीं, और ऐसी इमारतें जो शायद छोटी-छोटी दुकानें थीं, आजकल के हिंदुस्तानी बाजार-जैसी लगती हैं। प्रोफ़ेसर चाइल्ड कहते हैं—"इससे स्पष्ट रूप से यह परिणाम निकलता है कि सिंध के शहरों के कारीगर बिक्री के लिए सामान तैयार करते थे। इस सामान के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने कोई सिक्कों का चलन और कीमतों की माप स्वीकार की थी या नहीं, और अगर की थी तो वह क्या थी, इसका ठीक पता नहीं। बहुत-से बड़े और विस्तृत मकानों के साथ लगे हुए सुरक्षित गोदामों से पता लगता है कि इन घरों के मालिक सौदागर लोग थे। इन घरों की गिनती और आकार यह बताते हैं कि यहांपर सुदृढ़ और ख़ुशहाल व्यापारियों की बस्ती थी। इन खंडहरों में सोने, चांदी, कीमती पत्थरों और चीनी मिट्टी के जेवर, पिटे हुए तांबे के बरतन, धातु के बने औजार और हथियार इतनी बहुतायत से मिले हैं कि अचरज होता है।" चाइल्ड-साहब यह भी कहते हैं कि "गलियों की सुंदर तरतीब और नालियों की बहुत बढ़िया व्यवस्था, और उनकी बराबर सफ़ाई इस बात का संकेत देते हैं कि यहां कोई नियमित म्यूनिसिपल शासन था और वह अपना काम मुस्तैदी से करता था। इसका शासन इतना काफी दृढ़ था कि बाढ़ों की वजह से बार-बार बनी इमारतों की तैयारी के वक्त भी नगर-निर्माण के और सड़कों की कतारों की रक्षा करने के नियमों का पालन होता था।"[1]

सिंध-घाटी की सभ्यता और आज के हिंदुस्तान के बीच की बहुत-

---

[1] गॉर्डन चाइल्ड "ह्वाट हेपेन्ड इन हिस्टरी' (पेलिकन बुक्स), पृ० ११३-११४

सी कड़ियां ग़ायब हैं और ऐसे समय आये हैं जिनके बारे में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। एक काल को दूसरे काल से जोड़नेवाली कड़ियां अक्सर प्रकट भी नहीं हैं और इस बीच न जाने कितनी घटनाएं घटी हैं और कितने परिवर्तन हुए हैं। फिर भी ऐसा मालूम देता है कि एक सिलसिला बना रहा है और एक साबित जंजीर है जो आज के हिंदुस्तान को उस छः-सात हजार साल पुराने काल से, जबकि सिंध-घाटी की सभ्यता शायद आरंभ हुई थी, बांध रही है। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की कितनी चीजें हमें चली आती हुई परंपरा की, रहन-सहन की, लोगों के पूजा-पाठ, कारीगरी, यहांतक कि पोशाक के ढंगों की याद दिलाती रहती हैं, इसपर अचरज होता है। इनमें से बहुत-सी बातों ने पच्छिमी एशिया पर प्रभाव डाला था।

२ : आर्यों का आना

सिंध-घाटी की सभ्यतावाले ये लोग कौन थे और कहां से आये थे, इसका हमें अबतक पता नहीं है। यह बहुत मुमकिन, बल्कि संभावित है कि इनकी संस्कृति इसी देश की संस्कृति थी, और उसकी जड़ें और शाखाएं दक्खिन हिंदुस्तान तक में मिलती हैं। कुछ विद्वान् इन लोगों में और दक्खिन हिंदुस्तान के द्रविड़ों में जाति और संस्कृति की विशेष रूप से समानता पाते हैं, और अगर बहुत प्राचीन समय में हिंदुस्तान में बाहरी लोग आये थे, तो इसका इतिहास मोहन-जो-दड़ो से हजारों बरस पुराना है। व्यवहार के विचार से हम उन्हें हिंदुस्तान के ही निवासी मान सकते हैं।

यह ख़याल किया जाता है कि आर्यों का यहां आना, सिंध-घाटी की सभ्यता के एक हजार साल बाद हुआ, लेकिन यह भी संभव है कि काल की इतनी बड़ी खाई दोनों के बीच न रही हो और जातियां और कबीले पच्छिमोत्तर से बराबर थोड़े-थोड़े समय बाद आते रहे हों, जैसाकि वे बाद में आये, और आने पर हिंदुस्तान में घुल-मिल जाते रहे हों। हम कह सकते हैं कि संस्कृतियों का पहला बड़ा समन्वय और मेल-जोल आनेवाले आर्यों और द्राविड़ों में, जो संभवतः सिंध-घाटी की सभ्यता

के प्रतिनिधि थे, हुआ। इस समन्वय और मेल-जोल से हिंदुस्तान की जातियां बनीं और एक बुनियादी हिंदुस्तानी संस्कृति तैयार हुई जिसमें दोनों के अंश थे। बाद के युगों में और बहुत-सी जातियां आती रहीं, जैसे ईरानी, यूनानी, पार्थियन, बैक्ट्रियन, सिदियन, हूण, तुर्क (इस्लाम से पहले के), कदीम ईसाई, यहूदी और पारसी। ये सभी लोग आये, इन्होंने अपना प्रभाव डाला और बाद में यहां के लोगों में घुल-मिल गए। डॉडवेल के कथनानुसार हिंदुस्तान में 'समुद्र की तरह सोखने की असीम शक्ति थी।' यह कुछ अजब-सी बात जान पड़ती है कि हिंदुस्तान में, जहां ऐसी वर्ण-व्यवस्था है और अलग बने रहने की भावना है, विदेशी जातियों और संस्कृतियों को जज्ब कर लेने की इतनी समाई रही हो। शायद यही वजह है कि उसने अपनी जीवनी-शक्ति कायम रखी है और समय-समय पर वह अपना काया-कल्प करता रहा है। जब मुसलमान यहां आये तो उनपर भी उसका असर पड़ा। विंसेंट स्मिथ का कहना है कि "विदेशी (मुसलमान तुर्क) अपने पूर्वजों, शकों और यूचियों की तरह हिंदूधर्म की सोख लेने की अद्‌भुत शक्ति के वश में हुए और तेजी के साथ उनमें 'हिंदूपन' आ गया।"

३ : हिंदूधर्म क्या है ?

इस उद्धरण में विंसेंट स्मिथ ने 'हिंदूधर्म' और 'हिंदूपन' शब्दों का प्रयोग किया है। मेरी समझ में इन शब्दों का इस तरह प्रयोग करना ठीक नहीं : अगर इनका प्रयोग हिंदुस्तानी संस्कृति के विस्तृत अर्थ में किया जाय तो दूसरी बात है। आज इन शब्दों का प्रयोग, जबकि ये बहुत संकुचित अर्थ में लिये जाते हैं और इनसे एक विशेष धर्म का खयाल होता है, भ्रांति पैदा कर सकता है हमारे पुराने साहित्य में तो हिंदू शब्द कहीं आता ही नहीं। मुझे बताया गया है कि इस शब्द का हवाला हमें जो किसी हिंदुस्तानी पुस्तक में मिलता है, वह है आठवीं सदी ईसवी के एक तांत्रिक ग्रंथ में, और वहां हिंदू का मतलब किसी विशेष धर्म से नहीं, बल्कि विशेष लोगों से है। लेकिन यह स्पष्ट है कि यह शब्द बहुत पुराना है और अवेस्ता में और पुरानी फारसी में आता है। उस समय,

और उस समय से हजार साल बाद तक पच्छिमी और मध्यएशिया के लोग इस शब्द का प्रयोग हिंदुस्तान के लिए, बल्कि सिंधु नदी के इस पार बसनेवाले लोगों के लिए करते थे। यह शब्द साफ-साफ 'सिंधु' से निकला है और यह 'इँडस' का पुराना और नया नाम है। इस 'सिंधु' शब्द से हिंदू और हिंदुस्तान बने हैं और 'इंडोस' और 'इंडिया' भी। प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्-सिंग ने, जो हिंदुस्तान में सातवीं सदी ईसवी में आया था, अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि "उत्तर की जातियां, यानी मध्य-एशिया के लोग हिंदुस्तान को हिंदू (सीन्-तु) कहते हैं।" लेकिन उसने यह भी लिखा है कि "यह आम नाम नहीं है . . . . हिंदुस्तान का सबसे उचित नाम आर्यदेश है।" एक विशेष धर्म के अर्थ में 'हिंदू' शब्द का प्रयोग बहुत बाद का है।

हिंदुस्तान में धर्म के लिए पुराना व्यापक शब्द 'आर्य-धर्म' था। वास्तव में धर्म का अर्थ 'मजहब' या 'रिलिजन' से ज्यादा विस्तृत है। इसकी व्युत्पत्ति जिस धातु-शब्द से हुई है उसके मानी हैं एक साथ पकड़ना। यह किसी वस्तु की भीतरी प्रकृति, उसके आंतरिक जीवन के विधान के अर्थ में आता है। इसके अंदर नैतिक विधान, सदाचार और आदमी की सारी जिम्मेदारियां और कर्त्तव्य आ जाते हैं। आर्य-धर्म के भीतर वे सभी मत आ जाते हैं जिनका आरंभ हिंदुस्तान में हुआ है, वे मत चाहे वैदिक हों चाहे अ-वैदिक। इसका प्रयोग बौद्धों और जैनों ने भी किया है और उन लोगों ने भी जो वेदों को मानते हैं। बुद्ध अपने बनाये मोक्ष के मार्ग को हमेशा 'आर्य-मार्ग' कहते थे।

पुराने समय में 'वैदिकधर्म' शब्द का प्रयोग विशेषरूप से दर्शनों, नैतिक शिक्षाओं, कर्मकांड और रीति-रिवाजों के लिए होता था जिनके बारे में समझा जाता था कि वे वेद पर अवलंबित हैं। इस तरह से, वे सभी लोग, जो वेदों को आमतौर पर प्रमाण मानते थे, वैदिक-धर्मवाले कहलाये।

सभी प्राचीन हिंदुस्तानी मतों के लिए—और इनमें बुद्ध-मत और जैन-मत भी शामिल हैं—'सनातन धर्म' यानी प्राचीन धर्म का प्रयोग हो सकता है, लेकिन इसपर आजकल हिंदुओं के कुछ कट्टर दलों ने एका-

धिकार कर रखा है, जिनका दावा है कि वे इस प्राचीन मत के अनुयायी हैं।

बौद्ध धर्म और जन धर्म निश्चय ही हिंदू-धर्म नहीं हैं और न वैदिक धर्म ही हैं। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिंदुस्तान में ही हुई और यह हिंदुस्तानी जीवन, संस्कृति और दर्शन के अंग हैं। हिंदुस्तान में बौद्ध और जैनी, हिंदुस्तानी विचारधारा और संस्कृति की सौ प्रतिशत उपज हैं फिर भी इनमें से कोई भी मत के खयाल से हिंदू नहीं है।

हिंदू-धर्म जहांतक कि वह एक मत है, अस्पष्ट है, इसकी कोई निश्चित रूपरेखा नहीं; इसके कई पहलू हैं और ऐसा है कि जो चाहे इसे जिस तरह का मान ले। इसकी परिभाषा दे सकना या निश्चित रूप में कह सकना कि साधारण अर्थ में यह एक मत है, कठिन है। अपने वर्तमान रूप में, बल्कि बीते हुए काल में भी इसके भीतर बहुत से विश्वास और कर्मकांड आ मिले हैं, ऊंचे-से-ऊंचे और गिरे-से-गिरे, और प्रायः इनमें आपस का विरोध भी मिलता है। इसकी मुख्य भावना यह जान पड़ती है कि अपने को जीवित रखो और दूसरे को भी जीने दो। महात्मा गांधी ने इसकी परिभाषा देने का प्रयत्न किया है—"अगर मुझसे हिंदू-मत की परिभाषा देने को कहा जाय तो मैं केवल यह कहूंगा कि 'यह अहिंसात्मक साधनों से सत्य की खोज है।' आदमी चाहे ईश्वर में विश्वास न रखे। फिर भी वह अपने को हिंदू कह सकता है। हिंदू-धर्म सत्य की अनथक खोज है . . . . हिंदू-धर्म सत्य को माननेवाला धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। हम इस वात से परिचित हैं कि ईश्वर से इ कार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नहीं किया है।" गांधीजी इसे सत्य और अहिंसा बताते हैं, लेकिन वहुत-से प्रमुख लोग, जिनके हिंदू होने में कोई संदेह नहीं, यह कहते हैं कि अहिंसा—जैसा उसे गांधीजी समझते हैं—हिंदू-मत का आवश्यक अंग नहीं है। तो फिर हिंदू-मत का अकेला सूचक चिह्न सत्य रह जाता है स्पष्ट है यह कोई परिभाषा न हुई।

'हिंदुस्तानी' के लिए ठीक शब्द 'हिंदी' होगा, चाहे हम उसे मुल्क के लिए, चाहे संस्कृति के लिए, और चाहे अपनी भिन्न परंपराओं के इतिहास के क्रम के लिए प्रयोग करें। यह शब्द हिंद से बना है जो हिंदु-

स्तान का छोटा रूप है। अब भी हिंदुस्तान के लिए हिंद शब्द का आम तौर पर प्रयोग होता है। पच्छिमी एशिया के मुल्कों में, ईरान और तुर्की में, ईराक,अफगानिस्तान, मिस्र और दूसरी जगहों में, हिंदुस्तान के लिए बराबर हिंद शब्द का प्रयोग किया जाता है और इन सभी जगहों में हिंदुस्तानी को 'हिंदी' कहते हैं। 'हिंदी' का धर्म से कोई संबंध नहीं और हिंदुस्तानी मुसलमान और ईसाई उसी तरह से 'हिंदी' हैं जिस तरह कि एक हिंदू-मत का माननेवाला। दुर्भाग्य से 'हिंदी' शब्द, हिंदुस्तान में, एक खास लिपि के लिए इस्तेमाल होने लगा है—यह भी संस्कृत की देवनागरी लिपि के लिए—इसलिए इसका व्यापक और स्वाभाविक अर्थ में प्रयोग करना कठिन हो गया है। शायद जब आजकल के विवाद खतम हो लें तो हम फिर इस शब्द का प्रयोग उसके मौलिक अर्थ में कर सकें और वह अधिक संतोषजनक होगा।

अपनी सांस्कृतिक परंपरा के लिए हम 'हिंदी' या 'हिंदुस्तानी' जो शब्द भी प्रयोग करें, हम यह देखेंगे कि पुराने समय में समन्वय के लिए यहां एक भीतरी प्रेरणा रही है और हमारी संस्कृति और राष्ट्र के विकास का आधार, विशेषकर हिंदुस्तान का दार्शनिक दृष्टिकोण रहा है। सी० ई० एम० जोड ने इसके बारे में लिखा है —"इसकी वजह जो कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तान की दुनिया को विशेष देन यह रही है कि उसने विचारों और कौमों के जुदा-जुदा तत्त्वों के समन्वय की ओर विभिन्नता से एकता पैदा करने की योग्यता और तत्परता दिखाई है।"

४ : सबसे पुराने लेख : धर्मग्रंथ और पुराण

सिंध-घाटी की सभ्यता की खोज से पहले यह खयाल किया जाता था कि हिंदुस्तानी संस्कृति के सबसे पुराने प्रमाण-लेख जो हमें मिले हैं, वे वेद हैं। वेदों के काल-निर्णय के बारे में बड़ा मत-भेद रहा है, यूरोपीय विद्वान् इसे इधर खींचते रहे हैं और हिंदुस्तानी विद्वान् और पीछे ले जाते रहे हैं। यह एक विचित्र बात है कि अपनी पुरानी संस्कृति को महत्त्व देने के लिए हिंदुस्तानी उसे अधिक-से-अधिक पुरानी प्रमाणित करने के प्रयत्न में रहे हैं। प्रोफेसर विंटरनीज का खयाल है कि वैदिक साहित्य

का आरंभ ईसा से २००० बल्कि २५०० वर्ष पहले होता है। यह हमें मोहन-जो-दड़ो के समय के बहुत निकट पहुंचा देता ह।

आज के अधिकतर विद्वानों ने ऋग्वेद की ऋचाओं के संबंध में जो प्रमाण माने हैं वे उसे ईसा से १५०० वर्ष पुराना बताते हैं, लेकिन मोहन-जो-दड़ो की खुदाई के बाद इन धर्म-ग्रंथों को और पुराना प्रमाणित करने की तरफ रुझान रहा है। इस साहित्य की ठीक तिथि जो भी हो, यह संभावित है कि यह यूनान या इसराइल के इतिहास से पुराना है और सच बात तो यह है कि मनुष्य-मात्र के मस्तिष्क की सबसे पुरानी कृतियों में है। मैक्समूलर ने कहा है कि "आर्य-जाति के मनुष्य द्वारा कहा गया यह पहला शब्द है।"

वेद आर्यों के उस समय के भावोद्गार हैं जबकि वे हिंदुस्तान की हरी-भरी भूमि पर आये। वे अपने कुल के विचारों को अपने साथ लाये, उस कुल के जिसने ईरान में 'अवेस्ता' की रचना की, और हिंदुस्तान की धरती पर उन्होंने अपने विचारों को विस्तार दिया। वेदों की भाषा भी अवेस्ता की भाषा से अद्भुत रूप में मिलती-जुलती है, और यह बताया गया है कि वेद अवेस्ता के जितने निकट हैं, उतने स्वयं इस देश के महाकाव्यों की संस्कृत के निकट नहीं हैं।

मैंने धार्मिक किताबों के पढ़ने में हमेशा संकोच किया ह। उनके बारे में, जो इस तरह के दावे किये जाते हैं कि इनमें अंतिम बातें लिख दी गई हैं,मुझे पसंद नहीं आते।इन धर्मों का लोग जैसा आचरण करते हैं,इसके बारे में जो ऊपरी प्रमाण मेरे सामने आये हैं, उन्होंने मुझे उनके मूल तक पहुंचने का उत्साह नहीं दिलाया है फिर भी मुझे इन किताबों तक भटककर पहुंचना पड़ा है, इसलिए कि अज्ञान स्वयं कोई गुण नहीं हैं और बहुधा एक कमी सिद्ध होता है। मैं मानता रहा हूं कि इनमें से कुछ ने मनुष्य पर गहरा प्रभाव डाला है और जिस वस्तु का ऐसा प्रभाव पड़ सकता है उसमें कोई भीतरी गुण और शक्ति, शक्ति का कोई जीवित स्रोत अवश्य है। उनके बहुत-से अंशों को पढ़ने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई है, क्योंकि बारबार प्रयत्न करने पर भी मैं अपने में काफी दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका हूं; साथ-ही ऐसे टुकड़े भी मिले हैं जिनकी निपट

सुंदरता ने मुझे मोह लिया है। और उस समय ऐसा हुआ है किसी वाक्य ने या वाक्य के एक अंश ने अचानक मुझमें विजली पैदा कर दी है कि और मुझे यह अनुभव हुआ है कि मेरे सामने सचमुच वहुत बड़ी चीज है। बुद्ध या मसीह के कुछ शब्द अपने गहरे अर्थ के साथ मुझ पर प्रकट हो गए हैं और मुझे ऐसा जान पड़ा है कि आज भी वे उसी तरह लागू हैं जिस तरह कि वे २००० या उससे ज्यादा साल पहले लागू थे। उनमें एक बेबस कर देनेवाली सचाई है, एक ऐसी टिकाऊ वात है जिसे देश और काल छू नहीं सकते। ऐसा ही खयाल मुझे सुकरात का हाल या चीनी दार्शनिकों की रचनाओं को पढ़कर हुआ है और उपनिषदों और भगवद्गीता को पढ़कर भी। मुझे अध्यात्म और कर्मकांड की व्याख्या और बहुत-सी और वातों में, जिनका उन मसलों से कोई संबंध नहीं जो मेरे सामने हैं, रुचि नहीं रही है। मैं इन पुस्तकों को, या किन्हीं पुस्तकों को ईश्वर-वाक्य की तरह नहीं मान सका हूं। मुझे इस वात में हमेशा अधिक सम्मान और भव्यता जान पड़ी है कि एक मनुष्य मस्तिष्क और आत्मा की ऊंचाई पर पहुंचे और दूसरों को भी उठाने का प्रयत्न करे, न कि इसमें कि वह किसी वड़ी शक्ति या ईश्वर की तरफ से बोलनेवाला वने। धर्मों के कुछ संस्थापक अद्भुत व्यक्ति हो गए हैं—लेकिन अगर उनकी कल्पना मनुष्यों के रूप में न करूं, तो उनकी सारी शान मेरी दृष्टि में जाती रहती है।

पुराणों की गाथाओं का भी मुझपर कुछ ऐसा ही प्रभाव पड़ा। अगर लोग इन कहानियों को घटना के रूप में सही मानते हैं, तो यह विल्कुल वेतुकी और हंसी की वात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाय तो वे एक नये ही प्रकाश में दिखाई पड़ने लगते हैं, उनमें एक नया सौंदर्य जाय पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि एक ऊंची कल्पना ने अचरज-भरे फूल खिलाये हैं और इनमें मनुष्य के लिए शिक्षा लेने की वहुत-सी बातें हैं। यूनान के देवी-देवताओं की कहानियों में अव कोई विश्वास नहीं करता, इसलिए विना किसी कठिनाई के हम उनकी प्रशंसा कर सकते हैं। वे हमारी मानसिक विरासत का अंग वन गई हैं। लेकिन अगर हमें उनमें विश्वास करना पड़े, तो हमपर कितना वोझ

आ पड़ेगा, और विश्वास के इस बोझ से दबकर हम अक्सर उनका सौंदर्य खो देंगे। हिंदुस्तान की पुराण-गाथाएं कहीं अधिक और भरी-पूरी हैं, और बड़ी-ही सुंदर और अर्थ-भरी हैं।

५ : वेद

बहुत-से हिंदू वेदों को श्रुति-ग्रंथ मानते हैं। यह मुझे विशेष रूप से एक दुर्भाग्य की बात मालूम पड़ती है, क्योंकि इस तरह हम उनके सच्चे महत्त्व को खो बैठते हैं। वह यह है कि विचार की प्रारंभिक अवस्था में, मनुष्य के मस्तिष्क ने अपने को किस रूप में प्रकट किया था और वह कैसा अद्‌भुत मस्तिष्क था। वेद शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से है, जिसका अर्थ जानना है, और वेदों का उद्देश्य उस समय की जानकारी को इकट्ठा कर देना था। उनमें बहुत-सी चीजें मिली-जुली हैं! स्तुतियां हैं, प्रार्थनाएं हैं, यज्ञ की विधियां हैं, जादू-टोना है और बड़ी-ऊंची प्रकृति-संबंधी कविता है। उनमें मूर्त्तिपूजा नहीं है, देवताओं के मंदिरों की चर्चा नहीं है। जो जीवनी-शक्ति और जिंदगी के लिए उत्साह उनमें समाया हुआ है, वह असाधारण है। आरंभ के वैदिक आर्य लोगों में जीवन के लिए इतनी उमंग थी कि वे आत्मा के प्रश्न पर अधिक ध्यान नहीं देते थे। एक अस्पष्ट ढंग से उन्हें इस बात का विश्वास था कि मौत के बाद भी कोई जीवन है।

पहला वेद, ऋग्वेद, शायद मनुष्य-मात्र की पहली पुस्तक है। इसमें हमें मानवीय मस्तिष्क के सबसे पहले उद्‌गार मिलते हैं, काव्य की छटा मिलती है, और मिलती है प्रकृति की सुंदरता और रहस्यमय आनंद की भावना।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने इन ऋचाओं के बारे में कहा है—"जीवन के अचरज और भय की तरफ, एक जन-समाज की मिली-जुली प्रतिक्रिया का यह काव्यमय वसीयतनामा है। सभ्यता के आरंभ में ही एक जोरदार और अछूती कल्पनावाले लोग जीवन के अपार रहस्य को भेदने के लिए उत्सुक हुए। अपने सरल विश्वास द्वारा उन्होंने हरएक तत्त्व में, प्रकृति की हर एक शक्ति में देवत्व देखा। उनका जीवन आनंदमय और साहसी

था और रहस्य की भावना ने उनकी जिंदगी में एक टोना पैदा कर दिया था। मन में एक जातिगत विश्वास था जिसपर विश्व की द्वंद्वमयी विविधता के चिंतन का बोझ नहीं पड़ा था, यद्यपि उसपर जब-तब सहज अनुभव का प्रकाश इस रूप में पड़ा था कि 'सत्य एक है, (यद्यपि) विप्र उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।"

लेकिन चिंतन की यह भावना धीरे-धीरे आती गई, यहांतक कि वेद का रचयिता यही पुकार उठा कि, "हे धर्म, हमें विश्वास प्रदान करो।"

६ : जिंदगी से इक़रार और इन्कार

ऋग्वेद की ऋचाओं के समय से हम जीवन और विचार की दोनों धाराओं का विकास बराबर देखते हैं। आरंभ की ऋचाओं में बाहरी दुनिया की बातें भरी पड़ी हैं, प्रकृति की सुंदरता और रहस्य और जीवन के आनंद का वर्णन है और जीवन-बल भर-पूर देखने को मिलता है। इसके बाद विचार आता है और खोज की भावना उपजती है और इस लोक से परे जो लोक है, उसका रहस्य गहराई पकड़ता है। विचार और काम की ये दो धाराएं—एक जो जीवन को स्वीकार करती है और दूसरी जो उससे बच निकलना चाहती है—साथ-ही-साथ विकसित होती ह; हां, भिन्न समयों में, कभी एक और कभी दूसरे पर अधिक बल दिया गया है। फिर भी इस संस्कृति की पृष्ठभूमि पारलौकिक या इस संसार को हेच समझनेवाली नहीं थी। उस समय भी, जबकि दर्शन की भाषा में, इस विषय पर बहस होती थी कि संसार माया है, यह विचार कोई अंतिम विचार न था।

हम देखते हैं कि हिंदुस्तान में, हर काल में जबकि उसकी संस्कृति ने फूल खिलाय हैं, लोगों ने जीवन और प्रकृति में गहरा रस लिया है, जीने की क्रिया में ही उन्होंने आनंद का अनुभव किया है साहित्य, संगीत और कला का विकास हुआ है, गाने-नाचने, चित्रकला और नाटकों में उनकी रुचि रही है; यहांतक कि यौन-संबंधों के बारे में बड़ी पेचीदा किस्म की छानबीन हुई है। यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि एक

ऐसी संस्कृति या जीवन का ऐसा दृष्टिकोण, जिसकी बुनियाद में पारलौकिकता हो या जो जीवन को हेच समझता हो, इस तरह के विविध और प्रबल विकास का प्रवर्तक होगा।

फिर भी कुछ लोगों का विचार है कि हिंदुस्तानी विचार और संस्कृति, जीवन से इन्कार करने के सिद्धांत के सूचक हैं, जीवन को स्वीकार करने के सिद्धांत के नहीं। मेरा विचार है कि दोनों ही सिद्धांत, कमोबेश, सभी पुरानी संस्कृतियों और पुराने धर्मों में मौजूद हैं; लेकिन मैं तो इस परिणाम पर पहुंचूंगा कि सबकुछ देखते हुए, हिंदुस्तानी संस्कृति ने जिंदगी से इन्कार करने पर कभी जोर नहीं दिया है, यद्यपि यहां के कुछ दर्शनों ने ऐसा अवश्य किया है। बल्कि ईसाई-धर्म के मुकाबले में इसने जीवन से जो इन्कार किया है, वह बहुत कम है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने अवश्य जीवन से अलग रहने पर कुछ जोर दिया है और हिंदुस्तान के इतिहास के कुछ कालों में एक बड़े पैमाने पर जीवन से दूर रहने की प्रवृत्ति रही है। उदाहरण के लिए उस समय, जबकि बहुत अधिक संख्या में लोग बौद्ध-विहारों या मठों में सम्मिलित हुए। इसका क्या कारण था, मैं नहीं जानता। इसी तरह की, बल्कि इससे भी बढ़ी हुई मिसालें हमें यूरोप के मध्य काल में मिल सकती हैं, जबकि इस तरह का विश्वास फैला हुआ था कि दुनिया का अंत होनेवाला है। कदाचित त्याग और जीवन से इन्कार करने के विचार लोगों में उस समय पैदा होते हैं जब कि राजनैतिक या आर्थिक विवशता का उन्हें सामना करना पड़ता है।

बौद्ध धर्म बीच के रास्ते के सिद्धांत का माननेवाल है। यहांतक कि 'निर्वाण' के बारे में जो खयाल है, वह भी ऐसा नहीं कि उसे एक तरह की शून्यता समझे, जैसाकि कभी-कभी समझा जाता है। यह एक निश्चित स्थिति है, लेकिन चूंकि यह मनुष्य के विचारों से परे की वस्तु है, इसलिए इसके वर्णन में नकारात्मक शब्द प्रयोग किये गए हैं। अगर बौद्ध-धर्म, जो हिंदुस्तानी विचार और संस्कृति की उपज का एक नमूना है, एक नकारात्मक या जिंदगी से इन्कार करनेवाला सिद्धांत होता, तो अवश्य ही उसका इस तरह का प्रभाव उन करोड़ों लोगों पर पड़ा होता, जो उसके माननेवाले हैं। लेकिन, वास्तव में, बौद्ध धर्मवाले देशों

में हमें इसके विरुद्ध प्रमाण मिलते हैं, और चीनी लोग इस बात की जीती-जागती मिसाल हैं कि जीवन को स्वीकार करना किसे कहते हैं।

७ : समन्वय और समझौता : वर्ण-व्यवस्था का आरंभ

आर्यों के हिंदुस्तान में आने ने नये प्रश्न खड़े किये, जो राष्ट्रीय और राजनैतिक, दोनों ही थे। हारी हुई जाति, यानी द्रविड़ों के पीछे सभ्यता की एक लंबी पृष्ठभूमि, थी लेकिन इसमें जरा भी शक नहीं कि आर्य लोग अपने को उनसे बहुत ही ऊंचा समझते थे और दोनों के बीच एक चौड़ी खाई थी। फिर कुछ पिछड़ी हुई आदिम जातियां भी थीं, जो या तो जंगलों में रहा करती थीं या खानाबदोश थीं। जातियों की इस कशमकश और आपस की प्रतिक्रिया से ही वर्ण-व्यवस्था का आरंभ हुआ और बाद की सदियों में इसने हिंदुस्तानियों के जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। शायद यह न आर्यों की चीज थी, न द्रविड़ों की। यह अलग-अलग जातियों को एक सामाजिक संगठन के अंदर ले आने की कोशिश थी—उस समय की जो भी स्थिति थी, उसे एक संगत रूप देने का प्रयास था। बाद में इसकी वजह से बड़ी पस्ती आई और आज भी यह एक बोझ और शाप के रूप में मौजूद है। लेकिन बाद की कसौटियों और विकास के आधार पर इसके बारे में निर्णय करना उचित न होगा।

जाति या वर्ण का आरंभ आर्यों और अनार्यों के भेद से हुआ। अनार्यों में भी दो भेद थे—एक तो द्रविड़ जातियां थीं; दूसरे यहां की आदिम जातियां थीं। आरंभ में आर्यों में केवल एक वर्ग था और धंधों का शायद ही बटवारा रहा हो। 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति ऐसी धातु से है जिसका अर्थ 'धरती का जोतना' है। और सभी आर्य खेतिहर थे। खेती एक सम्मानित धंधा समझा जाता था। धरती के जोतनेवाले पुरोहित, सिपाही, व्यापारी, सभी होते, और पुरोहितों को कोई विशेष अधिकार नहीं हासिल थे। वर्ण-भेद, जिसका उद्देश्य आर्यों को अनार्यों से अलग करना था, अब अपना यह प्रभाव लाया कि स्वयं आर्यों में, ज्यों-ज्यों धंधे बढ़े और इनका आपस में बटवारा हुआ, त्यों-त्यों नये वर्गों ने वर्ण

या जाति का रूप ले लिया।

इस तरह, ऐसे काल में जबकि विजेताओं का यह नियम था कि हारे हुए लोगों को या तो दास बना लेते, या उन्हें बिल्कुल मिटा देते थे, वर्ण-व्यवस्था ने एक शांतिपूर्ण हल पेश किया और बढ़ते हुए धंधों के बटवारे की आवश्यकता ने इसमें मदद पहुंचाई। समाज में दर्जे स्थापित हो गए—किसान जनता में से वैश्य बने, जिनमें किसान, कारीगर और व्यापारी लोग थे; क्षत्रिय वे हुए, जो शासन करते थे या युद्ध करते थे; ब्राह्मण वे बने, जो पुरोहिती करते थे, विचारक थे, जिनके हाथ में नीति की बागडोर थी और जिनसे यह आशा की जाती थी कि वह जाति के आदर्शों की रक्षा करेंगे। इन तीनों वर्णों से नीचे शूद्र थे, जो मजदूरी करते थे और ऐसे धंधे करते थे जिनमें विशेष जानकारी की आवश्यकता नहीं होती और जो किसानों से अलग थे। आदिम निवासियों में से भी बहुत-से इस समाज में मिला लिये गए और उन्हें शूद्रों के साथ इस सामाजिक व्यवस्था में सबसे नीचे का दर्जा दिया गया। यह मिला लेने का काम बराबर जारी रहा। इस वर्ण-विभाजन में अदला-बदली होती रही और सख्ती के साथ तो भेद बाद में स्थापित हुए। शायद शासन करनेवाले वर्ण को हमेशा बड़ी स्वतंत्रता रही, और कोई भी व्यक्ति, जो लड़कर या दूसरी तरह शक्ति अपने हाथ में कर लेता था, वह यदि चाहे तो क्षत्रियों में सम्मिलित हो सकता था और पुरोहितों द्वारा अपनी वंशावली तैयार करा सकता था, जिसमें कि उसका संबंध किसी प्राचीन आर्य शूरवीर से दिखा दिया जाता।

आर्य शब्द का धीरे-धीरे कोई जातीय अभिप्राय न रह गया और इसके अर्थ 'कुलीन' के हो गए। इसी तरह अनार्य के अर्थ यह हुए कि जो कुलीन न हो, और यह शब्द आमतौर पर जंगल में रहनेवालों और खानाबदोश जातियों के लिए प्रयोग में आता।

हिंदुस्तानियों में विश्लेषण करने की एक अद्भुत बुद्धि रही है और इसने न केवल विचारों, बल्कि जीवन के कामों को अलग-अलग टुकड़ों में बांटने के लिए उत्साह दिखाया है। आर्यों ने समाज को तो चार मुख्य हिस्सों में बांटा ही, वैयक्तिक जीवन का भी इसने चार टुकड़ों या

अवस्थाओं में बटवारा किया है---पहली अवस्था ब्रह्मचर्य की है, जबकि आदमी बढ़कर युवा होता है, विद्या सीखता है ज्ञान हासिल करता ह और आत्म-संयम का अभ्यास करता है: दूसरी अवस्था गृहस्थ की है, जबकि वह दुनियादारी में लगता है; तीसरी अवस्था बड़े-बूढ़े व्यवहार-कुशल वानप्रस्थ की है, जिसमें कि उसने तटस्थता और सम-तौल प्राप्त कर लिया है और अपने को समाज-सेवा के कामों में, बिना निजी लाभ की इच्छा के, वह लगा सकता है अंतिम अवस्था संन्यास की है, जिसमें वह दुनिया से बिल्कुल अलग-थलग हो जाता है और दुनिया के धंधों को छोड़ देता है। इस तरह से आर्यों ने, आदमी में साथ-साथ रहनेवाली दो विरोधी प्रवृत्तियों में भी समझौता कायम किया---अर्थात् उस प्रवृत्ति में, जो जीवन के प्रति प्रवृत्त होती है और उसमें जो निवृत्ति के उन्मुख है।

हिंदुस्तान में, ब्राह्मण-वर्ग ने, विचारकों और दार्शनिकों को उत्पन्न करने के अतिरिक्त स्वयं शक्ति प्राप्त कर ली थी, इस तरह अपने को सुरक्षित करके पुरोहितों ने अपने निहित स्वा र्थों की रक्षा करने की ठान ली थी। लेकिन यह सिद्धांत भिन्न-भिन्न रूप में हिंदुस्तानी जीवन पर गहरा प्रभाव डालता रहा और आदर्श हमेशा यह रहा कि विद्वान् और दयावान , भले और संयमी, और दूसरों के लिए आत्म-त्याग करने वालों का आदर किया जाय। ब्राह्मण-वर्ग में, अतीत-काल में अधिकारी-वर्ग की सभी बुराइयां रही हैं और इसमें से बहुतेरे न योग्य हुए हैं, न भले। फिर भी आम लोगों में उनका आदर बना रहा है, इसलिए नहीं कि उनके पास धन इकट्ठा हो गया था, बल्कि इसलिए कि उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी बहुत से योग्य लोगों को उत्पन्न किया था, जिन्होंने अपने त्याग द्वारा जनता की और समाज की सेवाएं की थीं। अपने विशेष लोगों के कारनामों से पूरे वर्ग ने हर युग में लाभ उठाया है, लेकिन जनता ने आदर किया है गुणों का, न कि पदों का ; बहुत-से उदाहरण हैं इस बात के, कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त लोगों का---यहांतक कि दलित-वर्ग के लोगों का इतना आदर हुआ है कि उन्हें संतों का पद तक दिया गया है।

आज भी, इस पैसे के युग में, इस परंपरा का प्रभाव स्पष्ट

दिखाई देता है, और इसीकी वजह से गांधीजी (जो ब्राह्मण नहीं हैं) आज हिंदुस्तान के सबसे बड़े नेता बन गए हैं और बिना किसी सरकारी पद के या धन के जोर के, आज करोड़ों दिलों पर उनका सिक्का जमा हुआ है। शायद एक राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और चेतन या अचेतन उद्देश्य की यह एक अच्छी कसौटी है कि किस तरह के नेता को वह स्वीकार करती है। पुरानी हिंदुस्तानी सभ्यता, या भारतीय आर्य-संस्कृति में धर्म का विचार एक केंद्रीय विचार था। और धर्म के अर्थ मत या मजहब से कुछ अधिक थे। इसमें दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य के पालन का भी विचार रहा है।

८ : हिंदुस्तानी संस्कृति का अटूट क्रम

इस तरह, आरंभ के दिनों में, हम एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का उदय देखते हैं, जो बाद के युगों में बहुत फूली-फली और पनपी और जो अनेक परिवर्तनों के उपस्थित होने पर भी बनी रही। बुनियादी आदर्श और मुख्य विचार अपना रूप ग्रहण करते हैं और साहित्य और दर्शन, कला और नाटक और जीवन के और धंधे इन आदर्शों से और लोकमत से प्रभ वित होते हैं, जो बाद में उगकर बढ़ते ही रहे और आजकल की वर्ण-व्यवस्था के रूप में उन्होंने सारे समाज और सभी चीजों को जकड़ लिया। यह व्यवस्था एक विशेष युग की परिस्थितियों में बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उसमें सम-तौल पैदा करना था, लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिए और मानवी मस्तिष्क के लिए बंदीघर बन गई। अंत में उन्नति का मूल्य चुकाकर संरक्षा खरीदी गई।

फिर भी बहुत दिनों तक यह व्यवस्था बनी रही, और सभी दिशाओं में उन्नति करने की प्रेरणा इतनी प्रबल थी कि उस व्यवस्था के चौखटे के भीतर भी यह सारे हिंदुस्तान में और पूर्वी समुद्रों तक फैली और इसकी पायदारी ऐसी थी कि यह आक्रमणों के धक्के बार-बार सहकर भी जीवित रही। यह तीन-चार हजार वर्षों का, संस्कृति का विकास और अटूट क्रम एक अद्भुत बात है। प्रसिद्ध विद्वान् और प्राच्यविद्

मैक्समूलर ने इसपर जोर दिया है और लिखा है—"वास्तव में हिंदू विचार के सबसे हाल के और सबसे पुराने रूपों में एक अटूट क्रम मिलता है और यह तीन हजार साल से अधिक समय तक बना रहा है।" बहुत जोश के साथ उन्होंने (१८८२ में) कहा था—"अगर हम सारे संसार की खोज करें—ऐसे देश का पता लगाने के लिए, जिसे कि प्रकृति ने सबसे संपन्न, शक्तिशाली और सुंदर बनाया है—जो कुछ हिस्सों में धरती पर स्वर्ग की तरह है—तो मैं हिंदुस्तान की ओर संकेत करूंगा। अगर मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के तले मनुष्य के मस्तिष्क ने अपने कुछ सबसे चुने हुए गुणों का विकास किया है, जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सबसे अधिक गहराई के साथ सोच-विचार किया है, और उनमें से कुछ के ऐसे हल प्राप्त किये हैं, जिनपर उन्हें भी ध्यान देना चाहिए जिन्होंने कि अफलातून और कांट को पढ़ा है—तो मैं हिंदुस्तान की ओर संकेत करूंगा। और अगर मैं अपने से पूछूं कि कौनसा ऐसा साहित्य है जिससे हम यूरोपवाले, जो बहुत-कुछ केवल यूनानियों और रोमनों और एक सेमेटिक जाति के, यानी यहूदियों के, विचारों के साथ-साथ पले हैं, वह सुधार प्राप्त कर सकते हैं जिसकी कि हमें अपने जीवन को अधिक पूर्ण, अधिक विस्तृत और अधिक व्यापक बनाने के लिए आवश्यकता है—न केवल इस जीवन की दृष्टि से, बल्कि एक एकदम बदले हुए और सदा बने रहनेवाले जीवन की दृष्टि से—तो मैं हिंदुस्तान की ओर संकेत करूंगा।"

लगभग आधी सदी बाद, रोम्यां रोलां ने उसी स्वर में लिखा है—"अगर संसार की सतह पर कोई एक देश है जहां कि जीवित लोगों के सभी स्वप्नों को, उस प्राचीन काल से स्थान मिला है जबसे कि मनुष्य ने अस्तित्व का स्वप्न आरंभ किया, तो वह हिंदुस्तान है।"

९ : उपनिषद्

उपनिषद्, जिनका समय ईसा से ८०० वर्ष पहले से लेकर है, हमें भारतीय-आर्यों के विचार के विकास में एक पग आगे ले जाते हैं, और यह बड़ा लंबा पग है। आर्य लोगों को बसे हुए अब काफी समय बीत चुका

है और एक पायदार और सुसंपन्न सभ्यता, जिसमें पुराने और नये का मेल हो चुका है, बन गई है। इसमें आर्यों के विचार और आदर्श प्रभाव रखते हैं, लेकिन इनकी पृष्ठभूमि में पूजा के जो रूप हैं, वे और भी पहले के तथा आदिम हैं। वेदों का नाम आदर से लेकिन, एक मीठे व्यंग के भाव से लिया जाता है। वैदिक देवताओं से अब संतोष नहीं रह जाता और पुरोहितों के कर्म-कांड की हंसी उड़ाई जाती है। लेकिन अतीत से नाता तोड़ लेने का प्रयास नहीं होता: उसे वह स्थान समझा जाता है जहां से उन्नति की मंजिल आरंभ होती है।

उपनिषद् छान-बीन की, मानसिक साहस की और सत्य की खोज के उत्साह की भावना से भर-पूर हैं। यह सही है कि यह सत्य की खोज अ धुनिक विज्ञान के प्रायोगिक ढंग से नहीं हुई है, फिर भी जो ढंग ग्रहण किया गया है उसमें वैज्ञानिकता का एक अंश है। हठवाद को दूर कर दिया गया है। उनमें बहुत-कुछ ऐसा है जो साधारण है और जिसका आजकल हम लोगों के लिए कोई अर्थ या प्रसंग नहीं। विशेष बल आत्म-बोध या आत्मा और परमात्मा के ज्ञान पर दिया गया है और इन दोनों को मूल में एक ही बताया गया है। बाहरी दुनिया या वस्तु-जगत को असत् नहीं बताया गया है, बल्कि सापेक्ष-रूप में सत् और भीतरी सत्य का एक पहलू बताया गया है।

उपनिषदों में बहुत-सी अस्पष्ट बातें हैं और उनकी विविध टीकाएं हुई हैं। लेकिन यह दार्शनिकों और विद्वानों के जांच करने की चीज हैं। साधारण प्रवृत्ति अद्वैतवाद की ओर है और इस सारे दृष्टिकोण का प्रकट उद्देश्य यह जान पड़ता है कि उस काल के जो आपस के कड़े विवाद और भेद-भाव रहे हैं, उन्हें कम किया जाय। यह समन्वय का रास्ता रहा है। जादू-टोने में दिलचस्पी को और इसी तरह दैवी बातों के ज्ञान को बढ़ावा देने से रोका गया है, और बिना सच्चे ज्ञान के पूजा-पाठ और कर्म-कांड को व्यर्थ बताया गया है। कहा गया है––"इनमें लगे हुए लोग, अपने को समझदार और विद्वान् मानते हुए, इस तरह भटकते रहते हैं जैसे अंधे को अंधा रास्ता दिखा रहा हो, और यह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाते।" वेदों तक को नीचे दर्जे का ज्ञान बताया गया है;

भीतरी मन के प्रकाश को ऊंचा ज्ञान कहा है। बिना संयम के दार्शनिक ज्ञान के विरुद्ध सतर्क किया गया है। और समाज के धंधों और आत्मा-संबंधी बातों से सामंजस्य पैदा करने का बराबर प्रयत्न हुआ है। जीवन ने जो कर्त्तव्य ऊपर डाले हैं, उनका पालन होना ही चाहिए, लेकिन तट-स्थता का भाव रखते हुए, ऐसा कहा गया है।

व्यक्तिगत पूर्णता की नीति पर कदाचित् इतना अधिक जोर दिया गया कि सामाजिक दृष्टिकोण को क्षति पहुंची। उपनिषदों में कहा गया है कि "आत्मा से बढ़कर कोई वस्तु नहीं।" यह समझा गया होगा कि समाज में पायदारी आ गई है, इसलिए मनुष्य का मस्तिष्क व्यक्तिगत पूर्णता का बराबर ध्यान किया करता था और इसकी खोज में उसने आकाश और हृदय के अंतस्तम कोनों को छान डाला। यह पुराना हिंदु-स्तानी दृष्टिकोण कोई संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण न था, यद्यपि इस बात का अवश्य ध्यान रहा होगा कि हिंदुस्तान सारे संसार का केंद्र है—उसी तरह जिस तरह कि चीन, यूनान और रोम ने अपने बारे में विभिन्न समयों में विचार किया है। महाभारत में कहा गया है—"यह सारा मर्त्यलोक एक अन्योन्याश्रित संगठन है।"

जिन प्रश्नों पर उपनिषदों में विचार किया गया है, उनके आधि-भौतिक पहलुओं को समझना मेरे लिए कठिन है, लेकिन इन प्रश्नों पर मनन करने का जो ढंग है, उसने मुझपर प्रभाव डाला है, क्योंकि यह हठवाद या अंध-विश्वास का ढंग नहीं है। यह ढंग धार्मिक न होकर दार्श-निक है। विचारों के कस-बल को, जांच की भावना को, और तर्क की पृष्ठ-भूमि को मैं पसंद करता हूं। वर्णन के ढंग में कसाव है। यह प्रायः गुरु और चेले के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में मिलता है, और यह अनुमान किया गया है कि उपनिषद् व्याख्यानों की एक तरह के स्मृति-पत्र हैं, जिन्हें गुरु ने तैयार किया है या चेलों ने टांक लिया है। प्रोफेसर एफ० डब्ल्यू० टामस अपनी किताब 'दि लीगेसी आव् इंडिया' (हिंदुस्तान की देन) में कहते हैं—"उपनिषदों का जो विशेष गुण है और जिसके कारण से उनमें मानवी आकर्षण है, वह यह है कि उनके स्वर में बड़ी निष्कप-टता है, वह इस तरह का है मानो मित्र आपस में किसी गहरे प्रश्न पर

सोच-विचार कर रहे हैं।"

उपनिषदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें सचाई पर बड़ा बल दिया गया है। "सचाई की सदा जीत होती है, झूठ की नहीं। सचाई के रास्ते से ही हम परमात्मा तक पहुंच सकते हैं।" और उपनिषदों में आई हुई यह प्रार्थना प्रसिद्ध है—"असत् से मुझे सत् की ओर ले चल! अंधकार से मुझे प्रकाश की ओर ले चल! मृत्यु से मुझे अमरत्व की ओर ले चल!"

हमें बार-बार एक बेचैन मस्तिष्क की झांकी मिलती है, ऐसे मस्तिष्क की, जो जिज्ञासा और छानबीन में लगा हुआ है। "किसकी आज्ञा से मन अपने विषय पर उतरता है? किसकी आज्ञा से जीवन, जो सबसे पहली वस्तु है, आगे बढ़ता है? किसकी आज्ञा से मनुष्य यह वचन कहते हैं? किस देवता ने आंख और कान दिये हैं?" और फिर, "वायु शांत क्यों नहीं रहती? आदमी के मन को चैन क्यों नहीं मिलता? क्यों और किसकी खोज में जल बहता रहता है और एक क्षण नहीं ठहरता?" आदमी बराबर एक साहसपूर्ण यात्रा में लगा हुआ है, उसके लिए न कहीं दम लेना है और न उसकी यात्रा का अंत है। ऐत्तरेय ब्राह्मण में हमारी इस अनंत यात्रा के बारे में एक मंत्र है और इसके हर श्लोक के अंत में है, 'चरैवेति' 'चरैवेति'—'इसलिए, हे यात्री चलते रहो, चलते रहो।'

इस खोज के बारे में कोई विनय की भावना नहीं है—वैसा विनय जैसाकि धर्मों में एक सर्व-शक्तिमान् परमात्मा के प्रति दिखाया जाता है। यहां हमें मन की परिस्थिति के ऊपर विजय मिलती है। "मेरा शरीर राख हो जायगा और मेरी सांस इस चंचल और अमर वायु में मिल जायगी, लेकिन मैं और मेरे कर्मों का यह अंत नहीं। हे मन, इस बात का सदा ध्यान रख!" सवेरे की एक प्रार्थना में सूर्य को इस तरह संबोधन किया गया है—"हे दैदीप्यमान सूर्य, मैं वही पुरुष हूं जो तुझे ऐसा बनाता है!" कितना ऊंचा आत्म-विश्वास है!

उपनिषदों में एक प्रश्न है जिसका बहुत अनोखा, लेकिन मार्के का उत्तर दिया गया ह। प्रश्न है कि "यह विश्व क्या है? यह कहां से

उत्पन्न होता है और कहां जाता है ?" और उत्तर है,—"स्वतंत्रता से इसका जन्म है, स्वतंत्रता में ही वह टिका है और स्वतंत्रता में ही वह लय हो जाता है ।" इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है, मैं नहीं समझ सकता, सिवाय इसके कि उपनिषदों की रचना करनेवालों में स्वतंत्रता के विचार के लिए बड़ा उत्साह था और वे सबकुछ उसीके पैराये में देखना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद इस पक्ष पर सदा बल दिया करते थे।

ब्लूमफील्ड का कहना है कि "विरोधी बौद्धमत को लिये-दिये, हिंदू-विचार का कोई ऐसा मुख्य रूप नहीं है जिसकी जड़ उपनिषदों में न हो।

"प्राचीन हिंदुस्तानी विचार ईरान के रास्ते यूनान तक पहुंचा था और इसने वहां के कुछ विचारकों और दार्शनिकों पर प्रभाव डाला था। बहुत बाद में, प्लोटिनस ईरानी और हिंदुस्तानी दर्शन को पढ़ने के लिए पूरब में आया और उसपर विशेषकर उपनिषदों के रहस्यवाद का प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि इन विचारों में से बहुत से प्लोटिनस से संत आगस्टाइन तक पहुंचे थें, और उसके द्वारा इन्होंने आज के ईसाई-धर्म पर प्रभाव डाला है।"

पिछली डेढ़ सदी में हिंदुस्तानी दर्शन को जो यूरोप ने फिर से खोज निकाला, उसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप के दार्शनिकों और विचारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस सिलसिले में, निराशावादी शोपेनहार का कथन प्रायः उद्धृत किया जाता है : "(उपनिषदों के) हर एक शब्द से गहरे, मौलिक और ऊंचे विचार उठते हैं, और इन सब पर एक ऊंची, पवित्र और उत्सुक भावना छाई हुई है. . . सारे संसार में कोई ऐसी रचना नहीं जिसका पढ़ना . . . . इतना उपयोगी, इतना ऊंचा उठानेवाला हो जितना कि उपनिषदों का . . . . (यह) सबसे ऊंचे ज्ञान की उपज है . . . . एक-न-एक दिन सारी दुनिया का इनपर विश्वास हो कर रहेगा।" और फिर वह लिखता है : "उपनिषदों के पढ़ने से मेरे जीवन को शांति मिली है; यही मेरी मृत्यु के समय की सांत्वना बनेगा।" इसपर लिखते हुए मैक्समूलर कहते हैं "शोपेनहार कदापि ऐसा आदमी न था कि बहकी हुई बातें लिखे, या तथाकथित रहस्यवादी या अधकचरे

विचारों पर वाहवाह करने लगे। और यह कहते हुए न मुझे लज्जा या डर मालूम पड़ता है कि वेदांत के बारे में उसका जो उत्साह था, उसमें मैं शरीक हूं और अपने जीवन में बहुतकुछ मुझे इससे मदद मिली है और मैं इसका ऋणी हूं।"

एक दूसरी जगह मैक्समूलर लिखते हैं—"उपनिषद् वेदांत दर्शन का स्रोत है जिसमें कि मानवी चिंतन अपने शिखर पर पहुंच गया जान पड़ता है।" "मेरी सबसे आनंद की घड़ियां वेदांत की पुस्तकों के पढ़ने में बीतती हैं। मेरे लिए वह सवेरे के प्रकाश-जैसी, पहाड़ों की स्वच्छ वायु-जैसी हैं—एक बार समझ में आ जाने पर उनमें कितनी सादगी, कितनी सचाई मिलती है!"

लेकिन शायद उपनिषदों की और उसके बाद की पुस्तक भगवद्-गीता की मुक्तकंठ से जैसी तारीफ आइरिश कवि ए० ई० (जी० डब्ल्यू० रसेल) ने की है, वैसी दूसरे ने नहीं की—"इस काल के लोगों में, गेटे, वर्डस्वर्थ, इमर्सन और थोरो में यह ज्ञान और जीवन-शक्ति कुछ अंशों में मिलेगी, लेकिन जो कुछ भी इन्होंने कहा है, और उससे बहुत अधिक हमें पूरब के महान और पवित्र ग्रंथों में मिलेगा। भगवद्गीता और उपनिषदों में, सभी बातों के बारे में, ज्ञान की ऐसी दिव्य पूर्णता मिलती है कि मुझे लगता है कि उनके रचनेवालों ने हजारों भाव-भरे पुराने जन्मों में पैठ कर ही, उन जन्मों में जिनमें कि छाया के लिए और छाया के साथ संघर्ष होता रहा है—इतने अधिकार के साथ उन बातों को लिखा है जिन्हें आत्मा निश्चित समझती है।"

१० : व्यक्तिवादी दर्शन के लाभ और हानियां

यह स्पष्ट है कि उपनिषदों की रचना करनेवालों के विचार, और वह ऊंचे दर्जे का मानसिक वातावरण, जिसमें कि वे रहते थे, एक छोटे, चुने हुए लोगों के दायरे तक सीमित थे। आम जनता की समझ से ये बिल्कुल बाहर थे। ऐसे लोगों की संख्या, जो रचनात्मक काम करते हैं, हमेशा थोड़ी ही होती है, लेकिन अगर बड़ी संख्या के लोगों से उनके विचार मिलते रहे और यह अल्पसंख्या इस बड़ी संख्या को ऊपर उठाने और

उसे बढ़ाने की कोशिश में लगी रहे, इस तरह कि दोनों के बीच की खाई कम हो जाय, तो एक पायदार और उन्नतिशील संस्कृति पैदा होती है।

मेरे लिए, और अधिकतर औरों के लिए भी, उपनिषदों के जमाने की तस्वीर सामने लाना, और उस समय क्या-क्या शक्तियां काम कर रही थीं, इनकी जांच-पड़ताल करना, कठिन है। फिर भी मेरा विचार है कि मुट्ठी-भर विचारकों और आंख मूंदकर चलनेवाली बहुत बड़ी जनता के बीच गहरे बौद्धिक और सांस्कृतिक भेद के बावजूद, उन दोनों के बीच एक लगाव था, कम-से-कम कोई दिखनेवाली खाई नहीं थी। जिस तरह से उस वक्त के समाज में अलग-अलग दर्जे थे, उसी तरह मानसिक दर्जे भी थे और इन्हें स्वीकार कर लिया गया था और उसकी व्यवस्था भी कर दी गई थी। इससे समाज में कुछ मेल पैदा हो गया था और झगड़े-फिसाद से बचत हो गई थी। उपनिषदों के नये विचार को भी, आम लोगों के लिए इस तरह से समझाया जाता था कि वह प्रचलित विचारों से, और अंध-विश्वासों से मिल-जुल जाता था, और इस तरह वह अपने विशेष अर्थ को बहुतकुछ खो बैठता था। समाज में जो दर्जे कायम हो चुके थे, उन्हें नहीं छोड़ा जाता था। बल्कि उनकी रक्षा की जाती थी। अद्वैतवाद ने, धार्मिक विषयों में एकेश्वरवाद का रूप ले लिया था, और इससे भी नीचे स्तर के विश्वासों और पूजा के प्रकारों को न केवल गवारा किया जाता था, बल्कि यह समझा जाता था कि विकास की एक विशेष सीढ़ी के लिए ये उचित भी हैं।

इस तरह उपनिषदों की विचारधारा, जनता में बहुत ज्यादा फैली नहीं और चंद विचारकों और आम लोगों के बीच बौद्धिक भेद और भी स्पष्ट हो गया। समय पाकर इसने नये आंदोलन उत्पन्न किये। जड़वादी दर्शन की, बुद्धिवाद की और अनीश्वरवाद की प्रबल लहरें उठीं। और फिर इसके भीतर से बौद्धधर्म और जैनधर्म पैदा हुए, और 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य रचे गए, और इनमें एक बार फिर इस बात की कोशिश की गई कि विरोधी मतों और विचार के प्रकारों में समन्वय स्थापित हो। लोगों की सृजन-शक्ति, बल्कि सृजन-बुद्धिवाले थोड़े-से लोगों की सृजन-शक्ति, इन कालों में,

बहुत साफ ढंग से सामने आती है, और फिर इन थोड़े से लोगों में और बड़ी जनता के बीच एक लगाव स्थापित हो गया जान पड़ता है। कुल मिलाकर, दोनों मिल-जुलकर आगे बढ़ते हैं।

इस तरह से, एक-एक करके कई जमाने आते हैं जबकि विचारों और कार्य के क्षेत्र में, साहित्य में, नाटक में, मूर्तिकला और वास्तु कला में, और हिंदुस्तान की सीमा से दूर संस्कृति, धर्म और उपनिवेशों के फैलाने के साहसी कामों में, रचनात्मक प्रयास फूट पड़ते हैं। इन कालों में झगड़े-फिसाद के समय आते हैं और इनके कारण कुछ भीतरी बातें होती हैं और कुछ बाहर से होनेवाली छेड़-छाड़ भी। लेकिन अंत में यह स्थिति वश में आती है और रचनात्मक स्फूर्ति का जमाना फिर लौटता है। ऐसा अंतिम समय, जिसमें कि बहुत तरह के काम हुए, वह शानदार समय था जो ईसा से बाद की चौथी सदी में शुरू हुआ। ईसा के १००० साल बाद तक, या पहले-ही, हिंदुस्तान में भीतरी ह्रास के चिह्न प्रकट हो जाते हैं, यद्यपि पुरानी कलात्मक लहर जारी रहती है और बहुत सुंदर चीजें तैयार होती रहती हैं। नई जातियां आती हैं, जिनकी भूमिका दूसरी-ही होती है, और यह हिंदुस्तान के थके हुए दिल और दिमाग के लिए एक नया शौक ले आती हैं, और इस टक्कर का नतीजा यह भी होता है कि नये मसले उठते हैं और उनके हल के उपाय किये जाते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय आर्यों के गहरे व्यक्तिवाद ने, अंत में अच्छे और बुरे, दोनों ही परिणाम दिखाये, जो उनकी संस्कृति से उपजे। इसने बहुत ऊंचे टप्पे के लोग पैदा किये, और यह बात इतिहास के किसी एक विशेष समय तक सीमित न रही, बल्कि हरएक युग में और बार-बार ऐसा होता रहा। इसने पूरी संस्कृति को एक आदर्शवादी और नैतिक पृष्ठभूमि दी, जो बनी रही और अभी बनी हुई है—चाहे हमारे व्यवहार पर अधिक प्रभाव न डाल रही हो। इस पृष्ठभूमि की मदद से, और ऊंचे लोगों के उदाहरणों के बल पर, उन्होंने समाज की बनावट को स्थिर रखा, और जब-जब उसके टूटने का भय हुआ, तब-तब उसे सभाला। उन्होंने सभ्यता और संस्कृति के अचरज पैदा करनेवाले फूल खिलाये, और यद्यपि वे ऊंचे दायरों तक सीमित थे, फिर भी, हो-न-हो,

वे कुछ हद तक जनता में भी फैले। दूसरे मतों और रास्तों के लिए हद दर्जे की रवादारी दिखाकर वे उन झगड़ों को बचाते रहे, जिन्होंने अक्सर समाज को टूक-टूक कर डाला है, और इस तरह, उन्होंने बराबर किसी-न-किसी तरह का सम-तौल बनाये रखा। एक बड़े संगठन के भीतर, लोगों को अपने पसंद की जिंदगी बसर करने की स्वतंत्रता देकर, उन्होंने एक प्राचीन और तजुर्बेकार जाति के लोगों की बुद्धिमानी दिखाई है। ये सभी कारनामे बड़े मारके के रहे हैं।

लेकिन इसी व्यक्तिवाद का यह नतीजा हुआ कि मनुष्य के सामाजिक पहलू पर और समाज के प्रति मनुष्य के कर्त्तव्य पर कम ध्यान दिया जाने लगा। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन बट और बंध गया था और दर्जों में बंटे हुए समाज में अपने तंग दायरे के अंदर वह कर्त्तव्यों और दायित्वों की एक गठरी बनकर रह गया था। पूरे समाज की न उसे कल्पना थी, न इस समाज के प्रति उसका कोई कर्त्तव्य शेष रहा था, और इस बात की कोई कोशिश न की गई कि वह समाज से अपना बल प्राप्त करे।

एक और अजीब बात सामने आती है। सभी तरह के विश्वासों और व्यवहारों, अंध-विश्वासों और मूर्खताओं के प्रति जो रवादारी दिखाई गई थी, उसके हानिकारक पहलू भी थे, क्योंकि इसने बहुत-सी बुरी रस्मों को जड़ पकड़ लेने दी और परंपरा के उस बोझ को उखाड़कर फेंकने से रोका, जो हमारी बाढ़ को रोक रहा था। पुरोहितों के बढ़ते हुए दल ने इस हालत से अपना अलग ही फायदा उठाया और आम लोगों के अंध-विश्वास की नींव पर अपने स्वार्थों के गढ़ बना लिये।

११ : पदार्थवाद

हमारे बड़े दुर्भाग्यों में एक यह है कि हम यूनान में, हिंदुस्तान में, और सभी जगह, दुनिया के पुराने साहित्य का एक बड़ा हिस्सा खो बैठे हैं। शायद यह होना ही था, क्योंकि आरंभ में पुस्तकें ताड़पत्र पर या भोजपत्र पर लिखी जाती थीं और इनके छिलके बहुत आसानी से उचड़ जाते हैं, और कागज पर लिखने की प्रथा बाद में शुरू हुई। किसी भी

पुस्तक की चंद प्रतियों से अधिक न होतीं, और अगर वे नष्ट हो जातीं, तो वह रचना ही गुम हो जाती, और उसका पता हमें केवल उन हवालों या उद्धरणों से मिलता, जो उनके बारे में और पुस्तकों में होते। फिर भी पचास-साठ हजार संस्कृत की हाथ की लिखी पुस्तकों या उनके रूपांतरों का पता लग चुका है और उनकी सूची बन चुकी है, और नये-नये ग्रंथ बराबर मिलते जा रहे हैं। हिंदुस्तान की बहुत-सी पुरानी पुस्तकें अबतक हिंदुस्तान में मिली ही नहीं हैं, लेकिन उनके अनुवाद चीनी या तिब्वती भाषा में मिले हैं। हाथ की लिखी पुरानी पुस्तकों की धार्मिक संस्थाओं के भंडारों में, मठों में और निजी संग्रहों में अगर संगठित रूप में खोज की जाय, तो शायद बहुत अच्छा परिणाम निकले।

उन पुस्तकों में, जो बिलकुल खो गईं हैं, पदार्थवाद का पूरा साहित्य है, जो शुरू के उपनिषदों के जमाने से ठीक बाद रचा गया था। इस साहित्य के जो हवाले अब मिलते हैं, वे केवल उन पुस्तकों में हैं जिनमें कि उनपर टीका-टिप्पणी की गई है और जिनमें पदार्थवादी सिद्धांतों के खंडनके लंबे प्रयत्न हैं। इसमें तो कोई शक ही नहीं है कि पदार्थवादी दर्शन का हिंदुस्तान में सदियों तक चलन रहा है, और अपने समय में इसका लोगों पर गहरा असर रहा है। ईसा से पहले की चौथी सदी में राजनैतिक और आर्थिक संगठन के बारे में कौटिल्य की जो प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थ-शास्त्र' है उसमें इसकी चर्चा हिंदुस्तान के विशिष्ट दर्शनों में की गई है।

इसलिए इस दर्शन के बारे में जानने के लिए हमें उन आलोचकों और व्यक्तियों पर भरोसा करना पड़ता है जिनकी रुचि इसे गिराने में रही है, फिर भी इसके खंडन में जो उत्साह और जोश इन आलोचकों ने दिखाया है, उसीसे पता चलता है कि उन लोगों की दृष्टि में इसका कितना महत्व था। संभव जान पड़ता था कि पदार्थवाद के साहित्य का अधिक अंश, बाद के कालों में, पुरोहितों ने या कट्टर धर्मावलंबियों ने नष्ट कर दिया हो।

पदार्थवादियों ने विचार, धर्म और अध्यात्म में, प्रमाण का और सभी निहित स्वार्थों का विरोध किया। उन्होंने वेदों की, पुरोहिताई की, परंपरा से आये हुए विश्वासों की, निंदा की और यह घोषित किया

कि विश्वास स्वतंत्र होना चाहिए और उसे पहले से मान ली गई बातों या केवल पुराने जमाने के प्रमाण का भरोसा न कर लेना चाहिए। सभी तरह के मंत्र-तंत्र और अंध-विश्वास की उन्होंने बुराई की। उनका आम रवैया बहुत-कुछ आज के पदार्थवादियों-जैसा था, ये अपने को बीते हुए जमाने की जंजीरों और बोझ से, जो चीजें नहीं दिखाई देतीं, उनकी कल्पना से, और खयाली देवताओं की पूजा से मुक्त करना चाहते थे। केवल उसका अस्तित्व तो माना जा सकता था जिसेकि सीधे-सीधे देखा जा सके, इसके अलावा और सभी अनुमानों के सच होने की उतनी ही संभावना थी जितनी की झूठ होने की। इसलिए अपने विभिन्न रूपों में पदार्थ के, और दुनिया के ही अस्तित्व को माना जा सकता था। मन और बुद्धि और और सभी चीजें इन्हीं बुनियादी तत्वों से बनी हैं। प्रकृति के व्यापार आदमी के द्वारा स्थापित मूल्यों की परवा नहीं करते, और अच्छे या बुरे से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। नैतिक मान मनुष्य द्वारा स्थापित रूढ़िमात्र हैं।

इन सब विचारों को हम समझते हैं; ये दो हजार वर्ष पुराने नहीं, बल्कि कुछ विचित्र रूप से हमारे जमाने के विचार जान पड़ते हैं। इस तरह के तर्क-वितर्क, ऐसा संघर्ष, मानवी मस्तिष्क की परंपरा के विरुद्ध यह विद्रोह आखिर आया कहां से ? हम उस काल की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति ठीकतौर पर नहीं जानते, लेकिन यह बात अच्छी तरह प्रकट है कि यह जमाना राजनैतिक संघर्ष और समाजी उथल-पुथल का रहा है, जिसका नतीजा यह हुआ है कि धर्म से विश्वास उठ गया है और लोग दिमागी जांच-पड़ताल में लगे ह और खोज किसी ऐसे रास्ते की हुई है, जिससे मन को संतोष मिले। इसी दिमागी उथल-पुथल और समाजी अवतरी से नये रास्ते निकले हैं और नये दर्शनों ने रूप ग्रहण किये हैं। उपनिषदों के सहज-ज्ञान से भिन्न, व्यवस्थित दर्शनों का दिखाई पड़ना शुरू होता है, और यह अनेक रूपों में जैन, बौद्ध और जिसे हम दूसरे शब्द के अभाव से हिंदू कहेंगे—सामने आते हैं। इसी जमाने के महाकाव्य हैं और भगवद्गीता भी इसी काल की वस्तु है।

१२ : महाकाव्य, इतिहास, परंपरा और आख्यायिकाएं

प्राचीन हिंदुस्तान के दो बड़े महाकाव्य—रामायण और महाभारत—शायद कई सदियों में तैयार हुए, और बाद में भी उनमें नये टुकड़े जोड़े जाते रहे। उनमें भारतीय आर्यों के आरंभ के दिनों का हाल है—उनकी विजयों का, उनकी आपस की उस समय की लड़ाइयों का जबकि वे फैल रहे थे और अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहे थे—लेकिन इन महाकाव्यों की रचना और संग्रह बाद की बातें हैं। मैं कहीं किसी ऐसे ग्रंथ को नहीं जानता, जिसने आम जनता के मस्तिष्क पर इतना लगातार और व्यापक असर डाला हो, जितना कि इन दो ग्रंथों ने डाला है। इतने प्राचीन-काल में तैयार किये गए होते हुए भी, वे हिंदुस्तानियों के जीवन में आज भी अपना जीता-जागता प्रभाव रखते हैं। मूल संस्कृत में तो थोड़े-बहुत विद्वानों तक ही ये पहुंचते हैं, लेकिन अनुवादों और बहुत-से और तरीकों से, जिनसे परंपरा और किस्से-कहानियां फैलती हैं और आम लोगों की जिंदगी का ताना-बाना बन जाती हैं, ये जनता तक पहुंचे हुए हैं।

इनमें हमें वह खास हिंदुस्तानी ढंग मिलता है, जिसमें अलग-अलग सांस्कृतिक विकास के लोगों के लिए एकसाथ सामग्री प्रस्तुत की जाती है, अर्थात् ऊंचे-से-ऊंचे दर्जे के विद्वानों से लेकर अनपढ़ और अशिक्षित देहाती तक के लिए। इनके द्वारा हमें प्राचीन हिंदुस्तानियों का वह गुर कुछ-कुछ समझ में आ जाता है जिससे वह एक पंचमेल और जात-पांत में बंटे हुए समाज को इकट्ठा बनाये रखने में, उनके झगड़ों को सुलझाते रहने में, उन्हें वीर-परंपरा और नैतिक रहन-सहन की समान भूमिका देने में सफल हुए हैं।

मेरे बचपन की सबसे पहली यादों में इन महाकाव्यों की उन कहानियों की यादें हैं जिन्हें मैंने अपनी मां से और और घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों से उसी तरह सुना था, जिस तरह कि यूरोप या अमरीका में बच्चे परियों की या दूसरी साहस की कहानियां सुनते हैं। इन कहानियों में मेरे लिए परियों की कहानियों और साहस की कहानियों, दोनों ही

के तत्त्व मौजूद थे। और फिर मैं हर साल खुले मैदान में होनेवाले उन लोकप्रिय तमाशों में ले जाया जाता था, जहां रामायण की कथा का अभिनय होता था और बहुत बड़े मजमे उसे देखने के लिए इकट्ठे होते थे। ये सब बातें बड़े भद्दे ढंग से हुआ करती थीं, लेकिन इससे कोई अंतर न पड़ता था, क्योंकि कहानी तो सभी लोगों की जानी हुई थी, और ये दिन मौज और उत्सव के दिन होते थे।

हिंदुस्तान की पौराणिक कथाएं महाकाव्यों तक सीमित नहीं हैं, वे वैदिक काल तक पहुंचती हैं और अनेक रूपों और पोशाकों में संस्कृत-साहित्य में आती हैं। कवि और नाटककार इनसे पूरा लाभ उठाते हैं और अपनी कथाएं और सुन्दर कल्पनाएं इनके आधार पर बनाते हैं। कहा जाता है कि अशोक का वृक्ष एक सुंदरी स्त्री के पैरों से छुआ जाकर फूल उठता है। हम कामदेव की और उसकी स्त्री रति की कथाएं पढ़ते हैं और उनके मित्र वसंत की। कामदेव दुस्साहस करके अपना पुष्पवाण स्वयं शिव पर चलाता है और शिव के तीसरे नेत्र से निकली हुई ज्वाला में भस्म हो जाता है। लेकिन वह अनंग अर्थात् बिना शरीर का होकर जिंदा रहता है।

इन पुराणों की कथाओं और वीर-गाथाओं में सचाई पर अड़े रहने और चाहे जैसा जोखिम होने पर भी अपने वचन का पालन करने, मृत्यु तक और उसके बाद भी वफादारी न छोड़ने, साहसी और अच्छे काम करने और लोकहित के लिए त्याग करने की शिक्षाएं दी गई हैं।

यूनानियों, चीनियों और अरबवालों की तरह प्राचीन हिंदुस्तानी इतिहासकार नहीं थे। यह एक दुर्भाग्य की बात है और इसके कारण आज हमारे लिए तिथियां या काल-क्रम निश्चित करना मुश्किल हो गया है। घटनाएं एक-दूसरे से गुथ जाती हैं और बड़ा उलझाव पैदा हो जाता है। बहुत धीरज के साथ मेहनत करके ही विद्वानों ने हिंदुस्तानी इतिहास की भूल-भुलैयां के बीच से कुछ अता-पता लगाया है। सच पूछा जाय तो केवल एक पुस्तक है, अर्थात् कल्हण की 'राज-तरंगिणी' जो ईसा की बारहवीं सदी में लिखा हुआ कश्मीर का इतिहास है, जिसे हम इतिहास कह सकते हैं। शेष इतिहास के लिए हमें महाकाव्यों के

कल्पित इतिहास की, या पुस्तकों की मदद लेनी पड़ती है, या शिलालेखों, कला-कृतियों या इमारतों के खंडहरों, सिक्कों, या विस्तृत संस्कृत-साहित्य से जहां-तहां संकेत मिल जाते हैं। हां, विदेशी-यात्रियों के यात्रा-वृत्तांतों से भी मदद मिलती है, विशेषकर यूनानियों, चीनियों और, बाद के समय के लिए, अरबों के यात्रा-वृत्तांतों से।

ऐतिहासिक भावना की इस कमी से जनता की कोई हानि नहीं हुई थी; क्योंकि जैसा और जगह होता है, वल्कि और जगह से ज्यादा, यहां जनता ने अतीत के बारे में अपने विचार परंपरागत वार्ताओं, पुराणों की कहानियों और गाथाओं की नींव पर, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती हैं, बनाये थे।

विज्ञान और आजकल की दुनिया से वास्ता पड़ने की वजह से अब घटनाओं की समझ-बूझ पैदा हुई है, जांच-पड़ताल की और प्रमाणों के तौलने की बुद्धि उपजी है, और परंपरा को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करने से इन्कार भी हुआ है। बहुत-से विद्वान इतिहासकार आजकल काम में लगे हुए हैं, लेकिन वे बहुधा उलटी ही भूल करते हैं, अर्थात् घटनाओं के काल-क्रम की तो बहुत छान-बीन करते हैं, लेकिन जीवित इतिहास को छोड़ देते हैं।

लेकिन मैं देवताओं और देवियों की, और उन दिनों की चर्चा कर रहा था, जबकि पुराण के किस्सों और कथाओं का आरंभ हुआ था, और इस चर्चा से बहुत दूर हट आया। वे ऐसे दिन थे, जबकि जीवन भरा-पूरा था और प्रकृति के साथ उसका तार-तार मिला हुआ था, जब आदमी का मस्तिष्क विश्व के रहस्यों पर अचरज और आनंद से दृष्टि डालता था, जब स्वर्ग और धरती एक-दूसरे के बहुत निकट जान पड़ते थे, और देवता लोग तथा देवियां कैलास से, या हिमालय में स्थित अपने धामों से, ओलिंपस के देवताओं की तरह पुरुषों और स्त्रियों के बीच खेल करने या कभी-कभी उन्हें दंड देने के लिए उतर आते थे। इस भरी-पूरी जिंदगी और शानदार कल्पना से, कथा-कहानियों का और बली तथा सुंदर देवताओं एवं देवियों का जन्म हुआ, क्योंकि यूनानियों की तरह हिंदुस्तानी भी जीवन और सौंदर्य के प्रेमी थे।

धीरे-धीरे वैदिक और दूसरे देवी-देवताओं के दिन हटकर पीछे पहुंच गए और उसकी जगह कठिन दर्शन ने ले ली। लेकिन लोगों के मस्तिष्कों में सुख के संगियों और दुख के साथियों की तरह उनकी अपनी आकांक्षाओं और अस्पष्ट रूप से अनुभव किये गए आदर्शों के रूप में वह मूरतें फिर भी तिरती रहीं। और इनके गिर्द कवियों ने अपनी कल्पनाएं लपेटीं, और अपने सपनों के घर बनाये और उन्हें अच्छी तरह सजाया।

१३ : महाभारत

महाकाव्यों का समय बताना कठिन है। इनम उस प्राचीन-काल का हाल है कि जब आर्य हिंदुस्तान में बस रहे थे और अपनी जड़ जमा रहे थे। स्पष्ट है, इन्हें बहुत-से लेखकों ने लिखा है या इनमें भिन्न-भिन्न समयों में विस्तार किया गया है। रामायण ऐसा महाकाव्य है, जिसके वर्णन में थोड़ी-बहुत एकता है, महाभारत प्राचीन ज्ञान का एक बड़ा और फुटकर संग्रह है। दोनों ही बौद्ध-काल से पहले बन गए होंगे, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि इनमें बाद में भी हिस्से जोड़े गए हैं।

फ्रांसीसी इतिहासकार मिशले, १८६४ में, विशेषकर रामायण के प्रसंग में लिखते हुए कहते हैं—"जिस किसीने भी बड़े काम किये हैं या बड़ी आकांक्षाएं की हैं, उसे इस गहरे प्याले से जीवन और यौवन की एक लंबी घूंट पीनी चाहिए .... पश्चिम में सभी चीजें सकरी और तंग हैं—यूनान एक छोटी जगह है और उसका विचार करके मेरा दम घुटता है, जूडिया खुश्क जगह है और मैं हांफ जाता हूं। मुझे विशाल एशिया और गहन पूर्व की ओर तनिक देर को देखने दो। वहां मिलता है मेरे मन का महाकाव्य—हिंद-महासागर जैसा विस्तृत, मंगलमय सूर्य के प्रकाश से चमकता हुआ, जिसमें दैवी संगीत है, और जहां कोई बेसुरापन नहीं। वहां एक गहरी शांति का राज्य है, और संघर्ष के बीच भी वहां बेहद मिठास और चरम सीमा का भाई-चारा है, जो सभी जीवित वस्तुओं पर छाया हुआ है। प्रेम, दया, क्षमा का अपार और अथाह समुंदर है।"

महाकाव्य की हैसियत से रामायण एक बहुत बड़ा ग्रंथ अवश्य है और उससे लोगों को बहुत लगाव है लेकिन यह महाभारत है जो वास्तव में दुनिया की सबसे प्रमुख पुस्तकों में से एक है। यह एक विराट् कृति है; परम्परा और कथाओं का, और हिंदुस्तान की प्राचीन राज-नैतिक और सामाजिक संस्थाओं का यह एक विश्व-कोष है। यह एक रोचक बात है कि इस भयानक और सर्वव्यापी युद्ध-काल में भी रूस के पूर्वी विद्याओं के जाननेवाले विद्वानों ने महाभारत का रूसी अनुवाद प्रस्तुत किया है।

महाभारत में, हिंदुस्तान की बुनियादी एकता पर जोर देने की बहुत निश्चित कोशिश की गई है। इसका एक और पहले का नाम आर्यावर्त्त यानी आर्यों का देश, था। लेकिन यह मध्य-हिंदुस्तान के विंध्य पहाड़ तक फैले हुए, उत्तरी हिंदुस्तान तक, सीमित था। शायद उस समय तक आर्य इस पहाड़ के सिलसिले के पार नहीं पहुंचे थे। रामायण की कथा आर्यों के दक्खिन में पैठने का इतिहास है। वह बड़ा गृह-युद्ध, जो बाद में हुआ और जिसका कि महाभारत में वर्णन है, मोटे ढंग से अनुमान किया जाता है, ईसा से पूर्व चौदहवीं सदी में हुआ। यह लड़ाई हिंदुस्तान (या शायद उत्तरी हिंदुस्तान) पर सबसे ऊंचा अधिकार हासिल करने के लिए हुई थी, और इससे सारे हिंदुस्तान के, भारतवर्ष के रूप में, कल्पना किये जाने का आरंभ होता है। भारतवर्ष की जो यह कल्पना थी, उसमें आज-कल के अफ़गानिस्तान का ज्यादा हिस्सा, जिसे उस समय गांधार कहते थे, शामिल था और इस देश का अपना अंग समझा जाता था।

भगिनी निवेदिता (मार्गरेट नोबुल) ने, महाभारत के बारे में लिखते हुए बताया है "विदेशी पाठक पर.... दो मुख्य बातों का असर पड़ता है। पहली बात तो यह है कि विविधता में यहां एकता मिलती है; दूसरी यह, कि सुननेवालों पर एक ऐसे केंद्रीय हिंदुस्तान के विचार को बिठाने का लगातार प्रयत्न है, जिसकी अपनी वीरता की परंपरा है, जो एकता के भाव को जगानेवाली है।"

महाभारत में कृष्ण की कथाएं हैं और भगवद्गीता नाम का प्रसिद्ध काव्य भी है। गीता के दर्शन के अलावा भी, यह ग्रंथ आमतौर

पर राज्यकारण में और जीवन में, नैतिक और सदाचार के सिद्धांतों पर जोर दिया गया है। धर्म की इस बुनियाद के बिना सच्चा सुख नहीं मिल सकता, और न समाज ही स्थायी रह सकता है। समाज की भलाई इसका उद्देश्य है, किसी एक गिरोह की भलाईं नहीं, बल्कि सारी दुनिया का हित। लेकिन धर्म स्वयं सापेक्ष है, और सचाई, अहिंसा आदि बुनियादी सिद्धांतों के अतिरिक्त यह समय और परिस्थिति पर निर्भर करता है। ये सिद्धांत सदा स्थिर रहते हैं और इनमें परिवर्तन नहीं होते, मगर इनके अतिरिक्त धर्म, जो कर्त्तव्यों और जिम्मेदारियों का गड्डमड्ड है, बदलते हुए जमाने के साथ बदलता रहता है। यहां और-और जगहों पर अहिंसा पर जो जोर दिया गया है वह दिलचस्प है, क्योंकि इसमें और किसी अच्छे उद्देश्य के लिए लड़ाई करने में, कोई व्यक्त विरोध नहीं माना गया है।

महाभारत एक ऐसा मूल्यवान् भंडार है कि हमें उसमें बहुत तरह की कीमती चीजें मिल सकती हैं। यह रंग-बिरंगी, घनी और खुदबुदाती हुई जिंदगी से भरपूर है, और इस बात में यह हिंदुस्तानी विचारधारा के दूसरे पहलू से बहुत हटकर है जिसमें तपस्या और जीवन से इन्कार पर जोर दिया गया है। यह केवल नीति की शिक्षा देनेवाली पुस्तक नहीं है, यद्यपि नीति और संस्कृति की शिक्षा इसमें काफी मिलेगी। महाभारत की शिक्षा का सार एक वाक्य में रख दिया गया है—"दूसरे के लिए तू ऐसी बात न कर जो तुझे खुद अपने लिए नापसंद हो।" जोर समाज की भलाई पर दिया गया है, कहा है—"जिससे समाज की भलाई नहीं होती, या जिसे करते हुए तुम्हें शर्म आती है, उसे न करो।" फिर कहा है, "सचाई, अपने को बस में रखना, तपस्या, उदारता, अहिंसा, धर्म पर डटे रहना—इनसे सफलता प्राप्त होती है, जात और कुल से नहीं।" "जीवन और अमरता से धर्म बढ़कर है।" "सच्चे आनंद के लिए कष्ट उठाना आवश्यक है।" धन कमाने के पीछे पड़े रहनेवाले पर एक व्यंग है, "रेशम का कीड़ा, अपने धन के कारण मरता है।" और, अंत में, एक जीती-जागती और उन्नति करती हुई जाति के लोगों के उपयुक्त यह आदेश है, "असंतोष प्रगति का प्रेरक है।"

१४ : भगवद्गीता

भगवद्गीता महाभारत का अंश है; एक बहुत बड़े नाटक की एक घटना है। लेकिन उसकी अपनी अलग जगह है, और वह अपने में संपूर्ण है। यों यह ७०० श्लोकों का छोटा-सा काव्य है, लेकिन विलियम वॉन हम्बोल्ट ने इसके बारे में लिखा है कि "यह सबसे सुंदर, शायद अकेला सच्चा दार्शनिक काव्य है, जो किसी भी जानी हुई भाषा में मिलता है।" बौद्ध-काल से पहले जब इसकी रचना हुई, तबसे आजतक इसकी लोकप्रियता और प्रभाव घटे नहीं हैं, और आज भी इसके लिए हिंदुस्तान में पहले-जैसा आकर्षण बना हुआ है। विचार और दर्शन का हरएक संप्रदाय इसे श्रद्धा से देखता है, और अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या करता है। संकट के समय, जबकि आदमी का मन संदेह से सताया हुआ होता है, और अपने कर्त्तव्य के बारे में उसे दुविधा दो ओर खींचती होती है, वह प्रकाश और मार्ग प्रदर्शन के लिए गीता की तरफ़ और भी झुकता है, क्योंकि यह संकट-काल के लिए लिखी गई कविता है—राजनैतिक और सामाजिक संकटों के अवसर के लिए, और उससे भी अधिक मनुष्य की आत्मा के संकट-काल के लिए। गीता की अनगिनत व्याख्याएं निकल चुकी हैं, और अब भी बराबर निकलती रहती हैं। विचार और काम के मैदान के आजकल के नेताओं—तिलक, अरविंद घोष, गांधीजी—ने भी इसके संबंध में लिखा है और अपनी-अपनी व्याख्याएं दी हैं। गांधीजी ने इसे अहिंसा में अपने दृढ़ विश्वास का आधार बनाया है—और लोगों ने इसे हिंसा और धर्म-कार्य के लिए युद्ध का।

यह काव्य, घोर युद्ध आरंभ होने से पहले, ठीक लड़ाई के मैदान में, अर्जुन और कृष्ण की बातचीत के रूप में आरंभ होता है। अर्जुन विचलित है, उसकी अंतरात्मा लड़ाई और उससे होनेवाले बड़े संहार का, मित्रों और बंधुओं के संहार का, खयाल करके सहम उठती है। आखिर यह सब किसलिए? कौनसे ऐसे लाभ की कल्पना हो सकती है, जो इस क्षति का, इस पाप का, परिहार कर सके? उसकी सभी पुरानी कसौटियां जवाब दे देती हैं, वे सभी मूल्य, जिन्हें उसने आंक रखा था,

बेकार हो जाते हैं। अर्जुन मनुष्य की पीड़ित आत्मा का प्रतीक बन जाता है, ऐसी आत्मा का, जो सभी काल में, कर्त्तव्य और सदाचार के तक़ाजों की वजह से दुविधा में पड़ी रही है। इस निजी बातचीत से होते-होते हम आदमी के कर्त्तव्य और सामाजिक आचरण, इंसानी जिंदगी और सदाचार और हमारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए, इन व्यापक विचारों तक पहुंच जाते हैं। इसमें बहुत-कुछ ऐसा है जो आध्यात्मिक है; और इस बात की कोशिश की गई है कि मानवी उन्नति के तीन रास्तों—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग—का इसके द्वारा समन्वय हो।

गीता का संदेसा सांप्रदायिक या किसी एक विशिष्ट विचार के लोगों के लिए नहीं है। क्या ब्राह्मण और क्या अजात, यह सभी के लिए है। यह कहा गया है कि "सभी रास्ते मुझतक पहुंचाते हैं।" ढाई हजार बरसों में, जो इसके लिखे जाने के बाद बीते हैं, हिंदुस्तान के लोगों ने न जाने कितने परिवर्तन देखे हैं और चढ़ाव-उतार भी देखे हैं; अनुभव-पर-अनुभव हुए हैं; ख़याल-पर-ख़याल उठे हैं, लेकिन उन्हें हमेशा गीता में कोई जीवित वस्तु मिली है, जो उनके उन्नति करते हुए विचार से मेल खा गई है, जिसमें ताजगी रही है, और मस्तिष्क को छेड़नेवाले आध्यात्मिक प्रश्नों पर जो लागू रही है।

१५ : प्राचीन हिंदुस्तान में जीवन और व्यवसाय

विद्वानों और दार्शनिकों ने प्राचीन हिंदुस्तान के दर्शन और अध्यात्म के विकास को जांचने के लिए बहुत-कुछ किया है; ऐतिहासिक घटनाओं का काल-क्रम निश्चित करने के लिए भी बहुत-कुछ किया गया है। लेकिन उन कालों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को मालूम करने के लिए अभी विशेष काम नहीं हुआ है—यह कि किस तरह लोग रहते-सहते थे और अपना धंधा करते थे, क्या चीजें और किस तरह पैदा करते थे और व्यापार किस ढंग से होता था ? इन बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। महाभारत स्वयं समाज-शास्त्र संबंधी और और सचनाओं का भंडार है और निश्चय ही दूसरी

बहुत-सी पुस्तकों से हमें जानकारी प्राप्त हो सकती है। लेकिन उनकी इस दृष्टि से, ध्यानपूर्वक जांच-पड़ताल करना जरूरी है। एक पुस्तक, जिसका कि इस विचार से बहुत मूल्य है कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है, जो ईसा से पूर्व चौथी सदी में लिखा गया था, और जिससे मौर्य-साम्राज्य के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सैनिक-संगठन के बारे मे बहुत-सी ब्यौरेवार जानकारी मिलती है।

इससे भी पहले का एक वर्णन, जो हमें बुद्ध से भी पहले के समय तक पहुंचाता है, हमें जातक-कथाओं में मिलता है। प्रोफेसर रीज डेविड्स ने इन्हें लोक-कथाओं का सबसे पुराना, सबसे पूर्ण और सबसे महत्त्व का संग्रह बताया है।

जातकों में उस काल की चर्चा है जबकि हिंदुस्तान की दो मुख्य जातियों का, यानी द्रविड़ों और आर्यों का, अंतिम मेल-मिलाप हो रहा था। उनसे एक "विविध और अस्त-व्यस्त समाज का पता लगता है, जिसके वर्गीकरण के सभी प्रयत्न निरर्थक होंगे और जिसके बारे में उस जमाने की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार संगठन की कोई बात ही नहीं हो सकती।" यह कहा जा सकता है कि जातकों में हमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों की परंपरा के विरोध में जन-साधारण की परंपरा मिलती है।

जुदा-जुदा राज्यों और शासकों के काल-क्रम और वंशावलियां हमें मिलती हैं। आरंभ में राजा चुना जाता था, बाद में राजे वंश-क्रम से होने लगे और सबसे जेठा लड़का राज्य का अधिकारी होता। स्त्रियां उत्तराधिकार से अलग रखी गई हैं, लेकिन इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं। जैसाकि चीन में रहा है, शासक सभी दुर्भाग्यों के जिम्मेदार ठहराये जाते थे।

अगर कोई बात बिगड़ती है तो दोष राजा पर आता है। मंत्रियों की समितियां हुआ करती थीं, और एक तरह की राज्य-परिषद् के भी प्रसंग मिलते हैं। फिर भी राजा स्वायत्त हुआ करता था, हालांकि उसे कुछ स्थापित मान्यताओं के अनुसार चलना पड़ता था। दरबार में पुरोहित का पद बड़ा ऊंचा माना जाता था, वह सलाहकार भी होता था और धार्मिक रस्मों को अदा करनेवाला भी। अन्यायी राजाओं के विरुद्ध

जनता के विद्रोह के भी हवाले मिलते हैं, और ऐसे राजाओं को उनके अपराधों के लिए जानें तक गंवानी पड़ी हैं।

ग्राम-सभाओं (पंचायतों) को एक हद तक खुदमुख्तारी प्राप्त थी। जमीन के लगान से मुख्य आमदनी थी। यह खयाल किया जाता था कि जमीन पर लगाया गया कर राजा के हिस्से का है; आमतौर पर यह गल्ले या उपज के रूप में अदा किया जाता था, लेकिन हमेशा ऐसा न होता था। यह खासकर किसानों की सभ्यता थी, और इसकी बुनियादी इकाईं यही स्वायत्त गांव हुआ करते थे। इन्हीं गांवों की जनता के आधार पर राजनैतिक और आर्थिक संगठन होता था, दस-दस और सौ-सौ गांवों के समूह बना दिये जाते थे। बागबानी, पशु-पालन और ग्वालों का धंधा बहुत बड़े पैमाने पर होता था। बाग और उद्यान बहुतायत से थे और फूलों और फलों की कद्र की जाती थी।

शिकार एक नियमित धंधा था, विशेषकर इसलिए कि उसके द्वारा खाना प्राप्त होता था। मांसाहार साधारण-सी बात थी और इसमें मुर्ग और मछलियां शामिल थीं; हिरन के मांस की बड़ी कद्र होती थी। मछुओं का अलग धंधा था, और कसाई-खाने भी थे। लेकिन खाने की खास चीजें चावल, गेहूं, बाजरा और मक्का थीं। ईख से शक्कर बनाई जाती थी। शराब की दूकानें भी थीं और शराब चावल, फल और ईख से तैयार की जाती थी।

धातुओं और कीमती पत्थरों की खानें थीं। जिन धातुओं का चर्चा आया है, वे हैं सोना, चांदी, तांबा, लोहा, सीसा, टिन, पीतल। कीमती पत्थरों में हीरा, लाल, मूंगा हैं, मोतियों का भी जिक्र है। सोने, चांदी और तांबे के सिक्कों के हवाले हैं। व्यापार के लिए साझे हुआ करते थे और सूद पर कर्ज दिया जाता था।

तैयार किये गए माल में रेशम, ऊन और रूई के कपड़े, लोइयां, कंबल और कालीन हैं। कताई, बुनाई, रंगाई के धंधे खब फैले हुए और नफे के धंधे थे। धातुओं उद्योग से लड़ाई के हथियार तैयार होते थे। इमारत के धंधे में पत्थर, लकड़ी और ईंटें काम में आती थीं। बढ़ई लोग तरह-तरह के सामान तैयार करते थे, जैसे गाड़ियां, रथ, पलंग,

कुर्सियां, बेंचें, पेटियां, खिलौने आदि। बेंत का काम करनेवाले चटाई, टोकरियां, पंखे और छाते तैयार करते थे। कुम्हार हरएक गांव में होते थे। फूलों और चंदन की लकड़ी से कई तरह की सुगंधियां, तेल और सिंगार की चीजें तैयार की जाती थीं, इसमें चंदन की बुकनी भी होती थी। कई तरह की दवाइयां और आसव तैयार होते थे और कभी-कभी मरे हुए आदमी के शरीर को मसाला लगाकर सुरक्षित रखा जाता था।

बहुत तरह के कारीगरों और दस्तकारों के अलावा, जिनकी चर्चा हुई है, कई और पेशेवरों के हवाले मिलते हैं। ये हैं—अध्यापक, वैद्य, जर्राह, व्यापारी, दुकानदार, गवैये, ज्योतिषी, कुंजड़े, अभिनेता, नर्तक, भांड, बाजीगर, नट, कठपुतली का तमाशा करनेवाले और फेरीवाले।

घरों में दासों का होना काफी मामूली बात थी, लेकिन खेती के काम और दूसरे कामों के लिए मजदूर लगाये जाते थे। उस समय भी थोड़े-से अछूत थे—ये चांडाल कहलाते थे और इनका खास काम था मुर्दों को फेंकना या जलाना।

व्यापारियों के संगठनों और कारीगरों के संघों का महत्त्व माना जा चुका था। जातकों में लिखा है कि कारीगरों के अठारह संघ थे, लेकिन उनमें केवल चार नाम से बताये गए हैं, अर्थात् बढ़इयों और थवइयों के, सुनारों के, चमड़े का काम करनेवालों के और रंगसाजों के। पुरोहितों के बाद इन संघों के मुखियों को बताया गया है, जिनका राजा को खास ध्यान रखना चाहिए। व्यापारियों का मुखिया श्रेष्ठी (आजकल का सेठ) बहुत काफी महत्व रखता था।

जातकों के बयान से एक कुछ असाधारण विकास का पता लगता है। बड़ी-बड़ी सड़कें, जिनके किनारे-किनारे यात्रियों के आराम के लिए घर बने थे, और कहीं-कहीं अस्पताल भी, सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में फैली हुई थीं और दूर-दूर की जगहों को मिलाती थीं। समुद्र-पार के व्यापार के लिए जहाजों की जरूरत थी और यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तान में देश के भीतर नदियों पर चलने के लिए ही नहीं, बल्कि समुद्र पर चलनेवाले जहाज भी बनते थे। जातकों में व्यापारियों की समुद्र-

यात्राओं के हवाले भरे पड़े हैं। खुश्की के रास्ते से, रेगिस्तानों को पार करके भड़ोंच के पच्छिमी बंदरगाह तक और उत्तर में गांधार और मध्य-एशिया तक कारवां जाया करते थे। भड़ोंच से जहाज ब बुल (बावेरू) के लिए फारस की खाड़ी को जाया करते थे। नदियों के रास्ते बड़ी आमद-रफ्त हुआ करती थी और जातकों के अनुसार बेड़े बनारस, पटना, चंपा (भागलपुर) और दूसरे जगहों से समुंदर को जाया करते थे और वहां से दक्खिनी बंदरगाहों और लंका और मलय टापू तक।

हिंदुस्तान से बाहर जानेवाले माल में रेशम के कपड़े, मलमल, और महीन कपड़े, छुरियां, जिरह-बख्तर, कमखाब, ज़रदोजी के काम, लोइयां, इत्र-फुलेल, दवाइयां, हाथी-दांत और हाथी-दांत की बनी चीजें, जेवर और सोना (चांदी बहुत कम)—ये खास चीजें होती थीं, जिन्हें व्यापारी भेजा करते थे।

हिंदुस्तान, बल्कि उत्तरी हिंदुस्तान अपने लड़ाई के हथियारों के लिए मशहूर था, खासतौर पर अपने लोहे की उत्तमता के लिए और तलवारों और कटारों के लिए। प्राचीन हिंदुस्तान में, जान पड़ता है, लोहे के तैयार करने में बड़ी उन्नति हो गई थी। दिल्ली के पास एक बहुत बड़ा लोहे का खंभा है जिसने आजकल के वैज्ञानिकों को भी दंग कर दिया है, और वे नहीं पता लगा सके हैं कि यह किस तरह बना होगा, क्योंकि इसपर न जंग लग सका है और न दूसरे मौसमी परिवर्तनों का असर पहुंचा है। इसपर जो लेख खुदा हुआ है, वह गुप्त-काल की लिपि में है। जोकि ईसा से बाद की चौथी सदी में प्रचलित थी। लेकिन कुछ विद्वानों का यह कहना है कि खंभा खुद इस लेख से पहले का है और यह लेख बाद में जोड़ा गया है।

ईसा पूर्व की चौथी सदी में, सिकंदर का हिंदुस्तान पर हमला फौजी दृष्टि से एक छोटी-सी बात थी। यह एक सरहदी धावे जैसा हमला था और वह भी बहुत कामयाब हमला नहीं था। एक सरहदी सरदार ने उससे ऐसा कड़ा मोर्चा लिया कि खास हिंदुस्तान पर बढ़कर आने के अपने विचार को उसे पलटना पड़ा। हिंदुस्तान की फौज़ी शक्ति का

अनुमान सिकंदर के वापस जाने और उसकी मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद मिला, जब सिल्यूकस ने दूसरा हमला करना चाहा। चंद्रगुप्त ने उसे हराकर पीछे भगा दिया। उस जमाने में हिंदुस्तानी फौजों को एक ऐसी सुविधा थी जो दूसरों को नहीं प्राप्त थी; यह सिखाये हुए हाथियों की सुविधा थी, जिनकी तुलना आजकल के टैंकों से की जा सकती है। सल्यूकस निकाटोर ने हिंदुस्तान से ऐसे ५०० लडाई के हाथी हासिल किये और ३०२ ई० पू० में एशिया माइनर में, ऐंटिगोनस के खिलाफ लड़ाई में इन्हें लगाया। फौजी मामलों के जानकार इतिहासकारों का कहना है कि लड़ाई में जो ऐंटिगोनस मारा गया और उसका बेटा दिमित्रियस भाग गया तो इसका मुख्य कारण हाथी ही थे।

हाथियों को सिखाने, घोड़ों की नस्ल तैयार करने आदि विषयों पर पुस्तकें लिखी गई हैं——इनमें हर एक को शास्त्र कहा गया है।

हिंदुस्तान में लिखने का रिवाज बहुत ही पुराना है। बाद के पाषाण युग के मिट्टी के बरतनों पर ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए अक्षर मिले हैं। मोहन-जो-दड़ो में ऐसे लेख मिले हैं जिन्हें अभीतक पूरी तरह नहीं पढ़ा जा सका है। ब्राह्मी लेख जो हिंदुस्तान में सभी जगह मिले हैं, ऐसे हैं, जिनकी लिपि पूरी तरह देवनागरी लिपि की बुनियाद में है, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। अशोक के कुछ लेख ब्राह्मी में हैं, पच्छिमोत्तर के और लेख खरोष्ठी लिपि में हैं।

ईसा पूर्व छठी या सातवीं सदी में पाणिनि ने अपना संस्कृत-व्याकरण तैयार किया। इसे केवल व्याकरण न समझना चाहिए। लेनिनग्राद के सोवियत प्रोफेसर टी० शेरबत्सकी ने उसे "मानवी मस्तिष्क की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक" बताया है। पाणिनि को आज भी संस्कृत व्याकरण पर प्रमाण माना जाता है, हालांकि बाद के वैयाकरणों ने उसमें और बातें जोड़ी हैं और उसकी अपने ढंग से व्याख्याएं की हैं। यह एक रोचक बात है कि पाणिनि ने यूनानी लिपि की चर्चा की है। इससे पता चलता है कि हिंदुस्तान और यूनान के बीच, सिकंदर के पूरब आने से पहले ही, किसी-न-किसी तरह का संपर्क हो चुका था।

ज्योतिष का विशेष रूप से अध्ययन होता था और अक्सर यह अध्ययन फलित ज्योतिष की तरफ झुकता था। औषध-शास्त्र का संस्थापक धन्वंतरि था, ऐसी परंपरा है। लेकिन सबसे मशहूर पुरानी पाठ्य-पुस्तकें ईसवी सन् की शुरू की सदियों में रची गईं। इनमें औषध पर चरक की, और शल्य या जर्राही पर सुश्रुत की पुस्तकें हैं। यह खयाल किया जाता है कि कनिष्क (जिसकी राजधानी पश्छिमोत्तर मे थी) के दरबार का राजवैद्य चरक था। इन पुस्तकों में बहुतसे रोगों का वर्णन है और उनके निदान और उपचार बताये गए हैं। सुश्रुत ने बहुत से जर्राही के औजारों का जिक्र किया है और चीर-फाड़ का भी, जिसमें कि अंगों को काटने, पेट चीरने, पेट चीरकर बच्चा निकालने, मोतियाबिंद की जर्राही आदि हैं। ईसा पूर्व तीसरी या चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। यह शायद जैनियों और बौद्धों के धर्मों के प्रभाव से बने थे।

गणित में प्राचीन हिंदुस्तानियों ने कुछ क्रांतिकारी आविष्कार किये थे—खासतौर पर शून्य के चिह्न, दशमलव-प्रणाली, ऋण के चिह्न, और बीजगणित में अज्ञात राशियों के लिए अक्षरों का प्रयोग। इन आविष्कारों का समय बताना मुश्किल है, क्योंकि सिद्धांत की स्थापना और उसके व्यवहार के बीच बड़े लंबे जमाने का अंतर आ जाता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित का आरंभ सबसे प्राचीन काल में हो चुका था। ऋग्वेद के जमाने में भी गिनती के लिए दहाई का प्रयोग किया जाता था। इन प्राचीन हिंदुस्तानियों में गिनती और समय का असाधारण ज्ञान था। बहुत बड़ी राशियों के नामों की एक लंबी सूची उन्होंने बना रखी थी। यूनानियों, रोमनों, ईरानियों और अरबों के यहां हजार या ज्यादा-से-ज्यादा दस हजार ($१०^{४}$=१०,०००) की संख्या से आगे के नाम न थे। हिंदुस्तान में १८ निश्चित नामकरण ($१०^{१८}$) तो थे ही, और इससे भी लंबी सूचियां बन गई थीं। बुद्ध की आरंभ की शिक्षा के वर्णन से हमें मालूम होता है कि $१०^{५०}$ तक की संख्याओं के अलग-अलग नाम वह ले सकते थे।

दूसरी तरफ काल का बड़ा सूक्ष्म विभाजन हो गया था और

इसकी सबसे छोटी इकाई लगभग एक सेकंड का सत्रहवां हिस्सा थी। लंबाई की सबसे छोटी माप करीब-करीब १.३×७–१० इंच थी। ये सब बड़ी और छोटी राशियां केवल काल्पनिक थीं, और इनका प्रयोग दर्शन के विचारों में हुआ करता था। फिर भी प्राचीन हिंदुस्तानियों की देश-काल की कल्पना और प्राचीन कौमों के मुकाबले कहीं बढ़ी-चढ़ी थी। उनका चिंतन बहुत बड़े पैमाने पर होता था। उनकी पौराणिक कथाओं में अरबों-खरबों साल के युगों का बयान है। आजकल के भूगर्भशास्त्र के विशद युगों की गिनतियां और नक्षत्रों की दूरी की बहुत बड़ी मापें उनके लिए अचरज की चीजें न होतीं। इस पृष्ठभूमि की वजह से डार्विन के और इसी तरह के दूसरे सिद्धांतों ने हिंदुस्तान में वह उथल-पुथल और भीतरी संघर्ष नहीं पैदा किया, जो उन्नीसवीं सदी के बीच के जमाने में उठा था। यूरोप की साधारण जनता के मस्तिष्क में जो समय का पैमाना आमतौर पर आता था, वह कुछ हजार सालों से आगे का नहीं था। 'अर्थशास्त्र' में उत्तरी हिंदुस्तान में ईसा पूर्व चौथी सदी में बरती जानेवाली मापें और तौलें मिलती हैं। बाजार में तौल के बटखरों की कड़ी जांच हुआ करती थी।

पुराणों के जमाने में अक्सर आश्रमों का चर्चा है जो एक तरह के वन-स्थित विश्वविद्यालय होते थे। ये शहरों से बहुत दूर पर नहीं होते थे और यहां प्रसिद्ध विद्वानों के पास शिक्षा-दीक्षा के लिए विद्यार्थी इकट्ठा हुआ करते थे। यह शिक्षा कई विषयों की होती थी, इसमें फौजी शिक्षा भी सम्मिलित थी। इन आश्रमों को इसलिए पसंद किया जाता था कि विद्यार्थी लोग यहां शहर के शोर-गुल और आकर्षणों से दूर रहते हुए, संयम और ब्रह्मचर्य का जीवन बिता सकते थे। इस बात के संकेत मिलते हैं कि लोकप्रिय गुरुओं के यहां बड़ी संख्या में विद्यार्थी खिचकर पहुंचा करते थे।

बनारस हमेशा से विद्या का एक केंद्र रहा है, और बुद्ध के जमाने में भी यह प्रसिद्ध था और प्राचीन माना जाता था। बनारस के पास मृगदाव में बुद्ध ने सबसे पहले उपदेश दिया था, लेकिन बनारस किसी जमाने में ऐसे विश्वविद्यालय का केंद्र रहा हो, जैसे उस समय

और बाद में और जगहों में थे, यह नहीं जान पड़ता । वहांपर गुरुओं और शिष्यों के बहुत से अलग-अलग समुदाय थे, और अक्सर विरोधी समुदायों में तीखे शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

लेकिन पच्छिमोत्तर में, वर्तमान पेशावर के पास, एक प्राचीन और प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला में था। यह खासतौर पर विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र और कलाओं के लिए मशहूर था और हिंदुस्तान के दूर-दूर के हिस्सों से यहां लोग आया करते थे। यहां मध्य-एशिया और अफ़गानिस्तान से भी विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए आया करते थे। तक्षशिला का स्नातक होना एक प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। जो वैद्य यहां से चिकित्सा-शास्त्र सीखकर निकलते थे, उनकी बड़ी कद्र होती थी, और इसका वर्णन मिलता है कि जब कभी बुद्ध बीमार पड़ते थे, तब उनके भक्त ऐसे मशहूर वैद्य को बुलाते थे जो तक्षशिला का स्नातक होता था। ईसा से पूर्व की छठी-सातवीं सदी के वैयाकरण पाणिनि ने यहीं शिक्षा पाई थी।

कानून की दृष्टि से स्त्रियों का दर्जा, सबसे पहले स्मृतिकार मनु के अनुसार, निश्चितरूप से, गिरा हुआ था। वे हमेशा किसी-न-किसी के सहारे पर रहती थीं, वह चाहे बाप का हो, चाहे पति का, चाहे बेटे का। कानून की दृष्टि में उन्हें चल-संपत्ति-जैसा माना जाता था। फिर भी, महाकाव्यों की बहुत-सी कथाओं से पता चलता है कि ये कानून कड़ाई के साथ लागू नहीं किये जाते थे और उन्हें समाज में और घरों में आदर का पद मिलता था। मनु स्वयं लिखते हैं—"जहां औरतों का आदर होता है, वहां देवता लोग आकर बसते हैं।" तक्षशिला या किसी पुराने विद्यापीठ के सिलसिले में विद्यार्थिनियों का चर्चा नहीं मिलता। लेकिन उनमें से कुछ कहीं-न-कहीं शिक्षा जरूर पाती रही हैं, क्योंकि विदुषी और पढ़ी-लिखी स्त्रियों का बार-बार चर्चा हुआ है। बाद के युगों में भी प्रसिद्ध विदुषी स्त्रियां हुई थीं। स्त्रियों का कानूनी दर्जा प्राचीन हिंदुस्तान में, गिरा हुआ जरूर था, लेकिन आज की कसौटी से जांचा जाय, तो प्राचीन यूनानी, रोम, आरंभ के ईसाई मत वाले देशों में और मध्ययुग के, बल्कि और हाल के, अर्थात् उन्नीसवीं

सदी के आरंभ के, यूरोप में, उनका जैसा दर्जा था, उससे यहां कहीं अच्छा था।

उस काल के हिंदुस्तानी कैसे थे ? हमारे लिए इतने पुराने और इस जमाने से इतने भिन्न काल के बारे में अनुमान करना कठिन है; फिर भी जो फुटकर जानकारी हमें है उससे एक धुंधली तस्वीर हमारे सामने आती ही है। वे खुले दिल के, अपने में भरोसा रखनेवाले, अपनी परंपरा पर गर्व करनेवाले लोग थे; रहस्य की खोज में हाथ-पैर फेंकनेवाले, प्रकृति और मानवी जीवन के बारे में बहुत-से प्रश्न करने-वाले, अपनी बनाई मर्यादा और स्थापित मूल्यों के बारे में सावधान रहने वाले थे, लेकिन जीवन में आनंद के साथ हिस्सा लेनेवाले और मौत का बेफिक्री से सामना करनेवाले थे।

१६ : महावीर और बुद्ध : वर्ण-व्यवस्था

महाकाव्यो के समय से लेकर आरंभिक बौद्ध-काल तक, उत्तरी हिंदुस्तान की कुछ इस तरह की भूमिका रही है जैसीकि ऊपर बताई गई है। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से यह बराबर बदलती रही है, और मिलने-जुलने और समन्वय का और धंधों के विशिष्ट होकर बंट जाने का क्रम जारी रहा है। विचार के क्षेत्र में बराबर विकास होता रहा है और प्रायः संघर्ष रहा है। आरंभ के उपनिषदों के बाद के काल में, बहुत-सी दिशाओं में विचार और कार्य में उन्नति हुई है, और यह कर्म-कांड और पुरोहिताई के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में रही है। लोगों का मस्तिष्क, जो-कुछ वे देखते थे, उसके विरुद्ध विद्रोह करता था, और इस विद्रोह का नतीजा था जो शुरू के उपनिषदों में, और कुछ समय बाद, जड़वाद, जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म के रूप में, और भगवद्-गीता में पाये जानेवाले सब धर्मों के समन्वय में हमें मिलता है। फिर इन सबके भीतर से हिंदुस्तानी दर्शन की छः पद्धतियां निकलती हैं।

जैन-धर्म और बौद्धधर्म, वैदिकधर्म और उसकी शाखाओं से हटकर थे, यद्यपि एक अर्थ में ये स्वयं उसीसे निकले थे। ये वेदों को प्रमाण मानने से इन्कार करते हैं, और जो बात सबसे बुनियादी है, वह यह है

कि ये आदि कारण के बारे में या तो मौन हैं या उससे इन्कार करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर जोर देते हैं और ब्रह्मचारी भिक्खुओं और पुरोहितों के संघ बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एक हद तक यथार्थवादी और बुनियादी दृष्टिकोण है, हालांकि जब अनदेखी दुनिया पर विचार करना हो, तो लाजिमी तौर पर यह दृष्टिकोण हमें बहुत आगे नहीं ले जाता। जैनधर्म का एक बुनियादी सिद्धांत है कि सत्य हमारे विचारों से सापेक्ष है। यह एक कठोर नीतिवादी और अपरोक्षवादी विचार-पद्धति है और इस धर्म में जीवन और विचार में तपस्या के पहलू पर जोर दिया गया है।

जैनधर्म के संस्थापक महावीर और बुद्ध समकालीन थे। दोनों ही क्षत्रिय वर्ण के थे। बुद्ध का ८० वर्ष की उम्र में, ईसा से ५४४ वर्ष पहले निर्वाण हुआ। तभी से बौद्ध-संवत् शुरू होता है। बौद्ध-साहित्य में यह लिखा है कि बुद्ध का जन्म वैशाख (मई-जून) महीने की पूर्णिमा को हुआ था, इसी तिथि को उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था और इसी तिथि को उनका निर्वाण भी हुआ था।

बुद्ध में प्रचलित धर्म, अंध-विश्वास, कर्म-कांड और यज्ञ आदि की प्रथा पर और इनके साथ जुड़े हुए निहित स्वार्थों पर हमला करने का साहस था। उन्होंने आधिभौतिक और परमार्थी दृष्टिकोण का, करामातों, अलौकिक व्यापार आदि का विरोध किया। पर उनका तर्क, बुद्धि और अनुभव पर आग्रह था, और उन्होंने नीति या सदाचार पर जोर दिया। उनका ढंग था मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का, और इस मनोविज्ञान में आत्मा को जगह नहीं दी गई थी। उनका दृष्टिकोण आधिभौतिक कल्पना की बासी हवा के बाद पहाड़ की ताजी हवा के हल्के थपेड़े-सा जान पड़ता है।

बुद्ध ने वर्णव्यवस्था पर कोई सीधा वार नहीं किया, लेकिन अपने संघ में उन्होंने इसे जगह नहीं दी और इसमें शक नहीं कि उनका सारा रुख और काम करने का ढंग ऐसा रहा कि उससे वर्ण-व्यवस्था को धक्का पहुंचा। शायद उनके समय में और कुछ सदियों बाद तक जाति या वर्ण-व्यवस्था बहुत तरल दशा में थी। यह स्पष्ट है कि जिस समाज

में जात-पांत के बंधन हों, वह विदेशों से व्यापार में, या दूसरे साहसी कामों में बहुत हिस्सा नहीं ले सकता, और फिर भी बुद्ध के पंद्रह सौ बरस बाद तक हम देखते हैं कि हिंदुस्तान और पड़ौसी मुल्कों के बीच व्यापार उन्नति कर रहा था, और हिंदुस्तानी उपनिवेशों की भी अच्छी स्थिति थी। पच्छिमोत्तर से विदेशी लोगों के आने का तांता बंधा रहा और ये लोग यहां की जनतो में समाविष्ट होते रहे।

जैनधर्म, जो स्थापित धर्म से विद्रोह करके उठा था, और बहुत तरह से उससे भिन्न था, जाति की ओर सहिष्णुता दिखाता था और स्वयं उससे मिल-जुल गया था। यही कारण है कि यह आज भी जीवित ह और हिंदुस्तान में जारी है। यह हिंदू-धर्म की करीव-करीब एक शाखा बन गया है। बौद्धधर्म, वर्ण-व्यवस्था न स्वीकार करने के कारण अपने विचार और रुख में अधिक स्वतंत्र रहा। अठारह सौ साल हुए ईसाई मत यहां आता है, और बस जाता है, और क्रमशः अपनी अलग जातें बना लेता है। मुसलमानी समाजी संगठन, बावजूद इसके कि उसमें इस तरह के भेदों का जोरदार विरोध हुआ है, इससे कुछ हद तक प्रभावित हुए बिना न रह सका।

हमारे ही जमाने में, जात-पांत की कठोरता को तोड़ने के लिए, बीच के वर्गवालों में बहुत-से आंदोलन हुए हैं और उनसे कुछ अंतर भी पैदा हुआ है, लेकिन जहांतक आम जनता का संवंध है कोई विशेष अंतर नही हुआ है। इन आंदोलनों का कायदा यह रहा है कि सीधे-सीधे हमला किया जाय। इसके बाद गांधीजी आये और उन्होंने इस मसले को हिंदुस्तानी तरीके पर हाथ में लिया—यानी घुमाव के तरीके से—और उनकी निगाह आम जनता पर रही। उन्होंने काफी सीधे तरीके पर भी वार किये हैं, काफी छेड़-छाड़ की है, काफी आग्रह के साथ इस काम में लगे रहे हैं, लेकिन उन्होंने चार वर्णों के मूल और बुनियाद में काम करनेवाले सिद्धांत को चुनौती नहीं दी। इस व्यवस्था के ऊपर और नीचे जो झ ड़-झंखाड़ उग आई है, उसपर उन्होंने हमला किया और यह जानतं हुए, कि इस तरह पर वह जात-पांत के समूचे ढड्ढे की जड़ काट रहे हैं। इसकी बुनियाद को उन्होंने अभी

ही हिला दिया है और आम जनता पर गहरा असर पड़ा है। उनके लिए तो ऐसा है कि या तो सारा ढड्ढा कायम रहे या सारा-का-सारा टूट जाये। लेकिन गांधीजी की शक्ति से भी बड़ी एक शक्ति काम कर रही है, और यह हैं हमारे वर्तमान जीवन की परिस्थितियां—और ऐसा जान पड़ता है कि अंततः प्राचीन काल के इस चिमटे रहनेवाले निशान का भी अंत होनेवाला है।

१७. बुद्ध की शिक्षा

बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—"सभी देशों में जाओ और इस धर्म का प्रचार करो। उनसे कहो कि गरीब और दीन, अमीर और कुलीन, सब एक हैं और इस धर्म में सभी जातें इस तरह आकर मिल जाती हैं जिस तरह नदियां समुद्र में जाकर मिलती हैं।" उनका संदेश सभी के लिए दया और प्रेम का संदेश था। क्योंकि "इस दुनिया में घृणा का अंत घृणा से नहीं हो सकता; घृणा प्रेम से ही जायगी।" और "आदमी को चाहिए कि क्रोध को दया के द्वारा और बुराई को भलाई के द्वारा जीते।"

भले काम करने का और अपने ऊपर संयम रखने का यह आदर्श था। "आदमी लड़ाई में हजार आदमियों पर विजय हासिल कर सकता है; लेकिन जो अपने ऊपर विजय पाता है, वही सबसे बड़ा विजयी है।" "जन्म से नहीं बल्कि कर्म से ही अ दमी शूद्र या ब्राह्मण होता है।" "जो पापियों से जान-बूझकर कड़े शब्द कहता है, वह मानो उनके पाप-रूपी घाव पर नमक छिड़कता है।" "विजय घृणा उपजाती है, क्योंकि विजित दुखी होता है।"

अपने इन सब उपदेशों में उन्होंने धर्म का प्रमाण नहीं दिया, न ईश्वर या किसी दूसरी दुनिया का हवाला दिया। वह बुद्धि और तर्क और अनुभव पर भरोसा करते हैं, और लोगों से कहते हैं कि सत्य को अपने मन के भीतर खोजो। कहा जाता है कि उन्होंने कहा—"किसी को मेरे बताये नियमों को आदर की वजह से न मान लेना चाहिए, उसकी परख पहले इस तरह कर लेनी चाहिए जैसे तपाकर सोने की परख की

जाती है।" सचाई के न जानने से सभी दुःख उपजते हैं। ईश्वर या परब्रह्म है या नहीं, इसके बारे में उन्होंने कुछ नहीं बताया है। न वह उसे स्वीकार करते हैं न उससे इन्कार। जहां जानकारी संभव नहीं, वहां हमें अपना निर्णय नहीं देना चाहिए। एक प्रश्न के उत्तर में, बताया जाता है कि बुद्ध ने यह कहा था—"अगर परब्रह्म से तात्पर्य है किसी ऐसी वस्तु से, जिसका सभी जानी हुई वस्तुओं से कोई संबंध नहीं, तो किसी तर्क से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह हम कैसे जान सकते हैं कि दूसरी चीजों से असंबद्ध चीज कोई है भी या नहीं? यह सारा विश्व—उसे हम जिस रूप में जानते हैं—संबंधों का एक सिलसिला है: हम कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो बिना संबंध के है या हो सकती है।" इसीलिए हमें अपने को उन वस्तुओं तक सीमित रखना चाहिए, जिनका हम अनुभव कर सकते हैं और जिनके बारे में हमें पक्की जानकारी है।

इसी तरह बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व के बारे में भी कुछ नहीं कहा है। वह इसे भी न स्वीकार करते हैं और न इससे इन्कार। लेकिन प्रकृति के नियम के स्थायित्व में, और एक व्यापक हेतुवाद में उनका विश्वास है, और इस तरह हरएक बाद की स्थिति अपने से पहले की स्थिति का नतीजा है, अच्छे काम का सुख से और बुरे काम का दुःख से स्वाभाविक संबंध है।

हम अनुभव की इस दुनिया में शब्दों या भाषा का प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि 'यह है' या 'यह नहीं है।' लेकिन जब हम सतही-पहलुओं के भीतर पैठते हैं, तो इनमें से एक भी, संभव है, सही न हो, और जो कुछ हो रहा है उसका वर्णन करने में हमारी भाषा ही अपर्याप्त हो। सत्य 'है' और 'नहीं है' के बीच में या इनसे परे कहीं भी हो सकता है। नदी बराबर बहती है और हर क्षण एक-सी मालूम पड़ती है फिर भी पानी बराबर बदलता रहता है। इसी तरह आग है। लौ जलती रहती है और अपना आकार भी बनाये रखती है, फिर भी वही लौ हमेशा नहीं रहती, बल्कि क्षण-क्षण में बदलती रहती है। इसी तरह जीवन बराबर बदलता रहता है और अपने सभी रूपों में वह

एक धारा की तरह है जिसे हम, 'होने की प्रक्रिया' कह सकते हैं। वास्तविकता कोई ऐसी चीज नहीं है जो बनी रहनेवाली और न बदलनेवाली हो, बल्कि वह एक प्रकाशवान शक्ति है, जिसमें तीक्ष्णता है, और गति है, और जो नतीजों का एक सिलसिला है। समय की धारणा "केवल एक कल्पना है, जो जिस-किसी घटना के आधार पर व्यवहार के लिए बना ली गई है।" हम यह नहीं कह सकते कि कोई एक चीज किसी दूसरी चीज के कारण है क्योंकि 'होने की प्रक्रिया' में कोई अंश ऐसा नहीं है जो स्थायी हो या न बदलनेवाला हो। किसी वस्तु का तत्त्व, उसमें निहित नियम में है जो उसे किसी दूसरी कहलाई जानेवाली वस्तु से जोड़ता है। हमारे शरीर और हमारी आत्माएं क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं; उनका अंत हो जाता है और उनकी जगह पर कोई दूसरी चीज़, जो उन्हीं जैसी, लेकिन उनसे भिन्न होती है, यह स्थान ले लेती है, और फिर वह भी चली जाती है। एक अर्थ में हम प्रतिक्षण मर रहे हैं और प्रतिक्षण फिर से जन्म ले रहे हैं, और यह क्रम एक अटूट अस्तित्त्व का आभास देता है। यह "एक सतत परिवर्तनशील अस्तित्त्व का सिलसिला" है। प्रत्येक वस्तु बस एक बहाव, मत और परिवर्तन है।

बुद्ध का ढंग मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का ढंग था, और यहां भी यह देखकर अचरज होता है कि आज के विज्ञान की नई-से-नई खोजों के कितने निकट उनकी सूझ-बूझ थी। आदमी के जीवन पर विचार और जांच विना किसी स्थायी आत्मा को माने हुए होती है, क्योंकि अगर किसी ऐसी आत्मा की सत्ता है भी, तो वह हमारी समझ से परे है—मन को शरीर का अंग, मानसिक शक्तियों का एक मिलावट समझा जाता था। इस तरह से व्यक्ति मानसिक स्थितियों की एक गठरी बन जाता है; "आत्मा विचारों का केवल एक प्रवाह है।" "जो-कुछ भी हम हैं, वह जो-कुछ भी हमने सोचा है, इसका परिणाम है।"

जीवन में जो दुःख और व्यथा है, उसपर जोर दिया गया है, और बुद्ध ने जिन 'चार बड़े सत्यों' का बखान किया है, उनमें ये दुःख, उसके कारण, उसे समाप्त करने की संभावना और उसके लिए उपाय बताये

गए हैं। अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए, कहा जाता है कि बुद्ध ने कहा था—"तुमने युगों के दौर में जब तुमने इस (दुःख) का अनुभव किया, तुम्हारी आंखों से इतना पानी बहा है; जब तुम इस (जीवन की) यात्रा में भटके हो, और तुमने शोक किया है, या तुम रोये हो—क्योंकि जिस वस्तु से तुम घृणा करते रहे हो वह तुम्हें मिली है, और जिस चीज की तुम इच्छा करते रहे हो वह तुम्हें नहीं मिली है, वह सब तुम्हारे आंसुओं का पानी चारों बड़े समुद्रों के पानी से अधिक रहा है।"

दुःख की इस हालत का अंत कर देने से 'निर्वाण' प्राप्त हो सकता है। 'निर्वाण' है क्या ? इसके बारे में लोगों में बड़ा मत-भेद रहा है, क्योंकि एक ऐसी हालत का, जो अनुभव से परे है, किस तरह से हमारे सीमित मस्तिष्क की भाषा में वर्णन हो सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह केवल विनाश हो जाना है, बुझ जाना है। लेकिन बुद्ध ने, कहा जाता है कि, इससे इन्कार किया है और यह बताया है कि यह एक अत्यंत क्रियाशीलता की अवस्था है। यह झूठी इच्छाओं के मिट जाने की हालत है, न कि अपने मिट जाने की।

बुद्ध का वताया हुआ रास्ता मध्यम-मार्ग है, और यह अपने को यातना देने और विलास में डुवा देने के बीच का रास्ता है। शरीर को कष्ट देने के अनुभव के बाद उन्होंने कहा है कि जो आदमी अपनी शक्ति खो बैठता है, वह ठीक रास्ते पर नहीं चल सकता।

कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने हाथ में कुछ सखी पत्तियां लेकर अपने प्रिय शिष्य आनंद से पूछा कि हाथ की इन पत्तियों के अतिरिक्त क्या और भी कहीं पत्तियां हैं ? आनंद ने जवाब दिया—"पतझड़ की पत्तियां सभी तरफ गिर रही हैं, और वह इतनी हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।" तब बुद्ध ने कहा—"इसी तरह मैंने तुम्हें मुट्ठी-भर सत्य दिये हैं, लेकिन इनके अलावा कई हजार और सत्य हैं, इतने कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।"

१८ : बुद्ध की कहानी

बुद्ध की कहानी ने मुझे शुरू बचपन में ही आकर्षित किया था और

में युवा सिद्धार्थ की तरफ खिंचा था, जिसने बहुत-से अंतर्द्वंदों, दुःख, और यातना के बाद बुद्ध का पद प्राप्त किया था। एडविन आर्नल्ड की किताब 'लाइट ऑफ एशिया' मेरी एक प्रिय पुस्तक बन गई। बाद में जब मैंने अपने प्रांत में बहुत से दौरे किये, तब मैं बुद्ध की कथा से संबंध रखनेवाली बहुत-सी जगहों पर, अपने यात्रा-मार्ग से हटकर भी, जाना पसंद करता था। इनमें से अधिक स्थान या तो मेरे ही सूबे में हैं या उसके निकट हैं। यहीं (नेपाल की सरहद पर) बुद्ध का जन्म हुआ, यहीं वह घूमते-फिरते रहे, यहीं (गया बिहार में) उन्होंने बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया, यहीं उन्होंने अपना पहला उपदेश दिया, यहीं वह मरे।

जब मैं उन देशों में गया, जहां बौद्धधर्म अब भी एक जीता-जागता और खास धर्म है, तब मैंने जाकर मंदिरों और मठों को देखा और भिक्षुओं और आम लोगों से मिला, और यह जानने की कोशिश की कि बौद्धधर्म ने जनता के लिए क्या किया। बौद्धधर्म के बुद्धिवादी नैतिक सिद्धांतों पर इतना कूड़ा-करकट जमा हो गया है, इतने कर्म-कांड, इतने विधि-विधान, और बुद्ध की शिक्षा के बावजूद, इतने आधिभौतिक सिद्धांत और जादू-टोना तक इकट्ठा हो गया है, कि क्या कहा जाय। और बुद्ध के सतर्क कर देने पर भी उन्हें ईश्वर माना गया है, और उनकी बड़ी-बड़ी मूर्त्तियां बन गई हैं, जिन्हें मैंने मंदिरों में और और जगहों में, अपने सिर की ऊंचाई से भी ऊपर स्थापित देखा है। बहुत-से भिक्षु अनपढ़ लोग हैं, बल्कि घमंडी हैं, क्योंकि वे यह चाहते हैं कि उनके सामने माथा झुकाया जाय—अगर उनके सामने नहीं, तो उनके भेस के सामने।

लेकिन मैंने बहुत-कुछ ऐसा भी देखा जिसे कि मैंने पसंद किया। कुछ मठों में और उनसे लगे हुए विद्यालयों में ध्यान और शांति से अध्ययन करने का वातावरण था। बहुत से भिक्षुओं के चेहरों पर शांति और सौम्यता मिली, और ओज और दया और तटस्थता का भाव मिला, और संसार की चिंताओं से मुक्ति दिखाई दी।

जान पड़ता है कि बुद्ध की वह कल्पना, जिसे अनगिनत प्रेम-

पूर्ण हाथों ने, पत्थर और संगमरमर और कांसे में, गढ़कर साकार किया है, हिंदुस्तानियों के विचारों और भावों की प्रतीक है, या कम-से-कम उसके एक जिंदा पहलू की प्रतीक है। कमल के फूल पर शांत और धीर, वासनाओं और इच्छाओं से परे, इस दुनिया के तूफान और कशमकश से दूर, वह इतने ऊपर, इतने दूर मालूम पड़ते हैं कि जैसे पहुंच से बाहर हों। लेकिन जब फिर उन्हें देखते हैं, तो उस शांत अडिग आकृति के पीछे एक आवेग और मनोभाव जान पड़ता है, जो अनोखा है और उन आवेगों और मनोभावों से, जिनसे हम परिचित हैं, ज्यादा जोरदार है। उनकी आंखें मुंदी हुई हैं, लेकिन चेतना की कोई शक्ति उनके भीतर से दिखाई देती है और शरीर में एक जीवन-शक्ति भरी हुई जान पड़ती है। युग-पर-युग बीतते हैं, फिर भी बुद्ध इतने दूर के नहीं जान पड़ते; उनकी वाणी हमारे कानों में कुछ धीमे स्वर से कहती जान पड़ती है और यह बताती है कि हमें संघर्ष से भागना नहीं चाहिए, बल्कि धीर नेत्रों से उसका सामना करना चाहिए. और जिंदगी में विकास और तरक्की और, और भी बड़े अवसरों को देखना चाहिए।

सदा की तरह आज भी व्यक्तित्व का असर है, और जिस व्यक्ति ने इंसान के विचारों पर अपनी वह छाप डाली हो, जो बुद्ध ने डाली, जिसमें कि आज भी हम उनकी कल्पना में कोई जीती-जागती, थर्राहट पैदा करनेवाली चीज पाते हैं, वह व्यक्ति बड़ा ही अद्‌भुत रहा होगा—ऐसा आदमी, जो बार्थ के शब्दों में, "शांत और मधुर प्रभुता की सजी हुई मूर्त्ति था, जिसमें सभी प्राणियों के लिए अपार करुणा थी, जिसे पूरी नैतिक स्वतंत्रता मिली हुई थी और जो सभी तरह के पक्षपात से अलग था।" और उस कौम और जाति में, जो ऐसे विशाल नमूने पेश कर सकती है, बुद्धिमानी और भीतरी ताकत का कैसा गहरा संचय होगा?

१९ : चंद्रगुप्त और चाणक्य : मौर्य-साम्राज्य की स्थापना

धीरे-धीरे बौद्धधर्म हिंदुस्तान में फैल गया; इसके नैतिक और लोकतंत्री पहलू, और विशेषकर पुरोहिताई और कर्म-कांड के विरोध, आम लोगों को पसंद आये। लेकिन आमतौर पर ब्राह्मणों ने इसका

विरोध किया और बौद्धों को नास्तिक और स्थापित धर्म के विरुद्ध विद्रोह करनेवाला बताया। ढाई सदी बाद सम्राट् अशोक ने इस धर्म में दीक्षा ली और शांति के साथ इस धर्म का हिंदुस्तान में और बाहर प्रचार करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी।

इन दो सदियों में हिंदुस्तान में बहुत-से परिवर्तन हुए। जातीय में ऐक्य स्थापित करने की और छोट-छोट राज्यों, रजवाड़ों तथा गण-राज्यों को मिलाकर एक रूप देने की बहुत-सी प्रक्रियाएं बहुत दिनों से जारी थीं; एक संयुक्त केंद्रीय राज्य स्थापित करने की पुरानी प्रेरणा भी काम कर रही थी, और इन सबका परिणाम यह हुआ कि एक शक्ति-शाली शानदार साम्राज्य स्थापित हो गया। पच्छिमोत्तर में होने-वाले और सिकंदर के आक्रमण ने इस विकास को और भी आगे ढकेलने में मदद दी, और दो ऐसे मार्के के आदमी सामने आये जिन्होंने इस बदलती हुई हालत से लाभ उठाया और उसे अपनी इच्छा के अनुकूल ढाल लिया। ये थे—चंद्रगुप्त मौय और उनके मित्र, मंत्री और सलाहकार ब्राह्मण चाणक्य। इनके मेल से खूब काम चला। दोनों ही नंदों क मगध राज्य से, जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र (आधु-निक पटना) थी निकाले हुए थे, दोनों ही पच्छिमोत्तर से तक्षशिला पहुंचे और वहां सिकंदर क नियुक्त यूनानियों के संपर्क में आये। चंद्र-गुप्त सिकंदर से स्वयं मिला; उसकी विजयों और शान-शौकत का हाल सुना, और उसीकी बराबरी करने का उसके मन में हौसला पैदा हुआ। दोनों देख-भाल और तैयारी में लगे रहे। उन्होंने बड़े ऊंचे मनसूबे बांधे और अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में रहे।

जल्द ही उन्हें बाबुल से, सिकंदर के (३२३ ई० पू० में) मरने की खबर मिली, और तुरंत चंद्रगुप्त और चाणक्य ने राष्ट्रीयता का पुराना और सदा नया नारा बुलंद किया। यूनानियों की संरक्षक सेना तक्षशिला से भगा दी गई। राष्ट्रीयता की पुकार ने चंद्रगुप्त को बहुत-से साथी दिये, और उन्हें साथ लेकर, उत्तरी हिंदुस्तान पार करते हुए, उसने पाटलिपुत्र पर धावा कर दिया! सिकंदर की मृत्यु के दो साल

के भीतर ही उसने इस शहर पर और राज्य पर अधिकार कर लिया और मौर्य-साम्राज्य की स्थापना हो गई।

सिकंदर के सेनापति सेल्यूकस ने, जिसने अपने स्वामी की मृत्यु के बाद एशिया माइनर से लेकर हिंदुस्तान तक के प्रदेश पर उत्तराधिकार पाया था, पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान पर फिर से हुकूमत कायम करना चाही और उसने अपनी फौज लेकर सिंधु नदी पार कर ली। वह परास्त हुआ, और काबुल और हिरात तक अफ़गानिस्तान का एक हिस्सा उसे चंद्रगुप्त को देना पड़ा, और उसने अपनी लड़की भी चंद्रगुप्त के साथ ब्याह दी। दक्खिन हिन्दुस्तान को छोड़कर, सारे हिंदुस्तान पर—अरब समुद्र से लेकर बंगाल की खाड़ी तक—चंद्रगुप्त का साम्राज्य फैला हुआ था, और उत्तर में यह काबुल तक पहुंचता था। लिखित इतिहास में यह पहला अवसर था कि हिन्दुस्तान में एक केंद्रीय शासन इतने बड़े पैमाने पर बना। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

यह नया शासन था कसा ? सौभाग्य से इसके पूरे-पूरे हाल हमें मिलते हैं, हिंदुस्तानियों के लिखे हुए भी और यूनानियों के भी। मेगस्थनीज ने, जो सेल्यूकस का भेजा हुआ राजदूत था, वृतांत लिखा है और उससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि कौटिल्य के 'अर्थंश स्त्र' में, जो राज्यनीति-शास्त्र पर एक पुस्तक है, हमें उसी काल का लिखा हुआ हाल मिलता है। कौटिल्य चाणक्य का ही दूसरा नाम है, और इस तरह हमें एक ऐसी पुस्तक देखने को मिलती है, जिसका लिखनेवाला न केवल एक विद्वान् था, बल्कि जिसने साम्राज्य के स्थापित करने, उसे उन्नति देने और उसकी रक्षा में बहुत बड़ा हिस्सा लिया था। चाणक्य को हिंदुस्तान का मैकियाविली कहा गया है, और कुछ हद तक यह तुलना उचित भी है। लेकिन हर अर्थ में वह उसके मुकाबले में बहुत बड़ा आदमी था—मस्तिष्क में भी और काम में भी। वह एक राजा का केवल समर्थक अथवा एक शक्तिशाली सम्राट् का दीन सलाहकार न था। हिंदुस्तान के एक पुराने नाटक—मुद्राराक्षस में, जो उस समय का हाल वर्णन करता है, उसका चित्र हमें मिलता है। साहसी और षड्यंत्री, गर्वीला

और बदला लेनेवाला, अपमान को कभी न भूलनेवाला, अपने उद्देश्य पर बराबर डटा रहनेवाला, दुश्मन को धोखे में डालने और हराने की सभी तरह की तरकीबों को काम में लानेवाला—इस रूप में हम उसे एक साम्राज्य की बागडोर को हाथ में लिये देखते हैं; और वह सम्राट को अपने मालिक की तरह नहीं, बल्कि एक प्रिय शिष्य की तरह देखता है। अपने जीवन में सीधा-सादा और तपस्वी, ऊंचे पद की शान-शौकत में रुचि न लेनेवाला है; और जब उसका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है, तो वह काम से छुट्टी पा लेना चाहता है और ब्राह्मण की तरह, मनन का जीवन बिताना चाहता है। कहते हैं कि चाणक्य ने, अपने ऊंचे पद की मुहर को, स्वयं ही उस विपक्षी के मंत्री के सिपुर्द कर दिया था, जिसकी बुद्धिमानी और राजभक्ति का चाणक्य पर बड़ा असर पड़ा था। इस तरह से यह कथा हार और अपमान की कड़ुवाहट के साथ नहीं, बल्कि समझौते के साथ और राज्य की दृढ़ और बनी रहनेवाली बुनियाद के रखने के साथ, समाप्त होती है, जिसमें बरी की हार ही नहीं होती है, बल्कि उसे दिल से भी अपने में मिला लिया जाता है।

२० : राज्य का संगठन

यह नया राज्य, जो ३२१ ई० पू० में कायम हुआ और हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से पर और उत्तर में ठीक काबुल तक फला, आखिर था कैसा राज्य? यह एक निरंकुश शासन था, और ऊपर के सिरे पर हम इसमें तानाशाही पाते हैं, जैसाकि अधिकतर साम्राज्यों में रहा ह और अब भी है। शहरों और गांवों की इकाइयों में बहुत कुछ स्थानीय स्वायत्तता थी और चुने हुए बुजुर्ग इन स्थानीय मामलों की देख-भाल किया करते थे। इस स्थानीय स्वराज्य की बड़ी कद्र थी, और शायद ही किसी राजा या सबसे बड़े शासक ने इसमें दखल दिया हो। फिर भी, केंद्रीय शासन का असर था और उसके तरह-तरह के काम सभी जगह देखने में आते थे,और कुछ अर्थों में यह मौर्य-शासन ऐसा था कि आधुनिक तानाशाहियों की याद दिलाती है। उस शुद्ध कृषि-युग में राज्य व्यक्ति पर, उस तरह की बंदिशें, जैसी आजकल दिखती हैं,

लगा नहीं सकता था। लेकिन सब सीमाओं के बावजूद, जिंदगी पर रोक लगाने की और उसे नियंत्रित करने की कोशिशें हुईं। यह शासन केवल पुलिस शासन न था जिसका उद्देश्य बाहरी और भीतरी शांति कायम रखना और लगान वसूल करना रहा हो।

एक काफी फैली हुई और कड़ी नौकरशाही थी और खुफ़िया विभाग के वर्णन अक्सर मिलते हैं। खेती पर बहुत तरीकों से नियंत्रण लगे हुए थे, और यही हालत सूद के दर की थी। खाने की चीजों, मंडियों, कारखानों, कसाईखानों, पशुओं की नस्लकशी, पानी के हकों, शिकार, वेश्याओं और शराबखानों पर बंदिशें लगी हुई थीं, और इनकी नियमित जांच हुआ करती थी। मापें और तौलें सब जगहों के लिए एक-सी कर दी गई थीं। खाने की चीजों के भरने और उनमें मिलावट करने पर कड़ी सजाएं मिलती थीं। व्यापार पर कर लगा हुआ था और इसी तरह धर्म के कामों पर भी। नियमों का पालन न हुआ या और कोई अपराध हुआ तो मंदिरों का धन जब्त कर लिया जाता था। अगर अमीर लोग ग़बन करते या कौमी संकटों से फायदा उठाते, तो उनकी जायदाद जब्त कर ली जाती। सफाई का प्रबंध किया जाता था और अस्पताल खुले हुए थे और खास-खास केंद्रों पर वैद्य नियुक्त रहते थे। सरकार की तरफ से विधवाओं, यतीमों, बीमारों और कमजोरों की मदद दी जाती थी। अकाल से बचाने की खास जिम्मेदारी शासन की होती थी और सरकार के भंडारों में जो-कुछ भी गल्ला होता, उसका आधा केवल इसलिए बचा रखा जाता था कि अकाल के जमाने में काम आवे।

चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में अनेकानेक विषयों का बयान हुआ है—व्यापार और वाणिज्य, कानून और न्यायालय, म्यूनिसियल व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज, विवाह और तलाक, औरतों के अधिकार, राज्य-कर और लगान, खेती, खानों और कारखानों का चलाना, व्यवसायी मंडियां, बागबानी, उद्योग-धंधे, आबपाशी और जल-मार्ग-जहाज और जहाजरानी, निगम, मर्दुमशुमारी, मछली पकड़ने का धंधा, कसाईखाने, पासपोर्ट, और कैदखाने। विधवा का पुनर्विवाह मान्य है, और किन्हीं खास हालतों में तलाक भी। चीन के बने

रेशमी कपड़े, चीन-पट्ट, का हवाला मिलता है और इस कपड़े में और हिंदुस्तान के बने रेशम के कपड़े में फर्क बताया गया है।

साम्राज्य में व्यापार खूब होता था और दूर-दूर जगहों के बीच चौड़ी सड़कें बनी हुई थीं। इस विशाल साम्राज्य में बहुत-से, बड़ी आबादी-वाले शहर थे, लेकिन उन सबमें बड़ा शहर पाटलिपुत्र था, जो राजधानी था, और यह आलीशान शहर गंगा और सोन के संगम पर (वर्तमान पटना) बसा हुआ था। मेग स्थनीज ने इसका यों बयान किया है : "इस नदी (गंगा) और एक दूसरी नदी के संगम पर पालि बोथ्र बसा हुआ है—जो कि अस्सी स्टेडिया (९.२ मील) लंबा और पंद्रह स्टेडिया (१७ मील) चौड़ा है। इसकी शक्ल समचतुष्कोण की है और यह लकड़ी की चारदीवारी से घिरा हुआ है, जिसमें तीर चलाने के लिए संदें बनी हुई हैं। सामने इसके एक खाई है, जो हिफाजत के लिए है और जिसमें शहर का गंदा पानी पहुंचता है। यह खाई, जो चारों तरफ घूमी हुई है, चौड़ाई में ६०० फीट है, और गहराई में ३० हाथ; और दीवाल पर ५७० बुर्जे हैं, और उसमें ६४ फाटक हैं।"

यह दीवाल ही लकड़ी की नहीं थी, बल्कि ज्यादातर घर भी लकड़ी के थे। स्पष्ट है कि यह भूकंप से बचाव के लिए था, क्योंकि उस प्रदेश में भूकंप अक्सर आते रहे हैं। पाटलिपुत्र में, लोगों की चुनी हुई म्यूनिसिपल सभा भी थी। इसके ३० सदस्य थे, और वह पांच-पांच की ६ समितियों में बंटे हुए थे और इनके हाथ, व्यापार, दस्तकारी, मौत और पैदाइश, उद्योग-धंधों, यात्रियों वगैरह के प्रबंध थे। रुपए-पैसे, सफाई, पानी पहुंचाना, सार्वजनिक इमारतों और बगीचों की देख-भाल पूरी नगर-सभा के जिम्मे थी।

२१ : अशोक

हिंदुस्तान और पच्छिमी दुनिया से जो संपर्क चंद्रगुप्त मौर्य ने कायम किये थे, वह उसके बेटे बिंदुसार के लंबे राज्य-काल में बने रहे। पाटलिपुत्र के दरबार में, मिस्र के टोलमी और पच्छिमी एशिया के

सेल्यूकस निकाटोर के बेटे और उत्तराधिकारी ऐंटिओकस के यहां से एलची आते रहे। चंद्रगुप्त के पोते अशोक ने यह संपर्क और भी बढ़ाया और इसके जमाने में हिंदुस्तान एक महत्व का अंतर्राष्ट्रीय केंद्र बन गया—खासतौर से बौद्धधर्म के तेजी से बढ़ते हुए प्रचार की वजह से।

२७३ ई० पू० में अशोक इस बड़े साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। इससे पहले वह पश्छिमोत्तर सूबे में, जहां की राजधानी, अपने विद्यापीठ के लिए मशहूर, तक्षशिला थी, राजा के प्रतिनिधि के रूप में रह चुका था। उस समय ही साम्राज्य के भीतर हिंदुस्तान का ज्यादातर हिस्सा आ गया था और यह ठीक मध्य-एशिया तक फैला हुआ था। सिर्फ दक्खिन-पूरब और दक्खिन का एक हिस्सा इनमें नहीं आ पाया था। सारे हिंदुस्तान को एक शासन के मातहत ले आने के पुराने सपने ने अशोक को उकसाया, और उसने पूरबी समुद्र-तट के कलिंग प्रदेश को जीतने की ठानी। यह प्रदेश मोटे ढंग से आजकल के उड़ीसा और आंध्र देश का एक हिस्सा मिलाकर बनेगा। कलिंग के लोगों के बहादुरी से मुकाबला करने के बावजूद अशोक की सेना जीत गई। इस लड़ाई में भयानक मारकाट हुई और जब अशोक के पास समाचार पहुंचे तो उसे बड़ा पछतावा हुआ और युद्ध से उसका जी फिर गया। विजयी सम्राटों और इतिहास के नेताओं के बीच वह अकेला व्यक्ति है जिसने विजय के क्षण में यह निश्चय किया कि वह आगे युद्ध न करेगा। सारे हिंदुस्तान ने उसका अ धिपत्य स्वीकार कर लिया—सिवाय धुर दक्खिन के एक टुकड़े के, जिसे वह इच्छा करने भर से अपने अधिकार में ला सकता था। लेकिन उसने अपने राज्य को बढ़ाया नहीं, और बुद्ध की शिक्षा के असर में उसका मन दूसरी ही तरह की विजयों और साहसी कामों की तरफ फिरा।

अशोक के क्या विचार थे, और उसने क्या किया, यह हम उसके ही शब्दों में. उन बहुत-से आदेशों में जो उसने जारी किये थे और जोकि पत्थरों और धातुओं पर अंकित किये गए थे, जानते हैं। उसके एक आदेश में यह कहा गया है :

"परम पवित्र प्रियदर्शी सम्राट् ने अपने राज्य के आठवें वर्ष में

कलिंग को जीता। एक लाख पचास हजार आदमी वहां से कैदी के रूप में लाये गए; एक लाख आदमी वहां पर मारे गए और इस संख्या के कई गुने लोग और मरे।

"कलिंग के साम्राज्य में मिल जाने के ठीक बाद ही प्रियदर्शी सम्राट् का अहिंसा-धर्म का पालन करना, उस धर्म से प्रेम और उसका प्रचार शुरू होता है। इस तरह प्रियदर्शी सम्राट् का कलिंग-विजय पर पश्चात्ताप उदय होता है, क्योंकि न जीते गए देश के जीते जाने के साथ ही हत्याएं और मौतें होती हैं और लोग बंदी करके ले जाये जाते हैं। यह प्रियदर्शी सम्राट् को महान् शोक पहुंचानेवाली बात है।"

इस अद्भुत शासक ने, जिसे कि अबतक हिंदुस्तान में और एशिया के दूसरे हिस्सों में प्रेम के साथ याद किया जाता है, बुद्ध के सत्कर्म और सद्भाव की शिक्षा के फैलाने में, और जनता के हित के कामों में अपने को पूरी तरह लगा दिया। "सब समय और सब तरह, चाहे मैं खाना खाता होऊं, चाहे रनिवास में होऊं, चाहे अपने शयन में रहूं, या स्नान में, सवारी पर रहूं या महल के बाग में, सरकारी कर्मचारी, जनता के कार्यों के बारे में मुझे बराबर सूचना देते रहें।'. . . . जिस समय भी हो, और जहां भी हो, मैं लोक-हित के लिए काम करूंगा।"

उसके दूत और एलची सीरिया, मिस्र, मैसिडोनिया, साइरीन और एपाइरस तक बुद्ध के संदेश और उसकी शुभ कामनाओं को लेकर पहुंचे। वह मध्य-एशिया भी गए, और बरमा और स्याम भी, और उसने स्वयं अपने बेटे और बेटी, महेंद्र और संघमित्रा को दक्खिन में लंका भेजा। सभी जगह मस्तिष्क और हृदय को फेरने के प्रयत्न हुए; कोई बल या जोर का प्रयोग नहीं किया गया। स्वयं कट्टर बौद्ध होते हुए भी उसने दूसरे धर्मों के लिए आदर का भाव दिखाया। एक आदेश में उसने यह विज्ञापित किया—"सभी मत, किसी-न-किसी कारण, आदर पाने के अधिकारी हैं। इस तरह का व्यवहार करने से आदमी अपने मत की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है, साथ ही वह दूसरे मतों और लोगों की सेवा करता है।"

बौद्धधर्म, हिंदुस्तान में, काश्मीर से लेकर लंका तक, बड़ी तेजी

के साथ फैला। यह नेपाल में भी पैठा, और बाद में तिब्बत और चीन और मंगोलिया तक पहुंचा। हिंदुस्तान में इसका एक परिणाम यह हुआ कि शाकाहार बढ़ा और शराब पीने से लोग बचने लगे। उस वक्त तक ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही मांस खाया करते थे और शराब पीते थे। पशुओं का बलिदान रोक दिया गया।

विदेशों से संपर्क होने और धर्म के प्रचारकों के बाहर जाने का नतीजा यह अवश्य हुआ होगा कि हिंदुस्तान और बाहर के मुल्कों में व्यापार बढ़ा हो। खुतन (अब मध्य-एशिया में सिन-क्यांग) में हिंदुस्तानियों के एक उपनिवेश का वर्णन हमें प्राप्त हुआ है। हिंदुस्तान के विद्यापीठों में खासतौर से तक्षशिला में बाहर से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे।

अशोक एक बड़ा निर्माता भी था, उसके पाटलिपुत्र के महल की बहुत से खंभोंवाली एक इमारत के कुछ हिस्सों को कोई तीस साल हुए, पुरातत्त्वज्ञों ने खोदकर निकाला था। हिंदुस्तान के पुरातत्त्व विभाग के डा० स्पूनर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है कि "यह ऐसी सुरक्षित हालत में पाई गई है कि विश्वास नहीं होता है। इसमें लगी हुई शहतीरें वैसी ही चिकनी और ठीक हालत में हैं, जैसीकि वे उस दिन रही होंगी जबकि वे लगाई गई थीं, यानी दो हजार से ज्यादा साल पहले।" आगे चलकर वह यह भी लिखते हैं कि "पुरानी लकड़ी की ऐसी रक्षा—उनके किनारे इतने सही-सही और पक्के थे, कि उनके जोड़ों की लकीरों तक का पता न चलता था—देखकर सभी देखनेवालों की हैरत का ठिकाना न था। सब-की-सब चीजें ऐसी सफाई और होशियारी से बनी थीं कि उनसे अच्छा काम आज भी हो सकना मुमकिन नहीं है... संक्षेप में यह कि बनावट इतनी पक्की थी जितनी कि इस तरह के कामों में हो सकती है।"

अशोक की मृत्यु ईसा से पहले २३२वें साल में हुई, जबकि वह इकतालीस साल राज कर चुका था। इसके बारे में एच० जी० वेल्स ने अपनी 'आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री' में लिखा है—"बादशाहों के दसियों हजार नामों में, जिनसे कि इतिहास के पृष्ठ भरे हुए हैं, जिनमें बड़े-बड़े

महाराजे, और महामहिम और सम्राट् हैं, अशोक का नाम अकेला चमक रहा है और इस तरह से चमक रहा है जैसे कोई सितारा हो। वोल्गा से लेकर जापान तक उसका नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और हिंदुस्तान भी (जहां उसकी शिक्षाएं यद्यपि त्याग दी गई हैं) उसके बड़प्पन की परंपरा की रक्षा करते हैं। आज के जितने जीवित व्यक्ति उसकी स्मृति को बनाए हुए हैं, उतने लोगों ने कांस्टैंटाइन और शार्लमेन के नाम कभी सुने भी न होंगे।"

: ३ :

युगों का चक्र

१ : गुप्तकाल में राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद

मौर्य-साम्राज्य का अंत हुआ और उसकी जगह शुंग-वंश ने ली। इसका राज्य उसकी अपेक्षा बहुत छोटे क्षेत्र पर था। दक्खिन में बड़े-बड़े राज्य उठ रहे थे और उत्तर में बाख्त्रीय हिंदी यूनानी काबुल से पंजाब तक फैल गए थे। मेनांडर के नेतृत्व में उन्होंने पाटलिपुत्र तक पर हमला किया, लेकिन मार भगाये गए। स्वयं मेनांडर पर हिंदुस्तान के रंग-ढंग और वातावरण का असर पड़ा और वह बौद्ध बन गया, और वह एक प्रसिद्ध बौद्ध हुआ। आम बौद्ध-परंपरा में यह राजा मिलिंद कहलाया और इसे संत-जैसा ही माना गया है। हिंदुस्तानी और यूनानी संस्कृतियों के मेल-जोल से गंधार की अर्थात् अफगानी सरहदी सूबे की यूनानी बौद्ध-कला का जन्म हुआ।

मध्य हिंदुस्तान में, सांची के निकट, बेसनगर में एक पत्थर की लाट है, जो हैलिओडोरस की लाट के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका समय ईसा पूर्व पहली सदी है। इसपर संस्कृत में एक लेख खुदा हुआ है। इससे हमें इस बात की झलक मिलती है कि किस तरह यूनानी, जो हिंदुस्तान की सरहद पर आये थे, हिंदुस्तानी बन रहे थे और हिंदुस्तानी संस्कृति में समाविष्ट हो रहे थे।

कुषाणों के समय में, बौद्धधर्म दो टुकड़ों में बंट गया—एक महायान और दूसरा हीनयान कहलाया—और दोनों में बड़े विवाद होते थे और बड़ी-बड़ी सभाओं में, जिनमें सारे हिंदुस्तान से प्रतिनिधि इकट्ठे होते थे, झगड़े के विषयों को लेकर बहसें हुआ करती थीं। इन विवादों में एक नाम बहुत आगे आता है, वह है नागार्जुन का, जो पहली सदी ईसवी में हुआ था। यह बौद्ध-शास्त्रों का और हिंदुस्तानी दर्शन का बहुत

वड़ा ज्ञाता था, और इसीकी वजह से हिंदुस्तान में महायान-मत की जीत हुई। महायान के ही सिद्धांत चीन में फैले। लंका और वरमा हीनयान के सिद्धांतों को मानते रहे।

कुषाण हिंदुस्तानी वन गए थे और हिंदुस्तानी संस्कृति के संरक्षक थे। फिर भी राष्ट्रीय विरोध की धारा भीतर-भीतर इस शासन के विरुद्ध चल रही थी और जव बाद में नई जातियां हिंदुस्तान में आईं, तब इस राष्ट्रीय और विदेशियों का विरोध करनेवाले आंदोलन ने चौथी सदी ईसवी में एक रूप ग्रहण कर लिया। एक-दूसरे बड़े शासक ने, जिसका नाम भी चंद्रगुप्त था, नये आक्रमणकारियों को मार भगायाऔर एक शक्तिशाली और विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर लिया।

इस तरह से साम्राज्यवादी गुप्तों का समय, ३२० ई० में आरंभ होता है, जिसमें एक-के-वाद-एक कई वड़े शासक पैदा होते हैं, जो न केवल युद्ध में विजयी होते हैं, वल्कि शांति की कलाओं में भी सफलता दिखाते हैं। वार-वार के हमलों ने विदेशियों के विरुद्ध एक दृढ़ भावना पैदा कर दी थी। और देश के पुराने ब्राह्मण-क्षत्रिय इस बात पर विवश हुए कि अपने देश की और संस्कृति की रक्षा के लिए कुछ करें। इस बात की कोशिश की गई कि पुराने ब्राह्मण-आदर्शों की नींव पर एक संगठित शासन स्थापित किया जाय।

धर्म और दर्शन, इतिहास और परंपरा, रीति-रिवाज और सामाजिक व्यवस्था, जो उस काल के हिंदुस्तान के जीवन को अपने घेरे में लिये हुए थी और जिसे ब्राह्मण-धर्म या (वाद में व्यवहार में आये हुए शब्द द्वारा) हिंदू-धर्म कह सकते हैं, इस राष्ट्रीयता का प्रतीक बना। यह वास्तव में एक राष्ट्रीय धर्म था और यह सब उन जातीय और सांस्कृतिक गहरी भावनाओं के अनुकूल था, जो आज सब जगह राष्ट्रीयता की नींव में हैं। बौद्धधर्म की भी, जो हिंदुस्तानी विचार से उपजा था, अपनी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि थी। उसके लिए हिंदुस्तान वह देश था जहां बुद्ध रहते थे, उन्होंने उपदेश दिया था और जहां वह मरे थे। लेकिन मूल में बौद्ध-धर्म अंतर्राष्ट्रीय था, सारी दुनिया का धर्म था, और जैसे-जैसे इसने विकास पाया और फैला, तैसे-तैसे यह अधिकाधिक अंतर्राष्ट्रीय

होता गया। इस तरह पुराने ब्राह्मण-धर्म के लिए यह स्वाभाविक था कि वह बार-बार राष्ट्रीय जागृतियों का प्रतीक बने।

चौथी सदी से लेकर कोई डेढ़ सौ साल तक गुप्त-वंश ने उत्तर में एक बड़े शक्तिशाली और संपन्न राज्य के ऊपर शासन किया। करीब डेढ़ सौ साल तक और उनके उत्तराधिकारी यह राज्य चलाते रहे, लेकिन वे अपनी रक्षा करने में लगे रहे और उनका साम्राज्य सिमटता और क्रमशः छोटा होता रहा। मध्य-एशिया से नये आक्रमणकारी हिंदुस्तान में उतर रहे थे और इसपर हमले कर रहे थे। ये लोग श्वेत हूण थे और इन्होंने देश में लूट-मार की, उसी तरह जिस तरह कि ऐटिला यूरोप में कर रहा था। उनके बर्बर व्यवहार और पैशाचिक निर्दयता ने अंततः लोगों को जगाया और यशोवर्धन के नेतृत्व में मिल-जुल-कर लोगों ने उनपर हमला किया। हूणों की शक्ति तोड़ दी गई और उनके नेता मिहिरगुल को कैद कर लिया गया। लेकिन गुप्तों के वंशज, बालादित्य ने, अपने देश की परंपरा के अनुसार, उसके साथ उदारता का व्यवहार किया, और उसे हिंदुस्तान से वापस जाने दिया। मिहिरगुल ने इस बर्ताव का यह बदला दिया कि बाद में वह फिर लौटा और उसने अपने कृपैषी पर कपट से हमला किया।

लेकिन हिंदुस्तान में हूणों का राज्य थोड़े दिनों का था—कोई आधी सदी का। कन्नौज के राजा हर्षवर्द्धन ने उन्हें कुचल दिया और बाद में उसने एक शक्तिशाली राज्य का स्वयं संगठन किया, जो सारे उत्तरी हिंदुस्तान और मध्य-एशिया तक फैला हुआ था। वह बड़ा उत्साही बौद्ध था, लेकिन उसका मत, महायानी बौद्धधर्म था, जो बहुत-कुछ हिंदू-धर्म के निकट था। उसने बौद्धधर्म और हिंदूधर्म दोनोंकी ही मदद की। इसीके समय में मशहूर चीनी यात्री ह्वेनत्सांग हिंदुस्तान में (६२९ ई० में) आया था। हर्षवर्द्धन कवि और नाटककार भी था और इसके दरबार में बहुत-से कलाकार और कवि रहते थे और इसकी राजधानी सांस्कृतिक गतिविधियों का एक प्रसिद्ध केंद्र बन गई थी।

२ : दक्खिनी हिंदुस्तान

मौर्य-साम्राज्य के सिमिटकर खत्म हो जाने के एक हजार से अधिक वर्ष वाद तक, दक्खिनी हिंदुस्तान में, वड़े-वड़े राज्य पनपे। आंध्रों ने शकों को हराया था। वाद में ये कुशानों के समकालीन रहे। इसके वाद पच्छिम में चालुक्य साम्राज्य स्थापित हुआ और इसके पीछे राष्ट्रकूट आये। धुर-दक्खिन में पल्लवों का राज्य था, और यहीं से अधिकतर वे हिंदुस्तानी वाहर गए जिन्होंने उपनिवेश स्थापित किये थे। इसके वाद चोल साम्राज्य वना और यह सारे प्रायद्वीप पर छा गया और इसने लंका और वरमा तक पर विजय प्राप्त की। अंतिम वड़ा चोल-राजा, राजेंद्र था, जिसकी १०४४ ई० में मृत्यु हुई।

दक्खिनी हिंदुस्तान अपने सूक्ष्म कला-कौशल और समुद्री व्यापार के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध था। इसकी समुद्री शक्तियों में गिनती थी और यहां के जहाज दूर देशों तक सामान पहुंचाया करते थे। उत्तरी हिंदुस्तान में जो वार-वार हमले होते रहते थे, उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव दक्खिन पर नहीं पड़ता था। यह अवश्य था कि उत्तर से वहुत-से लोग जिनमें कारीगर, थवई और शिल्पी भी थे, दक्खिन में जाकर बस जाया करते थे। इस तरह दक्खिन पुरानी कला-परंपरा का केंद्र वन गया।

३ : आजादी के लिए हिंदुस्तान की उमंग

पूरब ने तूफान के आगे सिर झुका लिया—
धैर्य और गहरी ला-परवाही के साथ;
उसने फौजों को सिर के ऊपर से गुजर जाने दिया,
और यह फिर विचार में डूब गया।

ऐसा कवि ने कहा है, और उसकी ये पंक्तियां अक्सर उद्धृत की जाती हैं। यह सही है कि पूरव, या कम-से-कम उसका वह हिस्सा जिसे हिंदुस्तान कहते हैं, विचार में डूवना पसंद करता रहा है, और वहुधा उन वातों पर विचार करने की उसे रुचि रही है, जिन्हें कुछ ऐसे लोग, जो अपने को व्यावहारिक कहेंगे, वेतुकी और वेमतलव समझेंगे।

उसने सदा विचारों और विचारकों का आदर किया है और तलवार चलानेवालों और पैसेवालों को इनसे ऊंचा समझने से बराबर इन्कार किया है।

लेकिन यह बात सही नहीं है कि हिंदुस्तान ने कभी भी धैर्य के साथ तूफान के आगे सिर झुका लिया है या विदेशी फौजों के सिरपर से गुजरने के विषय में लापरवाह रहा है। उसने उनका हमेशा सामना किया है—कभी सफलता के साथ और कभी नाकाम होकर—और वह जब नाकाम भी रहा है, तो उसने अपनी नाकामी को याद रखा है, और दूसरी कोशिश के लिए अपने को तैयार करता रहा है। उसने दो ढंग ग्रहण किये हैं। एक तो यह कि वह लड़ा है और उसने आक्रमणकारियों को मार भगाया है; दूसरा यह कि जो भगाये नहीं जा सके उनको उसने अपने में समाविष्ट कर लेने की कोशिश की है। उसने सिकंदर की फौज का बड़ी कामयाबी से सामना किया और उसकी मृत्यु के ठीक बाद उत्तर से उन फौजियों को. जिन्हें यूनानियों ने यहां नियुक्त कर रखा था, मार भगाया है। बाद में उसने हिंदी-यूनानियों और हिंदी-सिदियनों को अपने में समाविष्ट करके अंत में फिर राष्ट्रीय एकता स्थापित करली है। वह कई पीढ़ियों तक हूणों से लड़ता रहा है, और उन्हें अंत में मार भगाया है, जो बच रहे उन्हें उसने फिर अपने में समाविष्ट कर लिया है। जब अरब आये तो वे सिंध नदी के पास रुक गए। तुर्क लोग और अफगानी बहुत धीरे-धीरे आगे फैले। दिल्ली के तख्त पर अपने को दृढ़ता से स्थापित करने में उन्हें सदियों लग गईं। यह एक अटूट और लंबा संघर्ष रहा है, और जहां एक तरफ यह संघर्ष चलता रहा था, दूसरी तरफ समाविष्ट करने और उन्हें हिंदुस्तानी बनाने की क्रिया भी जारी रहती थी, जिसका नतीजा यह होता था कि आक्रमणकारी वैसे ही हिंदुस्तानी बन जाते थे जैसेकि और लोग थे। अकबर भिन्न तत्त्वों के समन्वय के पुराने हिंदुस्तानी आदर्श का प्रतिनिधि बन गया और इस देश वालों को एक समान राष्ट्रीयता के अंदर लाने की कोशिश में लगा। चूंकि वह हिंदुस्तान का बना रहा, इसलिए हिंदुस्तान ने भी उसे अपनाया, यद्यपि वह बहर से आया हुआ था। यही वजह थी

कि वह अच्छा निर्माण कर सका और उसने एक शानदार सल्तनत की नींव डाली। जबतक उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी नीति को बरता और राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति बनाये रहे, तबतक सल्तनत कायम रही। जब वे इससे अलग हट गए और राष्ट्रीयता के विकास की सारी प्रवृत्ति को रोकने लगे, तब वे कमजोर पड़ गए और सारी सल्तनत की धज्जियां उड़ गईं। नये आंदोलन उठे जिनमें संकीर्णता थी, लेकिन जो उभरती हुई राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करते थे, और यद्यपि यह इतने दृढ़ नहीं थे कि पायदार हकूमत स्थापित कर सकें, फिर भी वह मुगलों की सल्तनत को नष्ट करने भर को अवश्य थे। उन्होंने इस बात का ठीक-ठीक अनुमान न किया कि एक नई और जीवट की दुनिया पच्छिम में उठ रही थी, जिसका दृष्टिकोण नया था और जिसके पास नई हिकमतें थीं, और यह कि एक नई शक्ति—यानी ब्रिटिश—उस नई दुनिया की, जिससे कि वह इतने बेखबर थे, नुमाइंदगी करती थी। ब्रिटिश जीते, लेकिन मुश्किल से उन्होंने अपने को उत्तर में स्थापित किया था कि बलवा हो गया, और यह स्वतंत्रता की लड़ाई बन गया और इसने अंग्रेजी-हकूमत को करीब-करीब समाप्त कर दिया। स्वतंत्रता की उमंग हमेशा रही है, और विदेशी हकूमत के सामने सिर झुकाने से बराबर इन्कार किया गया है।

४ : प्रगति बनाम सुरक्षा

हम युगों के साथ-साथ बराबर बदलते रहे हैं, और किसी काल में यह नहीं हुआ है कि हम अपने पुराने जमाने-जैसे बने रहे हों। फिर भी इस बात को मैं दृष्टि से अलग नहीं कर सकता कि हिंदुस्तानी और चीनी संस्कृतियों ने कायम रहने की और अपने को अवसर के अनुकूल ढाल लेने की अद्भुत शक्ति दिखाई है, और अनेक परिवर्तनों और संकटों के रहते हुए भी, बहुत लंबे काल तक, अपनी बुनियादी विशेषता बनाये रखने में कामयाब हुए हैं। वे ऐसा न कर पाते अगर वे जीवन और प्रकृति से एक सामंजस्य न पैदा कर सके होते। वह जो कुछ भी वस्तु हो, जिसने इन्हें अपने पुराने लंगर से लगाये रखा, वह चाहे अच्छी

ही हो, चाहे बुरी, चाहे मिली-जुली, अगर यह शक्तिशाली न रही होती तो इतने काल तक बनी नहीं रह सकती थी।

प्रगति और सुरक्षा के विचारों में शायद हमेशा कुछ आपस की अनबन रही है। दोनों एक-साथ मौजूद नहीं हो पाते। इनमें से पहला परिवर्तन चाहता है, और दूसरा एक न बदलनेवाली पनाह की जगह चाहता है, और यह कि चीजें जैसी-की-तैसी बनी रहें। उन्नति का खयाल नये जमाने का है और पच्छिम में भी अपेक्षाकृत नया है। पुराने और बीच के जमाने की संस्कृतियां अतीत की सुनहली कल्पना में डूबी रहती थीं। हिंदुस्तान में भी बीते हुए जमाने की बड़ी सुनहली कल्पना की गई है। यहां जो सभ्यता तैयार हुई, उसकी भी बुनियाद सुरक्षा और पायदारी के विचारों पर बनी थी, और इस दृष्टिकोण से यह उन सभी सभ्यताओं से, जो कि पच्छिम में उठीं, कहीं अधिक सफल रही। ध्यान देने की यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि जहां हिंदुस्तानी दर्शन हद दर्जे का व्यक्तिवादी दर्शन रहा है और करीब-करीब पूरे तौर से व्यक्ति के विकास से उसका संबंध रहा है, वहां हिंदुस्तान का सामाजिक संगठन सामुदायिक था, और केवल समूहों पर ध्यान देता था। व्यक्ति को पूरी आजादी थी इस बात की कि जो चाहे सोचे, विचारे और जिस चीज में चाहे विश्वास करे, लेकिन उसे समाज और संप्रदाय के रीति-रिवाजों की कड़ी पाबंदी करनी पड़ती थी।

बावजूद इस पाबंदी के, गिरोहों के भीतर भी, सबकुछ लेकर, बहुत लचीलापन था; और कोई ऐसा कानून या समाज का नियम न था जो रीति-रिवाज से बदला न जा सके। यही लचीलापन और अपने को अवसर के अनुकूल ढालने की शक्ति ऐसी चीजें थीं जिन्होंने विदेशियों को अपने में समाविष्ट करने में मदद दी।

जबतक पायदारी और सुरक्षा खास ध्येय रहे, तबतक तो यह व्यवस्था खूब काम देती रही; और अगर आर्थिक परिवर्तनों ने इसकी जड़ें हिलाईं, फिर भी अपने को उनके अनुकूल बनाकर यह बनी रही। इसे असली चुनौती मिली, सामाजिक तरक्की की उस नई धारणा से, जो किसी तरह पुराने, टिके हुए, विचारों से मेल नहीं खाती थी।

यही कल्पना पुरानी स्थापित व्यवस्थाओं को पूरब में उखाड़ रही है, उसी तरह, जिस तरह कि इसने पच्छिम में व्यवसायों को उखाड़ा ह। पच्छिम में जहां अब भी प्रगति का बोलबाला है, सुरक्षा की मांग पेश हो गई है। हिंदुस्तान में सुरक्षा की कमी ने ही लोगों को मजबूर किया ह कि वे पुरानी लीक छोड़कर बाहर आयं, और ऐसी प्रगति के अर्थों में सोचें कि जो अधिक सुरक्षा की हालत पैदा करे।

हिंदुस्तान में जो भी तत्त्व आया और यहां समाविष्ट हो गया, उसने हिंदुस्तान को अपना कुछ दिया भी और उससे उसका कुछ लिया भी; इसने अपनी और हिंदुस्तान, इन दोनों की शक्ति में वृद्धि की। लेकिन जहां वह अलग-अलग रहा और हिंदुस्तान के जीवन में और यहां की संपन्न और विविध संस्कृति में हिस्सा न ले सका, वहां उसका कोई स्थायी प्रभाव न हुआ और अंत में वह मिट गया है, और मिटते-मिटते अपने को या फिर हिंदुस्तान को कुछ हानि पहुंचा गया।

५ : हिंदुस्तान और ईरान

उन बहुत-से लोगों में, जो हिंदुस्तान के जीवन और संस्कृति के संपर्क में आये हैं और इनपर प्रभाव डाला है, सबसे पुराने ईरानी रहे हैं। भारतीय-आर्य और ईरानी अलग होकर अपना-अपना रास्ता लेने से पहले एक ही जाति के थे। इनके पुराने धर्म और भाषा की भी एक-सी पृष्ठभूमि रही है। वैदिक धर्म और जरथुस्त के धर्म में बहुत-सी एक-सी बातें थीं, और वैदिक संस्कृति और अवेस्ता की भाषा दोनों एक-दूसरे से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। बाद की संस्कृत और फारसी के विकास अलग-अलग हुए, लेकिन दोनों के बहुत-से मूल-शब्द एक ही हैं, जिस तरह की सभी आर्य-भाषाओं के कुछ मूल शब्द समान हैं। दोनों भाषाओं पर और इनसे बढ़कर उनकी कला और संस्कृति पर, उनके अलग-अलग वातावरणों का प्रभाव पड़ा।

हिंदुस्तान की तरह ईरान कां भी सांस्कृतिक नींव इतनी दृढ़ थी कि वह अपने आक्रमणकारियों पर भी प्रभाव डाल सके और प्राय: उन्हें अपने में समाविष्ट कर ले। अरब लोग, जिन्होंने सातवीं सदी ईसवी

में ईरान निजय किया, इस प्रभाव में आ गए, और अपने सीधे-सादे रेगिस्तानी रहन-सहन को छोड़कर उन्होंने ईरान की रंगी-चुनी तहज़ीब ग्रहण कर ली। जिस तरह फ्रांसीसी भाषा यूरोप में है, उसी तरह फ़ारसी एशिया के सुदूर भागों के सभ्य लोगों की भाषा बन गई। ईरानी कला और संस्कृति पच्छिम में कुस्तुनतुनिया से लेकर ठेठ गोबी के रेगिस्तान तक फैल गई।

हिंदुस्तान पर भी यह प्रभाव बराबर रहा, और अफ़गानों और मुगलों के काल में, हिंदुस्तान में फारसी देश की दरबारी भाषा रही। यह बात अंग्रेजी दौर के ठीक आरंभ तक बनी रही। आज की सभी हिंदुस्तानी भाषाओं में फारसी शब्द भरे पड़े हैं। संस्कृत से निकली भाषाओं के लिए, विशेषकर हिंदुस्तानी के लिए, जो स्वयं एक मिली-जुली भाषा है, यह स्वाभाविक था। लेकिन दक्खिन की द्रविड़ भाषाओं पर भी फारसी का प्रभाव पड़ा ह। हिंदुस्तान में बीते हुए जमाने के फ़ारसी के कुछ बड़े शानदार शायर हुए हैं, और आज भी, हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों ही में, फ़ारसी के अच्छे आलिम मिलते हैं।

इसमें कोई शक नहीं जान पड़ता कि सिंध की घाटी की सभ्यता के संपर्क उस जमाने की ईरान और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं से थे। कुछ नक्शनिगारों और मुहरों में स्पष्ट रूप से समानता मिलती है। इस बात के भी कुछ प्रमाण हैं कि ईरान और हिंदुस्तान के बीच, पूर्व-अशीमियन-काल में भी आपस के संपर्क थे। हिंदुस्तान का अवेस्ता में चर्चा आया है, और उत्तरी हिंदुस्तान का कुछ बयान भी है। ऋग्वेद में फारस के हवाले हैं। फारसी लोग 'पार्श्व' कहलाते थे और बाद में ये ही 'पारसीक' कहलाये, जिससे आधुनिक 'पारसी' शब्द निकला है। पार्थियनों को 'पार्थव' कहा गया है। ईसा पूर्व छठी सदी में दारा के अधीन जो सल्तनत थी, वह ठीक पच्छिमोत्तर तक फैली हुई थी और सिंध और शायद पच्छिमी हिंदुस्तान का एक भाग इसमें आ गया था। इस समय को, हिंदुस्तान के इतिहास में, ज़रथुस्त का जमाना कहा गया है और इसका असर काफ़ी फैला रहा होगा। सूर्य की पूजा को प्रोत्साहन दिया गया।

ईसा पूर्व सातवीं सदी से भी पहले से लेकर युगों बाद तक

व्यापार के द्वारा हिंदुस्तान और ईरान के संबंध के प्रमाण मिलते हैं; विशेषकर यह खयाल किया जाता है कि हिंदुस्तान और बाबुल के बीच होनेवाला प्राचीन व्यापार का रास्ता फारस की खाड़ी से होकर था। छठी सदी के बाद साइरस और दारा के हमलों के द्वारा सीधे संपर्क स्थापित हो गए। सिकंदर की विजय के बाद कई सदियों तक ईरान यूनानियों के शासन में रहा। इस काल में भी संपर्क बने रहे और कहा जाता है कि अशोक की इमारतों पर पार्सिपोलिस की निर्माण-शैली का प्रभाव पड़ा। यूनानी बौद्धकला जो पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान और अफगानिस्तान में विकसित हुई, उसमें भी ईरान की छूत रही है। हिंदुस्तान में गुप्तों के समय में ईसा से बाद की चौथी-पांचवीं सदियों में, जो कला और संस्कृति की कृतियों के लिए मशहूर हैं, ईरान से संबंध बने रहे।

काबुल, कंधार और सीस्तान के सरहदी इलाके, जो प्राय: हिंदुस्तान के शासन के अंदर रहे हैं, हिंदुस्तानियों और ईरानियों की आपस में मिलने की जगहें थीं। बाद के पार्थियन जमाने में इन्हें 'सफेद हिंदुस्तान' का नाम दिया गया। इन हिस्सों की चर्चा करते हुए, फ्रांसीसी विद्वान् जेम्स दार्मेस्टेलर कहता है—"हिंदू-संस्कृति इन इलाकों में फैली हुई थी जो वस्तुत: ईसा से पहले और बाद की दो सदियों में 'सफेद हिंदुस्तान' के नाम से जाने जाते थे, और मुसलमानों की विजय के समय तक ईरानी से अधिक हिंदुस्तानी बने रहे।"

उत्तर हिंदुस्तान में आनेवाले व्यापारी और यात्री खुश्की के रास्ते आते थे। दक्खिनी हिंदुस्तान समुद्र के ऊपर भरोसा करता था, और उसकी समुद्री रास्ते से दूसरे देशों से तिजारत होती थी। एक दक्खिनी राज्य और ईरान के सासानियों के बीच आपस में राजदूत आते-जाते रहते थे।

हिंदुस्तान पर तुर्कों, अफगानों, मुगलों की विजयों का परिणाम यह हुआ कि हिंदुस्तान के संबंध मध्य और पच्छिमी एशिया से बढ़े। पंद्रहवीं सदी में (यूरोपीय पुनर्जागृति के युग के समय) समरकंद और बुखारा में तैमूरी पुनर्जागृति फल-फूल रही थी, और इसपर ईरान का गहरा प्रभाव था। बाबर, जो स्वयं तैमूरिया-वंश का शाहजादा था, इसी वातावरण से आया, और उसने दिल्ली की गद्दी पर अधिकार कर

लिया। यह सोलहवीं सदी के आरंभ की बात है, जिस समय ईरान में, सफ़ावी बादशाहों की हुकूमत के जमाने में एक शानदार कलात्मक पुनर्जागृति हो रही थी, और यह जमाना फारसी कला का सुनहला जमाना कहलाता है। बावर के बेटे, हुमायूं ने, यहां से भागकर सफ़ावी शाह के यहां शरण ली थी, और उसीकी मदद से वह फिर हिंदुस्तान लौटा था। हिंदुस्तान के मुगल बादशाह ईरान से बड़ा नजदीकी संबंध बनाये रखते थे और सरहद पार करके मुगलों के शानदार दरबार में, प्रतिष्ठा और धन कमाने के लिए आनेवाले, ईरानी विद्वानों और कलावंतों का तांता लगा रहता था।

हिंदुस्तान में इमारतों की एक नई शैली ने उन्नति की, जिसमें हिंदुस्तानी और ईरानी आदर्शों और प्रेरणाओं का मेल-जोल था, और दिल्ली और आगरा बहुत-सी शानदार और सुंदर इमारतों से भर गए। इनमें से सबसे सुंदर इमारत थी ताजमहल, जिसके बारे में फ्रांसीसी आलिम एम० ग्रूस ने कहा है कि "इसमें हिंदुस्तान के जिस्म में ईरान की रूह उतर आई है।"

हिंदुस्तान और ईरान के लोगों में, शुरू से लेकर सारे इतिहास के ज़माने में, जैसा घनिष्ट संबंध रहा है, शायद ही दूसरे लोगों में रहा हो। दुर्भाग्य से जो अंतिम यादगार इस लंबे, निकट और सम्मानित संबंध की ह, वह नादिरशाह के हमले की. है, जो दो सौ साल का अरसा गुजरा, थोड़े समय के लिए हुआ था, लेकिन जो हद दर्जे का भयानक हमला था।

इसके बाद अंग्रेज आये और उन्होंने सब दरवाजे और सब रास्ते, जिनके द्वारा हमारा अपने एशियायी पड़ोसियों से संबंध जुड़ता था, बंद कर दिये। समुंदर के आर-पार नये रास्ते बने, जिन्होंने हमें यूरोप के अधिक निकट पहुंचाया, विशेषकर इंग्लिस्तान के।

लेकिन एक अटूट नाता बना रहा है—मौजूदा जमाने के ईरान से नहीं, बल्कि प्राचीन ईरान से। तेरह सौ साल हुए, जब इस्लाम ईरान में पहुंचा, उस समय पुराने जरथुस्त्र धर्म के माननेवाले, सैकड़ों या हजारों की गिनती में हिंदुस्तान में आये। उनका यहां स्वागत हुआ

और वे पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गए, और अपने धर्म और रीति-रिवाजों के पाबंद बने रहे। न किसीने उनसे छेड़खानी की, न उन्होंने दूसरों से; यह एक बड़े मार्के की बात है कि ये लोग जो पारसी कहलायें, हिंदुस्तान में चुपके से और बगैर बड़े दिखावे के, मिल बठ गए, और इसे अपना घर बना लिया और फिर भी एक छोटे संप्रदाय की हैसियत से, अपने पुराने रीति-रिवाजों को पाबंदी से निभाते रहे।

६ : हिंदुस्तान और यूनान

अभी हाल तक बहुत-से यूरोपीय विचारकों का यह खयाल था कि जितनी मूल्यवान और आदरणीय वस्तुएं हैं, उनका आरंभ यूनान से है या रोम से है। सर हेनरी मेन ने कहीं पर कहा है कि प्रकृति की अंधी शक्तियों के अतिरिक्त दुनिया में कोई भी गतिशील वस्तु नहीं है जो अपने मूल में यूनानी न हो। यूनान और रोम के बारे में जानकारी रखनेवाले यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् हिंदुस्तान और चीन के बारे में बहुत कम जानते थे। फिर भी प्रोफेसर ई० आर० डॉड्स ने जोर दिया है उस "पूर्वी पृष्ठभूमि पर, जो यूनानी संस्कृति के पीछे थी, और जिससे वह अपने को (सिवाय यूनान और रोम के विषय के पंडितों के मस्तिष्क में) कभी अलग न कर सकी थी।"

जब यह धारणा विद्वानों की थी, तब आम अनपढ़ लोग तो और भी, पूरब और पच्छिम के बीच, कोई विशेष अंतर समझते रहे। यूरोप में मशीन के कारखानों के खुलने और उसके साथ होनेवाली आर्थिक उन्नति ने आम लोगों के मन पर इस भेद की छाप और भी गहरी कर दी, और किसी अनोखे तर्क से प्राचीन यूनान वर्तमान यूरोप और अमरीका का मां-बाप बन गया।

पूरब और पच्छिम, इन शब्दों के प्रयोग को मैं समझ नहीं सका हूं, सिवाय इस अर्थ में, कि यूरोप और अमरीका ने मशीन के कारखानों में बड़ी उन्नति कर ली है और एशिया इस दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। कल-कारखानों की बहुतायत संसार के इतिहास में एक नई चीज है और इसने और चीजों की अपेक्षा संसार को अधिक बदल दिया है और बराबर

वदल रही है। लेकिन यूनानी सभ्यता में और आज की यूरोपीय और अमरीकी सभ्यताओं में कोई बुनियादी संबंध नहीं है। आज का यह विचार, कि आराम की जिंदगी ही सबसे बड़ी चीज है, यूनानी और दूसरे प्राचीन साहित्यों के बुनियादी विचारों से बिलकुल अलग है। यूनानी और हिंदुस्तानी और चीनी और ईरानी लोग सदा एक ऐसे धर्म और जीवन के दर्शन की खोज में रहे हैं, जिनका असर उनके सभी कामों पर रहा है और जिनका उद्देश्य एक तरह का सम-तौल और सामंजस्य पदा करना रहा है। यह आदर्श जीवन के हर पहलू में—साहित्य में, कला में, और संस्थाओं में—प्रकट होता है और एक समन्वय और पूर्णता उत्पन्न करता है।

अपने हौसले और दृष्टिकोण में हिंदुस्तान यूरोपीय राष्ट्रों की अपक्षा पुराने यूनान के अधिक निकट है, यद्यपि वे अपने को यूनानी संस्कृति के उत्तराधिकारी बताते हैं। हम इस बात को भूल जाते हैं, चूंकि हम तक कुछ ऐसे खयाल चले आ रहे हैं जो तर्कपूर्ण विचार के रास्ते में रुकावट डालते हैं। कहा जाता है कि हिंदुस्तान में धर्म और दर्शन, चिंतन और अध्यात्म पनपते हैं और वह इस दुनिया की बातों से निरपेक्ष है, और परलोक के सपनों में खोया हुआ है। हमको बताया यही जाता है, और शायद जो लोग हमसे ऐसा कहते हैं, वे चाहेंगे भी कि हिंदुस्तान विचार और चिंतन में डूबा और उलझा रहे, और वे लोग इस संसार को और उसके सभी पदार्थों को, इन विचारकों से स्वतंत्र रहकर अपने अधिकार में रख सकें और उनका उपभोग कर सकें। हां, हिंदुस्तान में ये सबकुछ रहे हैं, लेकिन इनसे और अधिक बातें भी रही हैं। उसने वचपन के भोलेपन को जाना है, जवानी की उमंगें और मस्तियां देखी हैं, और बुजुर्गी में वह ज्ञान हासिल किया है जो सुख-दुःख के अनुभव से ही आता है; और बार-बार उसने अपने बचपन, अपनी जवानी, और अपनी बुजुर्गी को ताजा किया है। युगों की उपेक्षा और उसके विस्तार ने उसे दबा रखा है। पस्ती लानेवाले रीति-रिवाजों और बुरे अमल ने उसमें घर कर लिया है, ऐसे कीड़े उसमें चिपटे हुए उनका खून चूस रहे हैं, लेकिन इन सबके पीछे युगों की शक्ति और एक प्राचीन जाति की

सहज बुद्धिमत्ता भी है, क्योंकि हम बहुत पुराने लोग हैं, अनंत सदियां हमारे कानों में धीमे स्वर में अपनी कहानी कह रही हैं। लेकिन हमने अपनी जवानी को बार-बार ताजा किया है, यद्यपि उन बीते हुए युगों की यादें और सपने बने रहे हैं।

भूगोल और जलवायु की दृष्टि से यूनान हिंदुस्तान से भिन्न है। वहां कोई ऐसी नदियां नहीं जो सचमुच में नदियां कहला सकें, कोई जंगल नहीं, कोई बड़े वृक्ष नहीं, जिनकी हिंदुस्तान में बहुतायत है। अपनी विशालता और परिवर्तनशीलता से समुद्र ने यूनानियों पर जो प्रभाव डाला है, वह हिंदुस्तानियों पर नहीं पड़ा, सिवाय इसके कि उन हिंदुस्तानियों पर पड़ा हो जो समुद्र के किनारे बसते हैं। हिंदुस्तान का जीवन थल का जीवन रहा है, बड़े-बड़े मैदानों, विशाल पर्वतों, प्रवाहमयी नदियों और घने जंगलों का इसमें हिस्सा रहा है। यूनान में भी कुछ पहाड़ रहे हैं और यूनानियों ने आलिंपस को अपने देवताओं का उसी तरह पर निवास बनाया है, जिस तरह कि हिंदुस्तानियों ने अपने देवताओं और ऋषियों को हिमालय की ऊंचाइयों पर जगह दी है। दोनों ने देवताओं की गाथाएं रची हैं, और ये इतिहास के साथ इतनी मिल-जुल गई हैं कि घटनाओं को गढ़ंत से छुड़ाना मुश्किल हो गया है। पुराने यूनानी, कहा जाता है, न भोगी थे और न योगी, वह आनंद को बुरा या पाप जानकर उससे दूर नहीं भागते थे, न जानबूझकर उस तरह के आमोदों में पड़ते थे जिनमें इस जमाने के लोग पड़ते हैं। जिस तरह से हम अपनी इच्छाओं का दमन करते हैं, वैसा किये बिना वे जिंदगी में जोश से हिस्सा लेते थे, और जिस काम में लगते थे, खूब लगते थे, और इस तरह से वे हमारी अपेक्षा जीवन का अधिक आनंद लेते थे। हिंदुस्तान के जीवन के विषय में भी हम अपने पुराने साहित्य से कुछ ऐसा ही प्रभाव लेते हैं। हिंदुस्तान में तपस्या के जीवन का भी एक पहलू रहा है, जैसाकि बाद में यूनान में भी रहा है, लेकिन यह बहुत थोड़े लोगों तक सीमित था और जनता के जीवन पर इसका प्रभाव न था। यह पहलू जैन और बौद्धधर्म के दिनों में कुछ जोर पकड़ गया था, लेकिन फिर भी इसने जीवन की पृष्ठ-भूमि को अधिक नहीं बदला।

जीवन जैसा भी था, उसे हिंदुस्तान और यूनान दोनों जगह स्वीकार किया गया था, और लोग उसका पूरी तरह उपभोग करते थे, फिर भी इस तरह का विश्वास था कि एक विशेष प्रकार का जीवन श्रेष्ठतर होता है। इसमें कुतूहल और कल्पना की गुंजाइश होती थी, लेकिन जांच की यह भावना पदार्थों के बारे में अनुभव हासिल करने की तरफ नहीं झुकती थी, बल्कि मानसिक चिंतन की दिशा में जाती थी। वैज्ञानिक तरीकों के आने से पहले वास्तव में सभी जगह यही प्रवृत्ति हुआ करती थी। संभवतः यह चिंतन कुछ थोड़े ऊंचे मस्तिष्क के लोगों तक सीमित था, फिर भी साधारण नागरिकों पर भी इसका असर पड़ता ही था, और वे भी दर्शन के प्रश्नों पर आपस में और बातों के साथ, अपनी खुली सभाओं में बहस करते थे। लोगों का रहन-सहन, जैसा आज भी हिंदुस्तान में विशेषकर देहातों में है, पंचायती ढंग का था, और लोग आपस में, बाजार में, या मंदिरों और मसजिदों में, या पनघटों पर या जहां पंचायत-घर होते, पंचायत-घरों में इकट्ठा होकर दिन के समाचारों और साधारण आवश्यकताओं पर विचार करते थे। यहीं लोकमत बनता था और उसको प्रकट किया जाता था। ऐसी चर्चाओं के लिए काफी अवकाश रहा करता था।

फिर भी यूनानियों के बहुत-से शानदार कारनामों में से एक ऐसा है जो औरों से बढ़-चढ़कर है—यानी प्रयोगात्मक विज्ञान का प्रारंभ। इसकी उन्नति जैसी यूनानी सभ्यता के भीतर आये हुए प्रदेश सिकंदरिया में हुई, वैसी स्वयं यूनान में नहीं हो पाई, और ईसा पूर्व ३३० से १३० तक, यानी दो सदियों में, वैज्ञानिक उन्नति और यंत्रों के आविष्कार ने लंबे डग लिये। हिंदुस्तान में इसके मुकाबले की कोई चीज नहीं मिलती, और हिंदुस्तान ही क्या, कहीं और भी हम ऐसी बात सत्रहवीं सदी तक नहीं पाते हैं, जबकि फिर विज्ञान ने लंबे डग भरे हैं। यूरोप में यूनान और रोम की सभ्यताओं के नष्ट होने पर ये अरब ही थे, कि जिन्होंने विज्ञान की लौ को मध्य-युगों में जगाय रखा।

सिकंदरिया की, विज्ञान और आविष्कार की, यह सरगर्मी निश्चय ही जमाने की सामाजिक उपज, और एक बढ़ते हुए समाज और जहाज-

रानी की आवश्यकताओं का परिणाम थी—उसी तरह जिस तरह कि अंकगणित और बीजगणित का विकास—शून्यांक और राशिमानों का आविष्कार—हिंदुस्तान में, बढ़ते हुए व्यापार और जटिल होते हुए संगठन की दृष्टि से, सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम था। लेकिन यों आमतौर पर पुराने यूनानियों में कहांतक विज्ञान के लिए रुझान था, यह कहा नहीं जा सकता। उनका जीवन अपनी परंपरा के अनुसार चला होगा, जिसकी बुनियाद में उनका पुराना दार्शनिक दृष्टिकोण था, जो मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य और मेल चाहता था। यह दृष्टिकोण पुराने यूनान और हिंदुस्तान में एक-सा था। हिंदुस्तान की तरह यूनान में भी साल त्यौहारों में बंटा हुआ था और मौसम-मौसम के उत्सव हुआ करते थे जो मनुष्य को प्रकृति के स्वर के साथ मिलाये रहते थे। हिंदुस्तान में अब भी ये त्यौहार मनाये जाते हैं, बसंत में और फसल कटने के समय; और दीपावली, जो रोशनी का त्यौहार है, और शरद् के अंत में मनाया जाता है; और होली का उत्सव जो शुरू गर्मी में मनाया जाता है, और इसके अतिरिक्त पौराणिक पुरुषों के नाम पर त्यौहार चलते हैं। अब भी इन उत्सवों में, कुछके अवसरोंपर लोक-गीत और लोक-नृत्य होते हैं, जैसे रासलीला या कृष्ण का गोपियों के साथ नाच।

प्राचीन हिंदुस्तान में औरतें अलग-थलग नहीं रहती थीं, सिवाय कुछ हद तक राज-घराने और कुलीन वर्ग की औरतों के। शायद यूनान में मर्द और औरत उस जमाने में हिंदुस्तान की अपेक्षा अधिक अलग रहते थे। पुराने हिंदुस्तानी ग्रंथों में प्रसिद्ध और विदुषी औरतों की चर्चा प्रायः आती है, और अक्सर वे खुले शास्त्रार्थों में हिस्सा लिया करती थीं। यूनान में शादी, जान पड़ता है, केवल आपस में समझौते की बात थी, लेकिन हिंदुस्तान में यह हमेशा धार्मिक संस्कार समझी गई है, यद्यपि और तरह के विवाहों की भी चर्चा हुई है।

यूनान की औरतों की, जान पड़ता है, हिंदुस्तान में खास आवभगत होती थी। जैसाकि पुराने नाटकों से पता चलता है, राज-दरबारों की दासियां अक्सर यूनानी हुआ करती थीं। यूनान से हिंदुस्तान में आनेवाली खास चीजों में, जो पच्छिमी हिंदुस्तान में भड़ोंच के बन्दर-

गाह में उतरती थीं, "गानेवाले लड़कों और खूबसरत लड़कियों" का होना बताया जाता है। चन्द्रगुप्त मौर्य का रहन-सहन बताते हुए मेगस्थनीज कहता है—"राजा का खाना औरतें पकाती थीं, और वे शराव भी पेश किया करती थीं, जिसका सभी हिंदुस्तानियों में चलन है।" कुछ शराब निश्चय ही यूनान या उसके उपनिवेशों से आती थी, क्योंकि एक पुराना तमिल कवि "यवनों (अयोनियन या यूनानी) द्वारा अपने अच्छे जहाजों में लाई ठंडी सुगंधित शराव" का वर्णन करता है। एक यूनानी बयान है कि पाटलिपुत्र के राजा (शायद अशोक के पिता बिंदुसार) ने ऐंटिओकस को लिखा कि "हमें मीठी शराव, सूखी अंजीर और एक यूनानी मिथ्यावादी तर्कशास्त्री खरीदकर भेज दो।" ऐंटिओकस ने जवाब दिया—"हम आपको अंजीर और शराब भेजेंगे, लेकिन यूनानी क़ानून मिथ्यावादी तर्कशास्त्री की विक्री की आज्ञा नहीं देता।"

यूनानी साहित्य से यह साफ पता चलता है कि सम-लिंगी संबंध को बुरा नहीं समझा जाता था। वास्तव में इसकी ओर एक सरस अनुमोदन का भाव था। शायद इसकी वजह यह थी कि युवावस्था में लड़के-लड़कियां अलग रखे जाते थे। इसी तरह की प्रवृत्ति ईरान में पाई जाती है और फारसी साहित्य में इसके हवाले भरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि माशूक की एक युवक के रूप में कल्पना करना साहित्यिक परंपरा का अंग बन गया था। संस्कृत-साहित्य में ऐसी कोई बात नहीं मिलती और यह जाहिर है कि हिंदुस्तान में सम-लिंगी संबंध न पसंद किया जाता था और न प्रचलित था।

किसी यूनानी ग्रंथ में यह रवायत दर्ज है कि कुछ हिंदुस्तानी सुकरात के पास आये और उन्होंने उनसे सवाल किये। पाइथागोरस पर हिंदुस्तानी दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा था, और प्रोफेसर एच० जी० रालिंसन का कहना है कि: "धर्म, दर्शन और गणित के प्रायः सभी सिद्धांत जिनकी पाइथागोरस के अनुयायी शिक्षा दिया करते थे, हिंदुस्तान में ईसा पूर्व छठी सदी में मालूम थे।" यूनान और रोम का विशेष अध्ययन करनेवाले उर्विक नाम के एक योरपीय विद्वान ने, अफलातून की 'रिपब्लिक' नाम की किताब की व्याख्या हिंदुस्तानी

विचार के आधार पर की है। ज्ञेयवादी तत्ववाद को यूनानी अफलातूनी और हिंदुस्तानी तत्वों को मिलाकर एक करने की कोशिश माना गया है। टियाना का दार्शनिक एपोलोनियस शायद पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान में तक्षशिला में, ईसाई संवत् के आरंभ में, आया था।

पुरानी प्रवृत्ति सभी चीजों को यूनान या रोम से निकली हुई बताने की रही है, लेकिन इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई है, और एशिया और खासतौर पर हिंदुस्तान के कारनामों पर जोर दिया गया है। प्रोफेसरटार्न कहते हैं—"मोटे ढंग से एशियावासी ने यूनान से जो भी लिया, वह आमतौर पर केवल बाहरी बातें हैं, उसने केवल रूप-रेखा ली। शायद ही उसने भीतरी बातें ग्रहण की हों—नागरिक संस्थाएं चाहे एक अपवाद हों—और भाव तो उसने लिया ही नहीं, क्योंकि भाव के मामले में एशिया को हमेशा विश्वास रहा है कि वह यूनान को दूर बिठा सकता है, और उसने दूर बिठाया है। बुद्ध की प्रतिमा को छोड़ दें तो यह कहा जा सकता है कि अगर यूनानियों का कभी अस्तित्व न होता, तो भी हिंदुस्तान का इतिहास मुख्य-मुख्य बातों में ठीक वैसा ही रहता जैसाकि रहा है।"

यह एक दिलचस्प खयाल है कि हिंदुस्तान में मूर्ति-पूजा यूनान से आई। वैदिक-धर्म सभी तरह की मूर्ति-पूजा का विरोधी था। देवताओं के लिए कोई मंदिर तक न थे। मूर्ति-पूजा के कुछ चिह्न हिंदुस्तान के पुराने धर्मों में मिलते हैं, यद्यपि मूर्ति-पूजा निश्चय ही बहुत फैली नहीं थी। आरंभ का बौद्धधर्म इसका कट्टर विरोधी था, और बुद्ध की मूर्तियां और प्रतिमाएं तैयार करने की विशेषकर मनाही थी। लेकिन यूनानी कला का प्रभाव अफगानिस्तान में और सरहद के आस-पास काफी गहरा था और क्रमशः उस प्रभाव ने काम किया। फिर भी आरंभ में बुद्ध की कोई मूर्तियां न बनीं, बल्कि बोधिसत्वों की (जिनके बारे में यह समझा जाता है कि वे बुद्ध के पहले के अवतार हैं) अपोलो-जैसी मूर्तियां बनीं। इनके बाद स्वयं बुद्ध की मूर्तियां बनने लगीं। इससे हिंदू-धर्म के कुछ रूपों में भी मूर्ति-पूजा को प्रोत्साहन मिला, यद्यपि वैदिकधर्म पर यह असर न पड़ा और वह इससे बचा रहा। मूर्ति या प्रतिमा के लिए फारसी और हिंदुस्तानी में अबतक शब्द है 'बुत', जो बुद्ध से निकला है।

७ : प्राचीन हिंदुस्तानी थियेटर

यूरोप को, प्राचीन हिंदुस्तानी नाटक-साहित्य का जबसे पता लगा, तभी से इस तरह के सुझाव दिये जाने लगे कि या तो इसका प्रारंभ ही यूनानी नाटकों से हुआ, या इसपर यूनानी नाटकों का गहरा असर पड़ा। इस मत में कुछ सच-जैसी दिखनेवाली बात थी, क्योंकि उस समय तक किसी प्राचीन नाटक का पता न चला था और सिकंदर के आक्रमण के बाद यूनान के अधिकार में आये राज्य हिंदुस्तान की सरहद पर स्थापित हो चुके थे। ये राज्य कई सदियों तक बने रहे और यहां यूनानी नाटकों के खेल होते रहे होंगे। इस प्रश्न की यूरोपीय विद्वानों ने, सारी उन्नीसवीं सदी में, छान-बीन की और इसपर तर्क-वितर्क हुए। अब यह बात आमतौर पर स्वीकार कर ली गई है कि हिंदुस्तानी थियेटर, अपने मूल में, और विचारों और विकास में, बिल्कुल स्वतंत्र रहा है। इसके आरंभ का पता लगावें तो हम ऋग्वेद तक पहुंच जायंगे जिसमें कुछ नाटकीय ढंग की बात-चीत मिलती है। रामायण और महाभारत में नाटकों की चर्चा आती है। कृष्ण की लीलाओं के नाच और संगीत से इसका आरंभ होता है और उसीसे इसकी रूप-रेखा बनती है। ईसा पूर्व छठी-सातवीं सदी का मशहूर वैयाकरण पाणिनि नाटक के कुछ रूपों का उल्लेख करता है।

नाट्यकला पर एक पुस्तक—'नाट्यशास्त्र'—कहा जाता है कि तीसरी सदी ईसवी में लिखी गई, लेकिन यह स्पष्ट है कि यह इसी विषय की और पहले की रचनाओं के आधार पर लिखी गई है। ऐसी किताब उसी समय तैयार हो सकती है जब नाटक की कला की पर्याप्त उन्नति हो चुकी हो, और आम लोगों के सामने खेल बराबर रचाये जाते रहे हों। इससे पूर्व बहुत साहित्य इसपर तैयार हो चुका रहा होगा, और इसके पीछे कई सदियों का क्रमिक विकास जान पड़ता है। हाल में छोटा नागपुर की रामगढ़ की पहाड़ियों में, एक ऐसी प्राचीन नाट्यशाला का पता चला है, जिसकी तिथि ईसा पूर्व दूसरी सदी बताई जाती है। यह मारके की बात है कि 'नाट्यशास्त्र' में जो नाट्यशालाओं का आम बयान

मिलता है, उससे इस नाटचशाला का नक्शा मेल खाता है।

अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि ईसा पूर्व तीसरी सदी में, नियमित रूप से लिखे गए संस्कृत-नाटक, पूरी-पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुके थे, बल्कि कुछ विद्वानों का मत है कि यह स्थिति ईसा पूर्व पांचवी सदी में ही उत्पन्न हो गई थी। जो नाटक मिलते हैं, उनमें और पहले के नाटककारों और नाटकों के हवाले अक्सर आते हैं, जिनका अभीतक पता नहीं चला था। ऐसे खोये हुए नाटककारों में एक भास था, जिसकी बाद के नाटककारों ने बड़ी प्रशंसा की ह। इस सदी के आरंभ में इसके तेरह नाटकों का एक संग्रह खोज में हाथ आया। अब तक मिले संस्कृत नाटकों में अश्वघोष के नाटक हैं। अश्वघोष ईसवी संवत् के ठीक पहले या बाद हुआ था। वास्तव में वे नाटकों के कुछ टुकड़े मात्र हैं जो ताड़-पत्र पर अंकित हैं, और एक आश्चर्य की बात है कि गोबी रेगिस्तान के किनारे तुरफान में पाये गए हैं। अश्वघोष एक धर्म-परायण बौद्ध था और इसने 'बुद्ध-चरित' भी लिखा है, जो बुद्ध की जीवनी ह और बहुत प्रसिद्ध है।

यूरोप ने प्राचीन हिंदुस्तानी नाटकों के बारे में तब जाना, जब १७८९ में सर विलियम जोन्स ने कालिदास के 'शकुंतला' का अनुवाद प्रकाशित किया। इस खोज से यूरोप के विचारशील लोगों में हलचल पैदा हो गई, और इस पुस्तक के कई संस्करण निकले। सर विलियम जोन्स के अनुवाद के सहारे जर्मन, फ्रेंच, डेनिश और इटालियन में इसके अनुवाद भी हुए। गेटे पर इसका गहरा असर हुआ और उसने 'शकुंतला' की जी खोलकर तारीफ की।

कालिदास संस्कृत-साहित्य का सबसे बड़ा कवि और नाटककार माना गया है। प्रोफेसर सिल्वान लेवी ने लिखा है—"हिंदुस्तानी कविता और साहित्य के क्षेत्र में कालिदास का नाम चमक रहा है। नाटक, महाकाव्य और विरह-गीत आज भी इस कलाकार की प्रतिभा और सूझ-बूझ का सबूत दे रहे हैं। सरस्वती के वरद पुत्रों में यह अद्वितीय है, और इसे-ही ऐसी महान् रचना करने का सौभाग्य हुआ है जिससे हिंदुस्तान का आदर बढ़ा है और स्वयं मानवता ने अपने को पहचाना है। उज्ज-

यिनी में शकुंतला के जन्म पर जो आलोक हुआ था, उसने कई लंबी सदियों बाद पच्छिम की दुनिया को भी तब आलोकित किया कि जब विलियम जोन्स ने इसका उसे परिचय कराया। कालिदास ने अपने लिए उज्ज्वल तारों के बीच स्थान कर लिया है, जहांकि हरएक नाम मानवी-भावना के एक युग का प्रतिनिधित्व करता है। इन नामों का सिलसिला इतिहास की रचना करता है, बल्कि यों कहिए कि स्वयं इतिहास बन जाता है।"

कालिदास ने और नाटक भी लिखे हैं, और कुछ लंबे काव्य रचे हैं। उसका समय ठीक-ठीक नहीं तय हो पाया है, लेकिन अनुमान है कि वह चौथी सदी ईसवी के अंत के लगभग, उज्जयिनी में, गुप्त-वंश के चंद्र-गुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के समय में था। परंपरा कहती है कि वह इस दरबार के नवरत्नों में से एक था, और इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी प्रतिभा को लोगों ने पहचाना और उसको, अपने जीवन-काल में, पूरा आदर मिला। वह उन भाग्यवानों में से था, जिन्हें जीवन में आदर मिला, और जिन्होंने सुन्दरता और कोमलता का—जीवन की कठोर-ताओं और रूखेपन की अपेक्षा—अधिक अनुभव किया। उसकी रचनाओं में जीवन के प्रति प्रेम, और प्रकृति की सुंदरता के लिए एक उमंग मिलती है।

कालिदास से शायद बहुत पहले एक और मशहूर नाटक रचा गया था—शूद्रक का 'मृच्छकटिक'। यह एक कोमल और एक हद तक कृत्रिम नाटक है, फिर भी इसमें कुछ ऐसी वास्तविकता है कि उसका हमपर असर होता ह और इससे हमें उस जमाने की संस्कृति और विचारों की झांकी मिलती है। ४०० ई० के लगभग, चंद्रगुप्त द्वितीय के ही जमाने में, एक दूसरा मशहूर नाटक रचा गया, यह विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' था। यह एक विशुद्ध राजनैतिक नाटक है, जिसमें प्रेम का या किसी पौराणिक कथा का आधार नहीं लिया गया है। इसमें चंद्रगुप्त मौर्य के जमाने का हाल है, और उसका प्रधान मंत्री चाणक्य, जिसने 'अर्थ-शास्त्र' लिखा था, इसका नायक है। कुछ अर्थों में यह नाटक आज के जमाने पर बहुत घटित होता है।

राजा हर्ष भी, जिसने सातवीं सदी ईसवी के आरंभ में एक नया साम्राज्य स्थापित किया, एक नाटककार था और हमें उसके लिखे हुए तीन नाटक मिलते हैं। ७०० ई० के लगभग भवभूति हुआ, जो संस्कृत-साहित्य का एक और उज्ज्वल नक्षत्र था। उसका अनुवाद करना सहज नहीं, क्योंकि उसके नाटक की सुंदरता उसकी भाषा में है, लेकिन वह हिंदुस्तान में बहुत लोकप्रिय है और केवल कालिदास को उससे बड़ा समझा जाता है। विल्सन ने, जो आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत का प्रोफेसर था, इन दोनों के बारे में लिखा है कि "भवभूति और कालिदास के श्लोकों से ज्यादा मधुर और सुंदर और शानदार भाषा की कल्पना करना मुमकिन नहीं।"

संस्कृत-नाटक की धारा सदियों तक बहती रही, लेकिन नवीं सदी के मुरारि के बाद उसकी विशेषताओं में प्रकट रूप से कमी आई। यह कमी और क्रमिक उतार हमें जीवन के और कामों में भी दिखाई पड़ता है। यह बताया गया है कि नाटकों का यह ह्रास कुछ अंशों में इस वजह से हो सकता है कि हिंदी-अफगान और मुगल जमानों में इसे राजदरबार की संरक्षिता नहीं प्राप्त हुई, और इस्लाम के माननेवालों ने कला के इस रूप, अर्थात् नाटक को, यों नहीं पसंद किया कि इसका संबंध राष्ट्रीय धर्म से था। लेकिन इस दलील में अधिक बल नहीं है, यद्यपि यह संभव है कि ऊपर के राजनैतिक परिवर्तनों ने थोड़ा-बहुत दूर का असर डाला हो। सच बात तो यह है कि संस्कृत-नाटक का ह्रास इन राजनैतिक परिवर्तनों से बहुत पूर्व दिखाई पड़ने लगता है। और ये परिवर्तन भी, कुछ सदियों तक केवल उत्तरी हिंदुस्तान में हुए, और अगर इस नाटक में कोई दम बच रहा था तो यह दक्खिन में पनप सकता था। भारतीयों, अफगानों, तुर्कों और मुगल शासकों का कारनामा—कुछ थोड़ी मुद्दतों को छोड़कर जबकि कट्टरपना प्रबल रहा है—यह था कि उन्होंने हिंदुस्तान की संस्कृति को निश्चित रूप से बढ़ावा दिया है और अक्सर उसमें नई प्रवृत्तियां उत्पन्न की हैं और अपनी बातें जोड़ी हैं। हिंदुस्तानी संगीत को, बड़े उत्साह से, ज्यों-का-त्यों मुसलमानी दरबारों में और अमीरों के यहां उठा लिया गया है, और इसके कुछ सबसे ब` उस्ताद

मुसलमान हुए हैं। साहित्य और कविता को भी बढ़ावा मिला है और प्रसिद्ध हिंदी कवियों में मुसलमान भी हैं। बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह ने हिंदी में संगीत पर एक किताब लिखी है। हिंदुस्तानी कविता और संगीत दोनों में ही हिंदू देवी-देवताओं के वर्णन भरे पड़े हैं, लेकिन इन्हें स्वीकार किया गया और पुराने रूपक और अलंकार चलते रहे। यह कहा जा सकता है कि कि मूर्तियों का बनाना छोड़कर, कला का कोई भी रूप नहीं है जिसे मुस्लिम शासकों ने (कुछ अपवादों को छोड़कर) दबाने की कोई कोशिश की हो।

संस्कृत-नाटक का ह्रास यों हुआ कि उन दिनों में हिंदुस्तान में, दूसरी दिशाओं में भी ह्रास हो रहा था, और रचना-शक्ति घट रही थी। अफगानों और तुर्कों के दिल्ली में गद्दी पर बैठने के बहुत पहले ही यह ह्रास आरंभ हो गया था। फिर भी, संस्कृत-नाटक संपूर्ण मध्य-युग में और हाल तक लिखे जाते रहे, यह एक आश्चर्य की बात है। सन् १८९२ में शेक्सपियर के 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का संस्कृत-भावानुवाद निकला। पुराने नाटकों की पांडुलिपियां बराबर मिल रही हैं। इनकी एक सूची, जो प्रोफेसर सिल्वान लेवी ने १८९० में तैयार की थी, ३७७ नाटकों और १८९ नाटककारों के नाम देती है। एक और हाल की सूची में ६५० नाटकों के नाम दिये गए हैं।

पुराने नाटकों की (कालिदास और दूसरों के) भाषा मिली-जुली है, यानी उसमें संस्कृत और एक या ज्यादा प्राकृतों का प्रयोग हुआ है, यह प्राकृतें संस्कृत की ही बोल-चाल का रूप हैं। एक ही नाटक में पढ़े-लिखे लोग संस्कृत बोलते हैं और साधारण अनपढ़ लोग, आमतौर से स्त्रियां, प्राकृत बोलती हैं, हालांकि इसके अपवाद भी मिलेंगे। श्लोक या गीत, जिनकी बहुतायत है, संस्कृत में हैं। इस मिली-जुली भाषा की वजह से शायद नाटक साधारण दर्शकों को अधिक प्रिय होता था।

इस ऊंचे दर्जे के साहित्यिक थियेटर को छोड़कर, हमेशा एक लोक-रंजन थियेटर जो भारतीय पौराणिक गाथाओं तथा महाकाव्यों से ली कहानियों पर आधारित था और इन कहानियों से देखनेवाले परिचित हुआ करते थे, और उन्हें तो तमाशे से मतलब होता, नाटकीय

तत्त्वों की जांच से नहीं। ये खेल लोगों की बोली में होते थे, इसलिए अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग बोलियां उपयोग में आती थीं। दूसरी तरफ संस्कृत-नाटक ऐसे थे, जिनका सारे हिंदुस्तान में चलन था, क्योंकि संस्कृत सारे हिंदुस्तान की भाषा थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ये संस्कृत नाटक खेले जाने के लिए लिखे जाते थे, क्योंकि इनमें विस्तार से अभिनय-संकेत दिये गए हैं, और देखनेवालों को विठाने के नियम भी। प्राचीन यूनान की चलन के विरुद्ध यहां नटियां अभिनय में भाग लेती थीं। यूनानी और संस्कृत दोनों में, प्रकृति के संबंध में एक सूक्ष्म चेतना मिलती है, एक ऐसा भाव मिलता है कि मनुष्य प्रकृति का अंग है। इनमें संगीत का गहरा पुट है, और कविता जीवन का एक अनिवार्य अंग ज़ान पड़ती है, जिसमें भरपूर अर्थ और महत्त्व है। यह प्रायः स्वर से पढ़ी जाती थी। यूनानी-नाटकों को पढ़ते हुए बहुत-से ऐसे रीति-रिवाजों और विचार के तरीकों के हवाले आते हैं, जिनसे यकायक पुराने हिंदुस्तानी रीति-रिवाजों की याद आ जाती है। यह सब होते हुए भी यूनानी नाटक संस्कृत नाटक से, मल में, भिन्न हैं।

यूनानी नाटक का विशेष क्षेत्र 'ट्रेजेडी' है, अर्थात् बुराई की समस्या है। आदमी क्यों दुःख उठाता है? दुनिया में बुराई क्यों हैं? धर्म और ईश्वर की पहेली है। आदमी कितना दयनीय है, जिसकी दो-दिन की जिंदगी है, और जो शक्तिशाली भाग्य के विरुद्ध अंधे और निरुद्देश्य प्रयत्नों में लगा हुआ है।

मनुष्य कष्ट झेलकर ही सीखता है, वह सीखता है कि जीवन का सामना कैसे करना चाहिए, लेकिन वह यह भी सीखता ह कि अंतिम रहस्य बना रह जाता है और मनुष्य अपने प्रश्नों के उत्तर नहीं पाता है, न अच्छाई और बुराई की पहेली को ही हल कर पाता है।

यूनानी 'ट्रेजेडी' के बराबर जोरदार, और उस शान की कोई वस्तु संस्कृत में नहीं है। वास्तव में यहां 'ट्रेजेडी' (दुःखांत) जैसी कोई चीज है ही नहीं, क्योंकि इसका निषेध रहा है। इस तरह के बुनियादी प्रश्नों पर विचार नहीं किया गया है, क्योंकि नाटककारों

न धार्मिक विश्वासों को, जैसे वे प्रचलित थे, मान लिया है। नाटकों की रचना के बारे में कड़े नियम बने हुए थे और उन्हें तोड़ सकना आसान न होता था। नायक सदा साहसी व्यक्ति होता है, जो कठिनाइयों का सामना करता है। चाणक्य अवज्ञा के साथ 'मुद्राराक्षस' में कहता है "मूर्ख भाग्य के भरोसे रहते हैं, वे अपने ऊपर भरोसा न कर सहायता के लिए नक्षत्रों की ओर देखते हैं।" कुछ बनावट आ जाती ह। नायक हमेशा नायक बना रहता है, दुष्ट हमेशा दुष्टता के काम करता है, बीच का ताव-भाव नहीं मिलता। फिर भी प्रबल परिस्थितियां आती हैं, हृदय पर असर पैदा करनवाले दृश्य दिखाये गए हैं और जीवन की एक पृष्ठ-भूमि है जो सपने की तस्वीर की तरह जान पड़ती है, अर्थात् जो वास्तविक भी है, और निराधार भी, और इन सबको कवि की कल्पना ओजपूर्ण भाषा गें बुनकर रख देती है। ऐसा जान पड़ता है—चाहे वातस्व में ऐसा न रहा हो—कि हिंदुस्तान का जीवन उस समय अधिक शांतिमय, पायदार था, और मानो उसने जड़ों का पता लगा लिया था और अपने प्रश्नों का हल पा लिया था। यूनानी 'ट्रेजेडी' के भयानक तूफानों जैसी कोई चीज यहां नहीं है। लेकिन उसमें बड़ी मानवता है, एक सुंदर सामंजस्य है, और एक व्यवस्थित एकता है। सिल्वान लेवी ने लिखा है कि "नाटक अब भी हिंदुस्तानी प्रतिभा का सबसे अच्छा आविष्कार है।" और प्रोफेसर ए० बैरिडेल कीथ भी कहते हैं कि "संस्कृत-नाटक को यथार्थ में हिंदुस्तानी काव्य की सबसे ऊंची उपज समझा जा सकता है, जिसमें कि हिंदुस्तानी साहित्य के सचेत रचनाकारों की साहित्यिक कला की अंतिम कल्पना का निचोड़ आ गया है।"

८ : संस्कृत की जीवन-शक्ति और स्थिरता

संस्कृत एक अद्भुत रूप से संपन्न, हरी-भरी और फूलों से लदी हुई भाषा है, फिर भी यह नियमों से बंधी हुई है, और २६०० वर्ष पहले व्याकरण का जो चौखटा पाणिनि ने इसके लिए तैयार कर दिया था, उसके भीतर चल रही है। यह फैली, खूब संपन्न हुई, हरी-

भरी और अलंकृत बनी, लेकिन अपने मूल को पकड़े रही। संस्कृत-साहित्य के ह्रास के समय में, इसने कुछ शक्ति, और शैली की सादगी खो दी, और जटिल रूपों और उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में उलझ गई। शब्दों को जोड़नेवाले समास के नियम पंडितों के हाथ में पड़कर चतुराई दिखाने के साधन बन गए और ऐसे समास-पद बनाये जाने लगे जो कई पंक्तियों में जाकर टूटते थे।

सर विलियम जोन्स ने १७८४ में ही कहा था—"संस्कृत भाषा चाहे जितनी पुरानी हो, उसका गठन अद्भुत है, यूनानी भाषा की अपेक्षा अधिक पूर्ण, लातीनी की अपेक्षा अधिक संपन्न और दोनों की अपेक्षा यह अधिक परिष्कृत है।"

संस्कृत में शोध करने का सबसे अधिक श्रेय उन्नीसवीं सदी के जर्मन विद्वानों को मिलना चाहिए। प्रायः सभी जर्मन विश्वविद्यालयों में एक संस्कृत का विभाग रहा है और इसमें एक या दो अध्यापक लगे रहे हैं। हिंदुस्तान में पंडितों की कमी नहीं थी, लेकिन वे पुराने ढंग के थे, उनमें आलोचना-वृत्ति नहीं थी और वे अरबी और फारसी को छोड़कर प्रतिष्ठित विदेशी भाषाओं के जानकार न थे। यूरोपियों के प्रभाव से, हिंदुस्तान में एक नई तरह से अध्ययन शुरू हुआ और बहुत-से हिंदुस्तानी यूरोप (आमतौर पर जर्मनी) गए, जिससे कि वे शोध और आलोचना और तुलनात्मक अध्ययन के नये ढंगों को सीख लें। इन्हें यूरोपीयों की अपेक्षा एक सुविधा भी थी, लेकिन साथ-ही-साथ एक असुविधा भी थी। और यह असुविधा इस वजह से थी कि उनके कुछ बंधे-तुले और पहले से बने हुए विचार थे और इनके कारण वे निष्पक्ष आलोचना न कर पाते थे। जो सुविधा थी, वह बहुत बड़ी सुविधा थी, अर्थात् रचना के भाव को, और जिस वातावरण में वह की गई थी, उसे, वे जल्दी समझ लेते थे और इस तरह उसमें पैठ सकते थे।

व्याकरण और भाषा-शास्त्र की अपेक्षा भाव स्वयं कहीं बड़ी वस्तु है। यह एक जाति और संस्कृति की प्रतिभा का कवित्वमय उत्तराधिकार है, और जिन विचारों और कल्पनाओं ने उन्हें ढाला है, उनका जीता-

जागता रूप है। शब्द युग-युग में अपने अर्थ बदलते रहते हैं, और पुराने विचार नये विचारों में बदल जाते हैं, यद्यपि प्रायः वे अपना पुराना भेस बनाये रखते हैं। किसी पुराने शब्द या मुहावरे का अर्थ पकड़ना कठिन हो जाता है, और उसके भाव के बारे में तो कहा ही क्या जाय। अगर हम उस पुराने अर्थ की झलक लेना चाहते हैं, और उन लोगों के मस्तिष्क में पैठना चाहते हैं जिन्होंने इस भाषा का अतीत में प्रयोग किया था, तो हमें भावुक और कवित्वमय निगाह रखना जरूरी है। भाषा जितनी संपन्न ओर भरी-पूरी होती है, उतनी-ही कठिनाई बढ़ जाती है। और प्रतिष्ठित भाषाओं की तरह संस्कृत ऐसे शब्दों से भरी पड़ी है, जिनमें न केवल काव्य की सुंदरता है, बल्कि जिनमें गहरे अर्थ हैं, उनके साथ जुड़े हुए बहुत-से विचार हैं, जिनको ऐसी भाषा में, जो भावों और दृष्टिकोण में विदेशी है, नहीं अदा किया जा सकता। उसके व्याकरण, उसके दर्शन में भी काव्य का पुट है, उसके पुराने कोष तक पद्य में हैं।

हिंदुस्तान की हमारी वर्तमान भाषाएं संस्कृत से उपजी हैं और उनके शब्द-कोष और बयान के ढंग संस्कृत की देन हैं। संस्कृत-काव्य और दर्शन के वहुत-से अर्थपूर्ण और विशेष शब्द, जिनके विदेशी भाषाओं में अनुवाद नहीं हो सकते, अब भी हमारी आम भाषाओं के अंग हैं। और स्वयं संस्कृत में, यद्यपि वह लोगों की भाषा के रूप में बहुत दिन हुए मर चुकी है, एक अद्भुत जीवन-शक्ति है।

कितने दिनों से संस्कृत एक मरी हुई भाषा है——इस अर्थ में कि वह आमतौर पर बोली नहीं जाती——मैं नहीं जानता। कालिदास के जमाने में भी यह जनता की भाषा न थी, अर्थात् यह सारे हिंदुस्तान के पढ़े-लिखों की ही भाषा थी। और सदियों तक यह ऐसी ही बनी रही। वल्कि दक्खिन-पूरब एशिया के हिंदुस्तान के उपनिवेशों में और मध्य-एशिया में भी फैली। नियमित रूप से संस्कृत-अध्ययन के, और संभवतः नाटकों के भी, सातवीं सदी ईसवी में, कंबोडिया में प्रचलित होने के प्रमाण हैं। थाईलैंड (स्याम) में कुछ उत्सव-संस्कारों के अवसरों पर, संस्कृत अब भी प्रयोग में आती है। हिंदुस्तान में संस्कृत की

जीवनी शक्ति बड़ी अचरज-भरी रही है। जबकि तेरहवीं सदी के आरंभ में अफ़गान सुल्तानों ने दिल्ली की गद्दी पर अधिकार कर लिया, उस समय हिंदुस्तान के अधिक भागों की दरबारी भाषा फारसी हो गई और क्रमशः बहुत-से पढ़े-लिखे लोगों ने संस्कृत की अपेक्षा उसे ग्रहण किया। आम भाषाओं ने भी उन्नति करके साहित्यिक रूप ग्रहण किये। फिर भी, इन सब बातों के बावजूद, संस्कृत चलती रही, यद्यपि यह संस्कृत वैसे पाये की न रह गई थी।

सादी संस्कृत का समझना उन लोगों के लिए, जो आज की किसी भी भारतीय आर्यभाषा—हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि—को अच्छी तरह जानते हैं, सहज है। आजकल की उर्दू तक में, जो एक भारतीय आर्यभाषा है, ८० फी-सदी शब्द संस्कृत के हैं। अक्सर यह बताना मुश्किल हो जाता है कि कोई विशेष शब्द संस्कृत से आया है या फारसी से, क्योंकि इन दोनों भाषाओं के मूल शब्द अक्सर एक-से हैं। कुछ अचरज की बात है कि दक्खिन की द्रविड़ भाषाओं ने, जो यद्यपि मूल में बिल्कुल अलग की भाषाएं हैं, संस्कृत के इतने शब्द अपना लिये हैं कि करीब-करीब उनका आधा शब्द-कोष संस्कृत से मिलता है।

बहुत-से विषयों पर, जिनमें नाटक भी हैं, संस्कृत में सारे मध्य-युग में, यहांतक कि हमारे समय तक पुस्तकें लिखी जाती रही हैं। वास्तव में ऐसी पुस्तकें अब भी निकलती रहती हैं और संस्कृत में पत्रिकाएं भी निकलती हैं। उनका दर्जा बहुत ऊंचा नहीं है और संस्कृत साहित्य में वे कोई मूल्यवान् वृद्धि नहीं करती हैं। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि संस्कृत की गिरफ्त इस सारे लंबे जमाने में बनी रही। कभी-कभी आम सभाओं में अब भी संस्कृत में व्याख्यान होते हैं, यद्यपि यह स्वाभाविक है कि सुननेवाले लोग बहुत चुने हुए होते हैं।

यह एक रोचक जानकारी है कि आजकल के थाईलैंड में जब नये पारिभाषिक, वैज्ञानिक और शासन-संबंधी पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता हुई, तो उनमें से बहुत-से संस्कृत के आधार पर बना लिये गए।

प्राचीन हिंदुस्तानी ध्वनि पर बड़ा बल देते थे और इसलिए उनकी रचनाओं में, चाहे वे गद्य में हों या पद्य में, एक लय और संगीत का गुण मिलता है। शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण हो सके, इसका बड़ा प्रयत्न होता था, और इसके लिए नियम बनाये गए थे। इसकी और भी आवश्यकता यों पड़ी कि पुराने समय में शिक्षा मौखिक होती थी और सारी पुस्तकें कंठस्थ करा दी जाती थीं, और इस तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती थीं। शब्दों की ध्वनि को महत्व देने का परिणाम यह हुआ कि अर्थ और ध्वनि का मेल कराने के यत्न हुए। कभी-कभी बहुत सुंदर मेल पैदा हुआ और कभी-कभी भद्दे और बनावटी संयोग भी बन पड़े।

वेदों के पाठ आज भी, उच्चारण के उन नियमों के अनुसार किये जाते हैं, जो प्राचीन काल में बनाये गए थे।

आज की हिंदुस्तानी भाषाएं, जो संस्कृत से निकली हैं और इस-लिए भारतीय आर्यभाषाएं कहलाती हैं, ये हैं—हिंदी, उर्दू, बंगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमी, राजस्थानी (जो हिंदी का ही एक रूप हैं), पंजाबी, सिंधी, पश्तो और कश्मीरी। द्रविड़-भाषाएं ये हैं—तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम। इन पंद्रह भाषाओं में सारे हिंदुस्तान की भाषाएं आ जाती हैं, और इनमें से हिंदी (अपने रूपांतर उर्दू के साथ) सबसे अधिक प्रचलित है और जहां यह बोली भी नहीं जाती वहां भी समझ ली जाती है। इन भाषाओं को छोड़कर कुछ बोलियां और अविकसित भाषाएं हैं, जो बहुत छोटे इलाकों में या कुछ पिछड़ी हुई पहाड़ी और जंगली जातियों द्वारा बोली जाती हैं। बार-बार दुहराई जानेवाली यह कहानी कि हिंदुस्तान में पांच सौ या इससे अधिक भाषाएं हैं, भाषा-वैज्ञानिकों, या मर्दुमशुमारी के कमिश्नर के दिमाग की गढ़ंत है, जो बोलियों के छोटे-छोटे भेदों को, और असम, बंगाल और बरमा के सरहद की पहाड़ी जातियों की हरएक बोली को गिन लेते हैं, चाहे वह बोली कुछ सौ या हजार लोगों की ही बोली हो।

हिंदुस्तान में भाषा के प्रश्न का इस विविधता से कोई संबंध नहीं।

यह मसला हिंदी-उर्दू का है, यानी एक जबान का, जिसके दो साहित्यिक रूप हैं और जिसकी दो लिपियां हैं। बोली में दोनों में शायदही अधिक भेद हो--लिखने में, खासतौर से साहित्यिक शैली में, यह भेद बढ़ जाता है। इस भेद को कम करने की और एक आम सूरत जिसेकि हिंदुस्तानी कहते हैं, पैदा करने की कोशिशें हुई हैं, और अब भी जारी हैं।

लंका की भाषा सिंहली है। यह भी संस्कृत से निकली हुई एक भारतीय-आर्यभाषा है। सिंहली लोगों ने अपना धर्म, यानी बौद्ध-धर्म ही हिंदुस्तान से नहीं लिया है, बल्कि वे जाति और भाषा में भी हिंदुस्तानियों से मिले हुए हैं।

अब यह बात पूरी तरह से मानी जा चुकी है कि संस्कृत का यूरोप की पुरानी प्रतिष्ठित और आज की भाषाओं से मेल है। स्लाव भाषा तर्क में बहुत-से मूल शब्द संस्कृत से मिलते हैं। संस्कृत से सबसे निकट की यूरोपीय भाषा लिथुआनियन है।

९ : बौद्ध-दर्शन

जिस युग में बुद्ध का जन्म हुआ, वह हिंदुस्तान के लिए बड़े मानसिक मंथन और दार्शनिक चिंतन का काल था। और यह बात हिंदुस्तान तक ही सीमित न थी, क्योंकि यही समय लाओ-त्से और कन्फ्यूशस का और जरथुस्त और पाइथागोरस का था। हिंदुस्तान में इसने भौतिकवाद को भी जन्म दिया और भगवद्गीता को भी, बौद्ध-मत को भी और जैन-मत को भी, और दूसरी बहुत-सी विचारधारओं को, जो बाद में हिंदुस्तानी-दर्शन के अलग-अलग वर्गों में प्रकट हुईं। विचारों की अनेक तहें थीं—एक-दूसरे से मिली हुईं और कभी एक-दूसरे पर चढ़ी हुईं। बौद्ध धर्म के साथ-साथ भिन्न-भिन्न दर्शनों का विकास हुआ, और स्वयं बौद्ध धर्म में ऐसे भेद पैदा हुए जिनसे कि विचार के अलग-अलग वर्ग स्थापित हो गए। दार्शनिक चिंतन धीरे-धीरे घटा और उसकी जगह लोग पंडिताऊ बहस-मुबाहसे में पड़ गए।

बुद्ध ने अपने अनुयायियों को आधिभौतिक विषयों को लेकर

पंडिताऊ बसह-मुबाहसे में पड़ने के विरुद्ध सतर्क कर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने कहा था—"जिस विषय की आदमी को जानकारी न हो, उसपर चुप रहना चाहिए।" सत्य की खोज खुद जीवन में होनी चाहिए, जीवन के दायरे से परे के मामलों और इसलिए मनुष्य की बुद्धि से बाहर की बातों के बारे में बहस में नहीं। उन्होंने जिन्दगी के आचार-पक्ष पर जोर दिया और प्रकट में यह अनुभव किया कि लोग जब आधिभौतिक बारीकियों में पड़ जाते हैं तो इसे भुला दिया जाता है। आरंभ के बौद्ध-धर्म में हमें बुद्ध के इस दार्शनिक और बुद्धिवादी भाव की झलक मिलती है। उसकी जिज्ञासा की बुनियाद अनुभव पर है।

बुद्ध ने, विद्रोही होते हुए भी, अपने को देश के पुराने धर्म से अलग नहीं किया। मिसेज रीज डेविड्स कहती हैं—"गौतम का जन्म और पालन हिंदू की भांति हुआ था और वह हिंदू की तरह रहे और मरे. . . गौतम के अध्यात्मवाद और सिद्धांतों में बहुत बातें ऐसी न मिलेंगी जो प्राचीन पद्धतियों में न मिल जायं; और उनकी नीति से मिलती हुई शिक्षाएं पहले या बाद की हिंदू पुस्तकों में मिल जायंगीं। गौतम की जो-कुछ मौलिकता है, वह इस बात में है कि जो अच्छी बातें और लोग कह गए थे, उन्हें उन्होंने नये रूप में ढाला, उनका विस्तार किया, उन्हें प्रतिष्ठित किया, और यह कि जिन न्याय और बराबरी के सिद्धातों को पहले ही मुख्य हिंदू विचारकों ने माना था, उनको उन्होंने तर्क के आधार पर अंतिम परिणाम तक पहुंचाया।"

पहले के बौद्ध धर्म की ज्यों-ज्यों अवनति हुई, त्यों-त्यों उसके महायान रूप ने उन्नति की; पुराना रूप हीनयान कहलाता था। इसी महायान-पंथ में बुद्ध को ईश्वर का पद दिया गया और साकार ईश्वर के रूप में उनकी उपासना प्रारंभ हुई। बुद्ध की मूर्ति भी पच्छिमोत्तर के यूनानी प्रदेश में दिखाई पड़ने लगी। लगभग इसी समय हिंदुस्तान में ब्राह्मण-धर्म फिर से जगा, और साथ-साथ संस्कृत के अध्ययन ने जोर पकड़ा। हीनयान और महायान-पंथों के बीच तीखे विवाद हुए और दोनों के बीच शास्त्रार्थ और आपस का विरोध बाद के इतिहास में बराबर मिलता है। हीनयानवाले देश (लंका, बरमा, स्याम) अब

भी चीन और जापान में प्रचलित बौद्ध-धर्म को उपेक्षा से देखते हैं, और मेरा अनुमान है कि दूसरी ओर से भी भावना का जवाब मिलता है।

हीनयान ने, कुछ हद तक, सिद्धांत की पुरानी पवित्रता बनाये रखी, और उसे पाली में एक व्यवस्थित रूप दिया। लेकिन महायान सभी दिशाओं में फैला, उसने सभी तरह के विश्वासों के लिए रवादारी बरती और हरएक देश के विशेष दृष्टिकोण के अनुसार अपने को ढाल लिया। हिंदुस्तान में यह आम धर्म के निकट आने लगा; और देशों—चीन, जापान, तिब्बत—में इसका विकास अलग-अलग ढंग से हुआ।

१० : बौद्ध-धर्म का हिंदू-धर्म पर प्रभाव

बुद्ध ने स्थापित सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था को उखाड़ने का दावा कभी नहीं किया। उन्होंने उनकी बुनियादी मान्यताओं को स्वीकार किया, और अगर आक्षेप किये तो केवल उन बुराइयों पर, कि जो उनके गिर्द इकट्ठा हो गई थीं। फिर भी वह कुछ हद तक समाज में क्रांति पैदा करने के काम में लगे थे, इसलिए ब्राह्मण-वर्ग, जो उस समय के चलन को जारी रखना चाहता था, उनसे अप्रसन्न हो गया।

बौद्ध-धर्म ने सैकड़ों प्रकार से हिंदुस्तानी जीवन पर प्रभाव डाला। और यह अनिवार्य भी था, क्योंकि इसे याद रखना चाहिए कि एक हजार वर्ष तक यह एक जीता-जागता, शक्तिशाली और हिंदुस्तान में दूर-दूर तक फैला हुआ धर्म था। उसे लंबे काल में, जबकि इसका ह्रास हो रहा था, और जबकि एक अलग धर्म के रूप में यहां इसका अस्तित्व न रहा, इसका बहुत अंश हिंदू-धर्म और राष्ट्रीय जीवन और विचार के ढंग का अंग बन गया।

हिंदुस्तान में आर्य-धर्म विशेष रूप से एक राष्ट्रीय धर्म था, जो इस देश तक सीमित था, और जो सामाजिक जात-पांत की व्यवस्था यहांपर उन्नति कर रही थी, उसने इस पहलू पर जोर दिया। इसने धर्म-प्रचार की कोशिशें न कीं, धर्म-परिवर्तन का यहां कोई सवाल

न उठता था, और हिंदुस्तान की सरहद से पार इसकी निगाह न जाती थी। हिंदुस्तानी जीवन का समुंदर अपने में भरा-पूरा था और इतना काफी बड़ा और विविध था कि उसमें तरह-तरह की मौजों के उठने की पूरी गुंजाइश थी। उसमें आत्म-चेतना थी और वह अपने में ही डूबा रहनेवाला था, और उसे इस बात की परवाह न थी कि उसकी सरहदों के बाहर क्या हो रहा है। इस समुंदर के बीचो-बीच एक ऐसा सोता फूट निकला, जिससे कि ताजे और निथरे हुए पानी की धार बह चली, जो पुरानी सतह को चंचल करती हुई, बढ़कर सैलाब बन गई और इसने उन पुरानी सरहदों और रुकावटों की परवाह न की जिन्हें मनुष्य और प्रकृति ने खड़ा कर रखा था। बुद्ध की शिक्षा की इस धार में राष्ट्र के लिए उपदेश था, लेकिन यह उपदेश राष्ट्र तक के लिए ही नहीं था। यह भले आचरण में लगने के लिए एक ऐसी पुकार थी, जिसने वर्ग, जात-पांत या कौम की बंदिशें न मानीं।

वैदिक-धर्म और धर्म के साधारण रूपों के साथ जो कर्म-कांड और पूजा-पाठ का रिवाज लगा हुआ था, वह लुप्त हो चुका था, विशेषकर पशुओं की बलि की प्रथा उठ चुकी थी। अहिंसा के विचार पर, जो वेदों और उपनिषदों में पहले से ही मौजूद था, बौद्ध-धर्म ने, और उससे भी अधिक जैन-धर्म ने जोर दिया। जिंदगी के लिए एक नया आदर और जानवरों के प्रति दया का भाव पैदा हो गया। और इन सबके पीछे भले और ऊंचे प्रकार के जीवन बिताने का विचार रहा।

बुद्ध ने तपस्या के नैतिक मूल्य से इनकार किया था, लेकिन उनकी शिक्षा का सारा प्रभाव जीवन के प्रति निराशावाद का था। यह विशेषकर हीनयान का रुख था, और जैनियों का इससे भी बढ़कर था। परलोक, मुक्ति और दुनिया के बोझ से छुटकारा पाने पर जोर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन मिला और शाकाहार बढ़ा। ये सभी विचार हिंदुस्तान में बुद्ध से पहले मौजूद थे, लेकिन इनपर इतना जोर नहीं दिया गया था। पहले तपस्या की ओर झुकाव रखने-वाले लोग छोटे-छोटे गुट्टों में जंगलों में आश्रम बनाकर रहा करते थे,

और विद्यार्थी आकर्षित होकर उनके यहां जाते थे। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ बड़े-बड़े मठ, भिक्खुओं और भिक्खुणियों के, सब जगह बन गए थे और लोग इनमें खिचकर जाने लगे। विहार के सूबे का नाम ही विहार या मठ से बना है, जिससे पता चलता है कि इस बड़े प्रदेश में कितने मठ रहे होंगे। इन मठों में शिक्षा का भी प्रबंध हुआ करता था और कुछ का संबंध विद्यालयों और कभी-कभी विश्वविद्यालयों या विद्यापीठों से था।

बुद्ध के समय में वर्ण-व्यवस्था लचीली थी और इसमें उतनी कट्टरता नहीं आई थी जितनी कि बाद के ज़माने में आ गई। जन्म से अधिक योग्यता, चरित्र और काम पर महत्व दिया जाता था। स्वयं बुद्ध ने अक्सर ब्राह्मण शब्द का योग्य, उत्साही और संयमी आदमी के बारे में प्रयोग किया है।

११ : हिंदू-धर्म ने बौद्ध-धर्म को किस तरह आत्मसात् किया

कीथ का कहना है कि "हिंदुस्तान में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह जिस वस्तु को बाहर से ग्रहण करता है, उसे अपने में मिला और पचा लेता है।" अगर यह बात बाहर से और विदेशी आधारों से ली गई वस्तुओं के बारे में सही है, तो यह स्वयं उसीके मस्तिष्क और विचारों की उपज के बारे में और भी लागू हो जाती है। बौद्ध धर्म न केवल पूरीतौर पर हिंदुस्तान की उपज था, बल्कि इसका दर्शन हिंदुस्तान के पुराने विचार और उपनिषदों के वेदांती दर्शन से मिलता हुआ था। उपनिषदों ने पुरोहिताई और कर्म-कांड की हंसी तक उड़ाई थी और जात-पांत के महत्व को कम किया था।

बौद्ध-धर्म, हिंदुस्तान में, एक सामाजिक और आध्यात्मिक जागृति और सुधार के समय में आरंभ हुआ। इसने लोगों में एक नई जान फूंकी, जनता की शक्ति के नये द्वार निकाले, और नेतृत्व के नये जौहर प्रस्तुत किये। अशोक के साम्राज्य की सरपरस्ती में यह तेजी से फैला और हिंदुस्तान का सबसे मुख्य धर्म बन गया। यह दूसरे मुल्कों में भी फैला और हिंदुस्तान के बाहर

जाते, और बाहर से हिंदुस्तान आनेवाले बौद्ध-विद्वानों का लगातार तांता लगा रहता था। यह सिलसिला सदियों तक जारी रहा। जब चीनी यात्री फाहियान हिंदुस्तान में पांचवीं सदी ईसवी में, यानी बुद्ध के एक हजार साल बाद आया, तो उसने देखा कि यहां बौद्ध-धर्म फैला हुआ है। सातवीं सदी में, एक उससे भी मशहूर यात्री, ह्वेनत्सांग हिंदुस्तान में आया और उसने ह्रास के लक्षण देखे, यद्यपि कुछ देशों में इसका अब भी जोर था। काफी बड़ी संख्या में बौद्ध-विद्वान् और भिक्खु धीरे-धीरे हिंदुस्तान से चीन चले गए।

इस बीच में गुप्त-सम्राटों के समय में, चौथी और पांचवीं सदियों में, ब्राह्मण-धर्म में पुनर्जागृति पैदा हो गई थी। यह बौद्ध-धर्म की विरोधी कदापि नहीं थी, लेकिन इसने निश्चित रूप में ब्राह्मण-धर्म की शक्ति और महत्व को बढ़ावा दिया और उसके भीतर बौद्ध-धर्म की परलोकमुखता के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया भी थी। बाद के गुप्त-राजाओं ने बहुत दिनों तक हूणों के आक्रमणों का सामना किया, और यद्यपि उन्होंने अंततः हूणों को यहां से भगा दिया, फिर भी देश में कमजोरी आ गई और ह्रास का सिलसिला शुरू हो गया। बाद में कई ऐसे समय आये हैं जबकि उन्नति दिखाई पड़ी है और मारके के लोग सामने आये हैं। लेकिन ब्राह्मण-धर्म और बौद्धधर्म दोनों का ह्रास होता रहा, और दोनों के अंदर बहुत गिरे आचार दिखाई पड़ने लगे। दोनों के बीच भेद कर सकना कठिन हो गया। अगर ब्राह्मण-धर्म ने बौद्धधर्म को अपने में समाविष्ट कर लिया, तो इस प्रक्रिया में ब्राह्मण-धर्म स्वयं बहुत-से अर्थों में बदल गया।

आठवीं सदी में, शंकराचार्य ने, जो हिंदुस्तान के सबसे बड़े दार्शनिकों में हो गए हैं, हिंदू संन्यासियों के मठ बनाए। यह बौद्धों के संघों की नकल में था। इससे पहले ब्राह्मण-धर्म में संन्यासियों के ऐसे कोई संगठन न थे, यद्यपि उनके छोटे-छोटे गुट मौजूद थे। पूर्वी बंगाल में और पच्छिमोत्तर में सिंध में बौद्धधर्म का कोई बिगड़ा हुआ रूप अब भी चल रहा था। नहीं तो बौद्धधर्म शनै-शनै हिंदुस्तान से, एक प्रचलित धर्म के रूप में, उठ गया।

१२ : छः दर्शन

हिंदुस्तानी-दर्शन का आरंभ हम बौद्ध-काल से पूर्व ही होता हुआ देखते हैं। ब्राह्मणों और बौद्धों के दर्शनों का विकास साथ-साथ और क्रमिक होता है और ये आपस में बहुधा एक-दूसरे की आलोचना भी करते हैं और एक दूसरे की बातों को ग्रहण भी कर लेते हैं। ईसवी सन् के आरंभ होने से पहले ब्राह्मणों के छः दर्शनों ने अपना स्वरूप बना लिया था। हरएक का अपना अलग दृष्टिकोण है, हरएक की तर्क-शैली अलग है, फिर भी ये एक-दूसरे से अलग-थलग नहीं थे, बल्कि एक बड़ी चिंतनधारा के अंग थे।

छः दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं—(१) न्याय; (२) वैशेषिक; (३) सांख्य; (४) योग; (५) मीमांसा; और (६) वेदांत।

न्याय की शैली तर्क और विश्लेषण की शैली है। वास्तव में 'न्याय' के अर्थ ही तर्क या विवेक-शास्त्र के हैं। यह बहुत-कुछ अरस्तू की तर्क-शली से मिलता-जुलता है, लेकिन दोनों में बुनियादी भेद भी हैं। न्याय के बुनियादी सिद्धांतों को और सभी दर्शनों ने स्वीकार कर लिया था, दर्शन के अध्ययन के लिए इसे केवल एक अनिवार्य तैयारी के तौर पर न समझा जाता था, बल्कि यह समझा जाता था कि हरएक पढ़े-लिखे आदमी के लिए इसका जानना आवश्यक है। इसकी शैली अवश्य इस युग के वैज्ञानिक ढंग की वस्तुगत जांच से भिन्न थी। फिर भी वह अपने ढंग से आलोचनात्मक और शास्त्रीय थी, और ऐसी थी कि उसमें धर्म का सहारा लेने के बजाय ज्ञान के विषयों की जांच की तर्कपूर्ण ढंग से कोशिश की गई है। इसके पीछे कुछ धर्म अवश्य रहा है, कुछ मान्यताएं रही हैं जिनके बारे में तर्क कर सकना संभव न था। यह मान लिया गया था कि जीवन और प्रकृति में एक तारतम्य और एकता है। व्यक्तिगत ईश्वर में भी विश्वास है, इसी तरह वैयक्तिक आत्माओं और परमाणुगत सृष्टि में। व्यक्ति न शरीर है, और न आत्मा, बल्कि दोनों के मेल का नतीजा है। वास्तविकता को आत्माओं और प्रकृति का जटिल मिश्रण माना गया है।

वैशेषिक-दर्शन बहुत-सी बातों में न्याय से मिलता-जुलता है। यह जीव और पदार्थ की भिन्नता पर बल देता है और इस सिद्धांत को प्रस्तुत करता है कि सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है। इसमें विश्व को धर्म के आधार पर संचालित बताया गया है और इसी सिद्धांत पर पूरे दर्शन की रचना की गई है। ईश्वर की धारणा को स्पष्ट स्वीकार नहीं किया गया है। न्याय और वैशेषिक और आरंभ के बौद्ध-दर्शन में बहुत-सी मिलती हुई बातें हैं। कुल मिलाकर उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी है।

सांख्य-दर्शन, जिसके बारे में कहा जाता है कि कपिल (लगभग सातवीं सदी, ई० पू०) ने इसे बहुत-सी प्राचीन और बुद्ध से पहले की विचारधाराओं के तत्वों के सहारे गढ़ा था, बड़े मारके का है। रिचर्ड गार्ब के अनुसार—"दुनिया के इतिहास में पहली बार हमें मानवी मस्तिष्क की पूर्ण स्वतंत्रता और अपनी शक्ति पर पूरी निर्भरता की मिसाल कहीं मिलती है तो वह कपिल के सिद्धांत में।" बौद्ध-धर्म के उदय के बाद सांख्य एक बड़ा सुगठित दर्शन बन गया। जो सिद्धांत इसमें बताया गया है, वह वस्तु-जगत के पदार्थों की जांच के आधार पर नहीं बना है, बल्कि मनुष्य के मस्तिष्क से उपजी हुई, पूर्णतया दार्शनिक और आधिभौतिक कल्पना है। वास्तव में जो चीजें अपनी पहुंच से परे हैं, उनकी इस तरह जांच मुमकिन भी नहीं। बौद्ध-धर्म की तरह सांख्य ने भी अपनी जांच-पड़ताल में बुद्धि और तर्क का सहारा लिया और प्रमाणों को छोड़ा, इस तरह उसने बौद्धधर्म से उसीके मैदान में मोर्चा लिया। इस बुद्धिवादी दृष्टिकोण की वजह से ईश्वर के विचार को अलग कर दिया गया। इस तरह सांख्य में न साकार ईश्वर है और न निराकार, न एकेश्वरवाद है न एकवाद। इसका दृष्टिकोण नास्तिक दृष्टिकोण है और इसने लोकातीत धर्म की बुनियादों को हिला दिया। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि नहीं की है, बल्कि एक सतत विकास हुआ है। वह पुरुष, बल्कि पुरुषों और प्रकृति की आपस की प्रतिक्रिया का नतीजा है, यद्यपि प्रकृति स्वयं भी शक्ति-रूप है। विकास निरंतर प्रक्रिया है।

सांख्य द्वैतवादी-दर्शन कहलाता है, क्योंकि इसका आधार दो आदि-कारणों पर है। एक तो प्रकृति है, जो बराबर काम करती रहनेवाली और परिवर्तनशील शक्ति है, और दूसरा पुरुष है, जो चेतन है और कभी बदलता नहीं। चेतनरूप पुरुषों या आत्माओं की अनगिनत संख्या है। पुरुष स्वयं स्थिर है, लेकिन उसके प्रभाव में प्रकृति विकास करती ह, और एक निरंतर पूर्णता को प्राप्त करनेवाली दुनिया का रूप लेती है। कार्य-कारण का संबंध माना गया है, लेकिन कहा यह गया है कि कार्य कारण में ही निहित है। कार्य और कारण इस तरह से एक-ही वस्तु के विकसित और अविकसित रूप हैं। हमारे व्यावहारिक दृष्टिकोण से अवश्य कार्य और कारण अलग-अलग और एक-दूसरे से भिन्न हैं, लेकिन बुनियादी तौर पर दोनों एक हैं।

पातंजलि का योग-दर्शन विशेष रूप से शरीर और मन के संयम का एक प्रकार है जिससे मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा मिलती है। पातंजलि ने न केवल इस पुराने दर्शन को एक संगठित रूप दिया, बल्कि पाणिनि के संस्कृत-व्याकरण पर भी उसने भाष्य लिखा। 'योग' शब्द अब यूरोप और अमरीका में खूब चल गया है, यद्यपि इसे बहुत कम लोग ठीक-ठीक समझते हैं और इसका संबंध विचित्र क्रियाओं से जोड़ा जाता है, विशेषकर बुद्ध के समान आसन लगाकर बैठने से और अपनी नाभि या नाक की नोक की तरफ ध्यान लगाकर देखने से। पच्छिम में, कुछ लोग, शरीर के कुछ करतबों को सीखकर, अपने को इस विषय का अधिकारी समझने लगते हैं और विश्वासी या अद्भुत चीजों की खोज में रहनेवालों को ठगते हैं या उनपर रोब जमाते हैं। यह दर्शन शरीर के कुछ करतबों तक ही सीमित नहीं है' बल्कि इसका आधार यह मनोवैज्ञानिक विचार है कि मन की ठीक-ठीक शिक्षा हो तो एक ऊंचे ढंग की चेतना पैदा हो जाती है। इस ढंग का उद्देश्य यह है कि मनुष्य स्वयं वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करे, यह नहीं कि यथार्थता या विश्व के बारे में किसी पूर्व-कल्पित आधिभौतिक सिद्धांत को स्वीकार कर ले। इस तरह से, यह एक प्रयोगात्मक पद्धति है और इसे चलाने के सबसे अच्छे ढंग बयान किये गए हैं और इसलिए इसे कोई

भी दर्शन ग्रहण कर सकता है—उसका दृष्टिकोण चाहे जैसा हो। उदाहरण के लिए सांख्य-दर्शन, जो नास्तिक है, इसके ढंगों को व्यवहार में ला सकता है। बौद्धधर्म ने यौगिक शिक्षा के एक नये ही रूप का विकास किया, जो इससे कुछ मिलता था और कुछ भिन्न था। इसलिए पातंजलि के योग-दर्शन के सिद्धांतवाले अंश अपेक्षाकृत कम महत्व के हैं, जिन वस्तुओं का महत्व है वे हैं उसकी क्रियाएं। ईश्वर की सत्ता में विश्वास इस दर्शन का अंग नहीं है, लेकिन इस बात का सुझाव दिया गया जान पड़ता है कि साकार ईश्वर में विश्वास और उसकी भक्ति मन को स्थिर करने में सहायक होती है, इसलिए इसका एक व्यावहारिक उद्देश्य है।

लेकिन ध्यान और मनन की इन अंतिम सीढ़ियों तक पहुंचने से पहले शरीर और मन के संयम की आवश्यकता है। शरीर ठीक और स्वस्थ, लचीला और सुंदर और पुष्ट होना चाहिए। अनेक शारीरिक क्रियाएं बताईं गईं हैं, और सांस लेने के ढंग भी, जिनसे उनपर वश प्राप्त किया जासके और मनुष्य साधारणतया गहरी और लंबी सांसें लेनें का आदी हो जाय। शरीर को चुस्त रखने का यह ठेठ हिंदुस्तानी ढंग सचमुच बड़े मारके का है, अगर हम इसका दूसरे आम ढंगों से मिलान करते हैं, जिनमें उछल-कूद रहती है और जिनमें शरीर को तरह-तरह से झटके दिये जाते हैं, यहांतक कि मनुष्य थककर रह जाता है और हांफ जाता है। ये दूसरे ढंग भी हिंदुस्तान में प्रचलित रहे हैं, और कुश्ती, तैराकी, घुड़सवारी, बनेटी, तीरंदाजी, गदा-मुगदर, जि-जित्सू के ढंग की चीज, और बहुत-से और खेल और दिल-बहलाव के प्रकार रहे हैं। लेकिन आसन का प्रकार शायद हिंदुस्तान के लिए अपना और उसके दर्शन के अनुकूल है। इसमें एक विशेष सम-तौल है, और शरीर का व्यायाम कराते हुए भी इसमें अविचलित शांति है। इससे शक्ति को व्यय किये विना मनुष्य शक्ति और चुस्ती प्राप्त कर लेता है, और इसी वजह से आसन सभी उम्र के लोगों के लिए ठीक हैं, यहांतक कि इसे बुड्ढे लोग भी कर सकते हैं। ये आसन बहुत तरह के हैं।

विवेकानंद ने, जो योग और वेदांत के इस जमाने के सबसे

बड़े समर्थकों में हुए हैं, योग के प्रयोगात्मक पक्ष पर बार-बार जोर दिया है और उसे विवेक पर आधारित किया है। "इन योगों में से कोई भी विवेक का पल्ला नहीं छोड़ता, कोई यह नहीं कहता कि तुम अपनी विवेक-बुद्धि किसी भी तरह के पुरोहितों के हाथ में सिपुर्द कर दो..... इनमें से हरएक यह बताता था कि तुम अपने विवेक को मजबूती से पकड़े रहो।" यद्यपि योग और वेदांत का भाव विज्ञान के भाव के अनुकूल है, फिर भी यह सच है कि दोनों के माध्यम अलग-अलग हैं, और इसलिए उनमें गहरे भेद आ जाते हैं। योग के अनुसार चेतना बुद्धि तक सीमित नहीं है, और "विचार कर्म है और केवल कर्म के कारण विचार का मूल्य है।" प्रेरणा और अंतर्दृष्टि को स्वीकार किया गया है, लेकिन क्या ये भुलावे में हमें नहीं डाल सकतीं ? विवेकानंद कहते हैं कि प्रेरणा को बुद्धि के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। "जिसे हम प्रेरणा कहते हैं, वह विवेक का ही विकास है, अंतर्दृष्टि तक पहुंचनेवाला रास्ता विवेक का ही रास्ता है....सच्ची प्रेरणा कभी विवेक के विरुद्ध नहीं जाती। जहां वह विरुद्ध जाती है, वहां वह सच्ची प्रेरणा ही नहीं है।" यह भी कहते हैं—"प्रेरणा लोक-कल्याण के लिए हरएक के लाभ के लिए होनी चाहिए....नाम और ख्याति और किसी निजी लाभ के लिए नहीं। इसे सदा दुनिया के भले के लिए और पूरी तरह से निःस्वार्थ होना चाहिए।"

इसके बाद दूसरा दर्शन है मीमांसा। यह कर्मकांड-संबंधी है और इसमें बहुदेववाद की ओर झुकाव मिलता है। इस समय के आम हिंदू-धर्म और हिंदू-विधान पर इस सिद्धांत और उसके नियमों का बड़ा असर रहा है। ये नियम बताते हैं कि धर्म क्या है और उसके अनुसार उचित आचार कैसा होना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदुओं का बहुदेववाद एक विचित्र ही ढंग का है, क्योंकि देव लोग, उनमें चाहे कैसी विशेष शक्तियां हों, मनुष्य से नीची योनि के जीव माने गए हैं। हिंदुओं और बौद्धों, दोनों ही, का विश्वास है कि मनुष्य जन्म आत्म-सिद्धि के रास्ते में जीव के लिए सबसे ऊंची अवस्था है। देव लोग भी यह स्वतंत्रता और सिद्धि तभी हासिल कर सकते हैं

कि जब ये आदमी का जन्म लें। साधारण बहुदेववाद की कल्पना से यह बहुत दूर की स्थिति है। बौद्धों का कहना है कि केवल मनुष्य ही बुद्धत्व के परम-पद को प्राप्त कर सकता है।

छठा और अंतिम दर्शन वेदांत है, जिसका आरंभ उपनिषदों से होता है और जो विकसित होकर अनेक रूप ग्रहण करता है, लेकिन जिसका आधार सदा विश्व की अद्वैत कल्पना में रहा है। सांख्य में जिस पुरुष और प्रकृति का बयान है, उसे वेदांत अलग-थलग तत्त्व नहीं समझता, बल्कि यह समझता है कि ये एक सत्ता--परम पुरुष---के विभाग हैं। पुराने वेदांत के आधार पर शंकर (या शंकराचार्य) ने अद्वैत निर्माण किया। यही वह दर्शन है जो आज के हिंदू-धर्म के साधारण दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

इसका आधार विशुद्ध अद्वैतवाद है---आधिभौतिक अर्थ में अंतिम सत्ता आत्मन् या परब्रह्म है। वही सद्रूप है, और जो-कुछ भी है वह दृश्यमान है। परब्रह्म किस तरह सब चीजों में व्याप्त है, किस तरह से एक अनक रूप में भासमान है और अखंड भी है, क्योंकि परब्रह्म अखंड और ऐसा ह जिसके टुकड़े नहीं किये जा सकते, यह सब तर्क द्वारा समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि हमारा मस्तिष्क वस्तु-जगत से सीमित है। उपनिषद् ने इस आत्मन् का वर्णन इस तरह किया है---"वह पूर्ण है, यह (भी) पूर्ण है, पूर्ण-से-पूर्ण आता है, पूर्ण-को-पूर्ण से लो, (फिर भी) पूर्ण बच रहता ह।"

इस तरह से हम जिस वस्तु-जगत को अपने चारों ओर देखते हैं वह उस सत्ता का केवल एक प्रतिबिंब है; या अनुभव के स्तर पर उसकी छाया है। इसे माया कहा गया है। लेकिन यह असत् नहीं है। यह सत् और असत् के बीच का एक रूप है। यह एक प्रकार की सापेक्ष स्थिति है, इसलिए शायद सापेक्षवाद की कल्पना हमें माया के अर्थ के अधिक निकट लाती है। फिर इस संसार में भलाई और बुराई क्या है? क्या ये भी केवल प्रतिबिंब हैं और इनमें सार नहीं है? अंतिम विश्लेषण में वे चाहे जो ठहरें, हमारी इस अनुभव की दुनिया में, इन नैतिक भेदों में एक वास्तविकता और महत्व है। जहां व्यक्ति व्यक्ति

की तरह पेश आते हैं, वहां ये भेद संगत हो जाते हैं।

शंकर ने वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद पर ब्राह्मणों के द्वारा बन सामाजिक जीवन को स्वीकार किया। लेकिन उन्होंने कहा कि किसी भी जात का कोई आदमी सबसे ऊंचा ज्ञान हासिल कर सकता है। शंकर के दर्शन और उनके दृष्टिकोण में दुनिया स इनकार करने का; और आत्मा की मुक्ति के लिए, जो उनकी दृष्टि में आदमी का परम ध्येय है, साधारण प्रवृत्तियों से बचने का भाव है। त्याग और वैराग्य पर भी बराबर जोर दिया गया है।

फिर भी शंकर एक अद्भुत शक्ति के और बड़ा काम करनेवाले व्यक्ति थे। वह गुफा में जाकर बैठ जानेवाले या जंगल के एक कोने में एकांतवास करते हुए अपनी व्यक्तिगत पूर्णता की साधना करनेवाले, और दूसरों को क्या होता है, इससे लापरवाह मनुष्य नहीं थे। उनका जन्म दक्खिन हिंदुस्तान के मलाबार प्रदेश में हुआ था, और उन्होंने सारे हिंदुस्तान में निरंतर यात्रा की थी और अनगिनत लोगों से वह मिले थे; उनसे तर्क और वाद-विवाद किया था, उन्हें अपने मत का किया था और उन्हें अपने उत्साह और जीवनी-शक्ति का एक अंश दिया था। स्पष्ट है कि वह ऐसे व्यक्ति थे जो अपना एक विशेष ध्येय समझते थे, जो कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक सारे हिंदुस्तान को अपना कार्य-क्षेत्र मानते थे, और उसमें एक सांस्कृतिक एकता का अनुभव करत थे और यह समझते थे कि बाहरी रूप चाहे जितने भिन्न हों, वह एक ही भाव से भरा हुआ है। हिंदुस्तान में उनके समय में विचार की जो अलग-अलग धाराएं बह रही थीं, उनमें एक समन्वय पैदा करने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया, और इस बात का प्रयत्न किया कि विविधता के बीच से एकता पैदा करें। बत्तीस वर्ष के छोटे-से जीवन में उन्होंने जो काम कर दिखाया, वह ऐसा था कि कई लंबे जीवनों में दूसरा न कर पाता, और उन्होंने अपने शक्तिशाली मस्तिष्क और संपन्न व्यक्तित्व की ऐसी छाप हिंदुस्तान पर डाली कि वह आजतक बनी हुई है। उनमें दार्शनिक और विद्वान् का, जड़वादी और रहस्यवादी का, कवि और संत का, और इन सबके अलावा एक व्यावहारिक

सुधारक और योग्य संगठनकर्ता का एक अजीब मेल था। ब्राह्मण-धर्म के अंतर्गत उन्होंने पहली बार दस पंथ बनाये और इनमें से चार अब भी खूब चल रहे हैं। उन्होंने चार बड़े मठ स्थापित किये, जो हिंदुस्तान के लगभग चार छोरों पर हैं। इनमें से एक मैसूर में शृंगेरी में था, एक पूर्वी समुद्र-तट पर पुरी में, तीसरा काठियावाड़ में पच्छिमी समुद्र-तट पर द्वारका में, और चौथा बीच हिमालय में बद्रीनाथ में। बत्तीस वर्ष की उम्र में, दक्खिन के गर्म प्रदेश का यह ब्राह्मण, केदारनाथ में, ऊंचे हिमालय के बर्फ से ढंके प्रदेश में, परलोक सिधारा।

ऐसा जान पड़ता है कि शंकर इस राष्ट्रीय एकता और समान चेतना के भाव को और भी बढ़ाना चाहते थे। अपने चार बड़े मठों को हिंदुस्तान के उत्तर, दक्खिन, पूरब और पच्छिम के कोनों में स्थापित करके, यह स्पष्ट है कि वह संस्कृति के विचार से मिले-जुले हिंदुस्तान की कल्पना को बढ़ावा देना चाहते थे। ये चारों जगहें कुछ अंशों में पहले भी तीर्थ-स्थल रही हैं, और अब तो और भी अधिक हो गई हैं।

प्राचीन हिंदुस्तानी अपने तीर्थ के स्थानों का कैसा अच्छा चुनाव किया करते थे! प्रायः सदा ये स्थान रमणीक स्थल हुआ करते थे और उनके आस-पास प्रकृति की छवि देखने को मिलती थी। काश्मीर में अमरनाथ की बर्फीली गुफा है, दक्खिन हिंदुस्तान के बिल्कुल छोर पर रामेश्वरम् के पास कन्याकुमारी का मंदिर है। फिर काशी है, और हरिद्वार है, जो हिमालय के तले पर है और जहां से गंगा टेढ़ी-मेड़ी पहाड़ी घाटियों को पार करके मैदानी प्रदेश में आती है। और प्रयाग है, जहां गंगा और यमुना का संगम होता है, और मथुरा और वृंदावन हैं, जो जमुना-तट पर हैं, जिनके गिर्द कृष्ण की कथाएं जुड़ी हुई हैं, और बुद्धगया है, जहां बताया जाता है कि बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था और दक्खिन हिंदुस्तान में अनेक जगहें हैं। बहुत-से पुराने मंदिरों में, विशेषकर दक्खिन में प्रसिद्ध मूर्तियां बनी हुई हैं और दूसरे कलात्मक अवशेष हैं। इस तरह से बहुत-से तीर्थों की यात्रा करने से पुरानी हिंदुस्तानी कला की झांकी मिल जाती है।

कहा जाता है कि शंकर ने हिंदुस्तान में व्यापक धर्म के रूप में

बौद्ध-मत का अंत करने में मदद दी और उसके बाद ब्राह्मण-धर्म ने उसे भाई की तरह गले लगाकर अपने में समाविष्ट कर लिया। लेकिन शंकर के समय से पहले भी हिंदुस्तान में बौद्धधर्म सिमट रहा था। शंकर के कुछ विरोधी ब्राह्मण उन्हें छिपा हुआ बौद्ध बताते थे। यह बात सही है कि बौद्धधर्म का उनपर गहरा असर पड़ा था।

१३ : हिंदुस्तान और चीन

यह बौद्ध-धर्म था जिसके प्रभाव से हिंदुस्तान और चीन एक-दूसरे के निकट आये और जिसके द्वारा उन्होंने बहुत-से संपर्क स्थापित कर लिये। अशोक के पहले दोनों के बीच संपर्क थे या नहीं, इसकी हमें जानकारी नहीं है, शायद समुद्र के रास्ते से कुछ व्यापार होता था, क्योंकि चीन से रेशमी माल यहां आता था। लेकिन खुश्की के रास्ते भी संपर्क रहे होंगे और बहुत पहले काल में लोग आते रहे होंगे, क्योंकि हिंदुस्तान के पूर्वी छोर के प्रदेश में मंगोली सूरत-शक्ल के लोग आमतौर पर मिलते हैं। नेपाल में यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। असम (पुराने कामरूप) में और बंगाल में यह अक्सर देखी जाती है। लेकिन जहां-तक इतिहास की बात है, अशोक के धर्म-प्रचारकों ने रास्ता खोला, और ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध-धर्म फैला, त्यों-त्यों वहां से यात्रियों और विद्वानों का लगातार आना आरंभ हुआ और ये हिंदुस्तान और चीन के बीच एक हजार बरस तक आते-जाते रहे। वे गोबी रेगिस्तान पार करके, मध्य-एशिया के पहाड़ों और मैदानों को तै करते हुए और हिमालय के ऊपर से अपनी लंबी, कठिन और भयानक यात्रा करते थे। एक दूसरा रास्ता भी था, जो कुछ अधिक सुरक्षित न था, पर छोटा जरूर था। यह रास्ता समुद्री था और हिंदचीन, जावा, सुमात्रा, मलय और निकोबार टापुओं से होकर जानेवाला था। इससे भी लोग प्रायः जाते थे और कभी-कभी यात्री खुश्की के रास्ते से चलकर समुद्री रास्ते से अपने देश को लौटा करते थे। बौद्ध-धर्म और हिंदुस्तानी-संस्कृति सारे मध्य-एशिया में और इंदोनेशिया के हिस्सों में फैल गई थी, और बहुत-से मठ और विद्यालय इस सारे विस्तृत प्रदेश में जगह-

जगह बने हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान और चीन के यात्रियों का समुद्र और खुश्की के इन मार्गों में सर्वत्र स्वागत होता था और उन्हें ठहरने की जगहें मिल जाती थीं। कभी-कभी चीन से आनेवाले विद्वान् इंदोनेशिया के किसी हिंदुस्तानी उपनिवेश में कुछ महीनों तक ठहरकर संस्कृत सीखते और फिर यहां आते थे।

पहले हिंदुस्तानी विद्वान्, जिनके चीन जाने का वर्णन मिलता है, काश्यप मातंग थे। यह सन् ६७ ई० में, सम्राट् मिग-ती के राज्यकाल में शायद उन्हींके बुलावे पर चीन गए थे। लो नदी के तट पर लो-यंग नाम की जगह पर यह बस गए थे। उनके साथ धर्म-रक्षक गए थे और बाद के सालों में जो प्रसिद्ध विद्वान् गए, उनमें बुद्धिभद्र, जिनभद्र कुमारजीव, परमार्थ, जिनगुप्त और बोधिधर्म थे। इनमें हरएक अपने साथ भिक्षुओं या चेलों को ले गया था। यह कहा जाता है कि एक समय (छठी सदी ईसवी) तीन हजार से अधिक बौद्ध भिक्षु और दस हजार हिंदुस्तानी परिवार केवल लो-यंग के सूबे में थे।

ये हिंदुस्तानी विद्वान्, जो चीन गए, न केवल अपने साथ संस्कृत के हाथ के लिखे ग्रंथ ले गए, जिनका उन्होंने चीनी भाषा में अनुवाद किया, बल्कि उन्होंने चीनी भाषा में मौलिक पुस्तकें भी रचीं। उन्होंने चीनी-साहित्य की वृद्धि में खासा हिस्सा लिया और चीनी में कविताएं भी लिखीं। कुमारजीव, जो ४०१ ईसवी में चीन गया था, बड़ा लिखनेवाला था और उसकी लिखी ४७ पुस्तकें तो इस समय मिलती हैं। उसकी चीनी लिखने की शैली बहुत अच्छी कही जाती है। उसने नागार्जुन की जीवनी का चीनी में अनुवाद किया। जिनगुप्त छठी सदी ईसवी के दूसरे हिस्से में चीन गया। उसने संस्कृत के ३७ ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। उसके ज्ञान का इतना आदर था कि तांग-वंश के एक सम्राट् ने उससे दीक्षा ली और उसका शिष्य बन गया।

चीन और हिंदुस्तान के बीच विद्वानों का आना-जाना, दोनों ही होता था, और बहुत-से चीनी विद्वान् भी यहां आये। इनमें से सबसे मशहूर, जिन्होंने अपनी यात्राओं के वर्णन लिखकर छोड़े हैं, वे हैं फाह्यान, सुंग-युन, ह्वेन-त्सांग और इत्सिग। फाह्यान हिंदुस्तान में पांचवीं

सदी में आया, वह चीन में कुमारजीव का शिष्य था। हिंदुस्तान के लिए चलने से पहले जब फाह्यान अपने गुरु से बिदा होने के लिए गया, तब कुमारजीव ने उससे जोकुछ कहा, उसका मनोरंजक वर्णन किया जाता है। कुमारजीव ने उससे कहा कि धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने में ही अपना सारा समय न बिताना, बल्कि हिंदुस्तान के लोगों के रहन-सहन और आचार को भी अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करना, जिससे चीनवाले उन्हें अच्छी तरह समझ सकें। फाह्यान ने पाटलिपुत्र के विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी।

चीनी यात्रियों में सबसे प्रसिद्ध ह्वेन-त्सांग था, जो यहां सातवीं सदी में आया था, जबकि चीन में महान तांग-वंश का राज्य चल रहा था और उत्तरी हिंदुस्तान में एक साम्राज्य का शासक हर्षवर्द्धन था। ह्वेन-त्सांग खुश्की के रास्ते, गोबी रेगिस्तान को पार करके, तुर्फ़ान और कूचा, ताशकंद और समरकंद, बल्ख, खुतन और यारकंद होता हुआ हिमालय को लांघकर हिंदुस्तान में आया था। वह अपनी बहुत-सी जीवट की यात्राओं का वर्णन करता है, और उन संकटों का, जिन्हें उसे झेलना पड़ा, साथ-ही वह मध्य-एशिया के बौद्ध शासकों और मठों और उन तुर्कों का, जो कट्टर बौद्ध थे, हाल लिखता है। हिंदुस्तान में आकर वह सारे देश में घूमा, सभी जगह उसका आदर हुआ, आव-भगत हुई, और उसने यहां की जगहों और लोगों के बारे में आंखोंदेखा हाल लिखा, और कुछ मनोरंजक और अजीब सुनी-सुनाई कहानियां भी लिखीं। उसने नालंदा विश्वविद्यालय में, जो पाटलिपुत्र के पास था और जो अपने बहुमुखी ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था और जहां देश के दूर-दूर हिस्सों के विद्यार्थी आते थे, कई साल बिताये। कहा जाता है कि यहां १०,००० विद्यार्थी और भिक्खु रहा करते थे। ह्वेन-त्सांग ने यहां न्याय के आचार्य की उपाधि ली और बाद में विश्वविद्यालय का उपप्रधान बन गया।

ह्वेन-त्सांग की किताब, 'सि-यू-की', यानी पच्छिमी राज्य (तात्पर्य हिंदुस्तान से है) पढ़ने में बड़ी रोचक है। ह्वेन-त्सांग एक बहुत बड़े सभ्य और उन्नत देश से उस समय आया था, जबकि चीन की

राजधानी सि-आन्-फ़ कला और ज्ञान का केंद्र थी, इसलिए उसकी टिप्पणियां और हिंदुस्तान की दशा के वर्णन बड़े मूल्यवान् हैं। वह यहां की शिक्षा-व्यवस्था का हाल लिखता है, जिसके अंतर्गत बहुत छोटेपन में विद्यारंभ होकर क्रमशः विद्यार्थी विश्वविद्यालय के दर्जे तक पहुंचता था और वहां पांच विषयों में शिक्षा दी जाती थी:—(१) व्याकरण, (२) कला-कौशल, (३) औषध, (४) तर्क, और (५) दर्शन। हिंदुस्तान के लोगों के विद्या-प्रेम से वह विशेष प्रभावित हुआ था। एक प्रकार की प्रारंभिक शिक्षा यहां व्यापक रूप में मिलती थी और सभी भिक्खु और पुरोहित शिक्षक हुआ करते थे। लोगों के बारे में वह लिखता है—"साधारण लोग, यद्यपि वे स्वभाव से विनोद-प्रिय हैं, फिर भी सच्चे और ईमानदार हैं। रुपये-पैसे के मामलों में उनमें मक्कारी नहीं है, और न्याय करने के विषय में उनमें बहुत सोच-विचार मिलता है . . . . अपने व्यवहार में वे कपटी या धोखेबाज नहीं हैं, और अपने वादों और शपथ के पाबंद हैं। उनके शासन के नियमों में अद्‌भुत ईमानदारी है, और उनके व्यवहार में बड़ी मिठास और भलमनसाहत है। जहांतक विद्रोहियों या अपराधियों का मामला है, ये बहुत कम देखने में आते हैं, और कभी-कभी ही उपद्रव करते हैं।" आगे चलकर वह लिखता है—"चूंकि शासन-व्यवस्था की नींव उदार सिद्धांतों पर खड़ी है, इसलिए कार्यांग सभा बहुत सादा है . . . . लोगों से बेगार नहीं ली जाती . . . . इस तरह लोगों पर हल्के कर लगे हुए हैं . . . व्यवसाय में लगे हुए व्यापारी अपने धंधों के लिए आते-जाते रहते हैं।"

ह्वेन-त्सांग जिस रास्ते से आया था। उसी, रास्ते वापस गया, अर्थात् मध्य-एशिया से होते हुए, और वह अपने साथ बहुत-सी हाथ की लिखी पोथियां ले गया। उसके वृत्तांत से यह स्पष्ट पता चलता है कि बौद्ध-धर्म का खुरासान, ईराक, मोसुल और ठीक सीरिया के सरहद तक कितना प्रभाव था। फिर भी यह वह समय था, जबकि वहां बौद्ध-धर्म का ह्रास आरंभ हो गया था और इस्लाम, जिसका आरंभ अरब में हो गया था, वहां सब जगह शीघ्र ही फैलने वाला था। ईरानी लोगों के बारे में ह्वेन-त्सांग यह दिलचस्प बात कहता है—"वे विद्या

की परवाह नहीं करते, बल्कि अपने को पूरी तरह कला की वस्तुओं में लगाते हैं। जोकुछ भी वहां तैयार होता है, उसकी पड़ोस के मुल्कों में बड़ी कद्र होती है।"

ह्वेन-त्सांग अपने देश को वापस गया, तो वहां उसका सम्राट् ने और आम लोगों ने स्वागत किया। वह अपनी पुस्तक लिखने और बहुत-सी पोथियां जो वह अपने साथ ले गया था, उनके अनुवाद के धंधे में लगा। जब बहुत साल पहले वह यात्रा के लिए निकल रहा था, तब, यह कथा कही जाती है, तांग-वंशी सम्राट् ने पानी में एक मुट्ठी धूल डालकर उसे देते हुए कहा था—"अच्छा हो कि तुम यह प्याला पी लो। हमें क्या यह नहीं बताया गया है कि अपने देश की एक मुट्ठी धूल मनों विदेशी सोने से बढ़कर है?"

ह्वेन-त्सांग की हिंदुस्तान की यात्रा, और चीन और हिंदुस्तान में जो उसे आदर प्राप्त हुआ, उसका परिणाम यह हुआ कि दोनों देशों में राजनैतिक संपर्क स्थापित हुए। कन्नौज के हर्षवर्धन और तांग सम्राट् के बीच राजदूतों की अदला-बदली हुई। ह्वेन-त्सांग ने स्वयं हिंदुस्तान से अपना लगाव बनाये रखा। वह यहां के मित्रों के पास पत्र भेजा करता था, और यहां से हाथ की लिखी पोथियां मंगाया करता था। दो मनोरंजक पत्र, जो आरंभ में संस्कृत में लिखे गए थे, चीन में सुरक्षित हैं। इनमें से एक ६४५ ई० में हिंदुस्तानी बौद्ध विद्वान् स्थविर प्रज्ञादेव ने ह्वेन-त्सांग को लिखा था। अभिवादन और आपस के मित्रों के कुशल-समाचार और अपनी साहित्यिक कृतियों की बातचीत के बाद वह लिखता है—"हम तुम्हें एक जोड़ा सफेद वस्त्र का भेज रहे हैं, जिससे यह प्रकट हो कि हम तुम्हें भूले नहीं हैं। रास्ता लंबा है। इसलिए इस बात का ध्यान न करना कि भेंट तुच्छ है। हम चाहते हैं कि तुम इसे स्वीकार करो। जिन सूत्रों और शास्त्रों की तुम्हें जरूरत हो, उनकी सूची भेजना। हम उनकी नकल करके तुम्हारे पास भेज देंगे।" ह्वेन-त्सांग अपने जवाब में लिखता है—"मुझे हिंदुस्तान से लौटे हुए एक राजदूत से मालूम हुआ कि महान् गुरु शीलभद्र अब नहीं रहे। इस समाचार से मुझे जो दुःख हुआ, उसकी हद नहीं.... उन सूत्रों और शास्त्रों में से, जो

में, ह्वेन-त्सांग, लाया था, मैंने योगाचार्य, भूमिशास्त्र और दूसरे ग्रंथों का, कुल तीस ग्रंथों का, अनुवाद कर लिया है। मैं विनयपूर्वक तुम्हें सूचित करना चाहूंगा कि सिंधु नदी पार करते हुए मैंने पवित्र ग्रंथों का एक गट्ठर खो दिया। इस पत्र के साथ अब मैं मूल पाठों की एक सूची भेज रहा हूं। मैं प्रार्थना करूंगा कि अवसर मिले तो इन्हें मेरे पास भेजना। कुछ छोटी-मोटी चीजें भेंट के तौर पर भेज रहा हूं। कृपाकर इन्हें स्वीकार करना।"

चीन में ह्वेन-त्सांग की मृत्यु के शीघ्र बाद ही, एक दूसरा प्रसिद्ध चीनी यात्री, इत्सिंग, हिंदुस्तान में आया। वह ६७१ ई० में रवाना हुआ, और उसे हिंदुस्तान के बंदरगाह ताम्रलिपि तक पहुंचने में लगभग दो साल लगे। यह बंदरगाह हुगली नदी के दाहिने दहाने पर है। क्योंकि वह समुद्र के रास्ते आया, वह कई महीने तक भोग (सुमात्रा में आधुनिक पालेमबैंग) में संस्कृत सीखने के लिए ठहरा। उसके वृत्तांतों से पता चलता है कि फारस (ईरान), हिंदुस्तान, मलय, सुमात्रा, और चीन के बीच नियमित रूप से जहाज आया-जाया करते थे। इत्सिंग क्वानतुंग से एक फारसी जहाज पर सवार होकर पहले सुमात्रा गया था।

इत्सिंग ने भी नालंदा विद्यापीठ में बहुत दिनों तक विद्या सीखी और यह अपने साथ कई सौ संस्कृत ग्रंथ ले गया। उसकी विशेष रुचि बौद्ध-कर्म-कांड और आचार की बारीकियों में थी, और इनके बारे में उसने विस्तार से लिखा है। लेकिन यह रीति-रिवाजों, कपड़ों और खाने-पीने के बारे में भी बहुत-कुछ कहता है। इत्सिंग हिंदुस्तान का हवाला आमतौर पर पच्छिम (सि-फंग) करके देता है, लेकिन वह कहता है कि यह आर्य-देश के नाम से प्रसिद्ध है। "आर्य देश,—आर्य अर्थात् उत्तम और देश अर्थात् प्रदेश—जो पच्छिम का नाम है। इसका नाम ऐसा इसलिए पड़ा कि वहां उत्तम चरित्र के लोग बराबर उत्पन्न होते रहे हैं, और सभी लोग इस नाम से देश की प्रशंसा करते हैं। यह मध्य-प्रदेश भी कहलाता है, यानी बीच का देश, क्योंकि यह सैकड़ों-हजारों देशों के बीच में है। लोग सब इस नाम से परिचित हैं। उत्तरी

जातियां (हूण या मंगोल या तुर्क) ही इस उत्तम देश को 'हिंदू' (सिन-तु) कहती हैं, लेकिन यह नाम कदापि प्रचलित नहीं है। यह केवल देशी नाम है और इसका कोई विशष महत्व नहीं है। हिंदुस्तान के लोग इस नाम को नहीं जानते, और हिंदुस्तान के लिए सबसे उचित नाम 'आर्य देश' है।''

हिंदुस्तान और हिंदुस्तान की वहुत-सी चीजों के लिए आदर का भाव रखते हुए भी इत्सिग ने स्वयं बताया है कि वह पहला स्थान अपनी जन्मभूमि चीन को देता है—हिंदुस्तान आर्यदेश हो सकता है, लेकिन चीन देव-भूमि है।

हिंदुस्तान में बौद्ध-धर्म के ह्रास के साथ-साथ हिंदुस्तान और चीन के बीच विद्वानों का आना-जाना लगभग बंद हो गया, यद्यपि चीनी यात्री हिंदुस्तान की बौद्ध-धर्म की पवित्र जगहों के दर्शन के लिए फिर भी कभी-कभी आते रहते थे। ग्यारहवीं सदी और उसके बाद जो राजनैतिक क्रांतियां हुईं, उस जमाने में बौद्ध-भिक्खुओं के ठट्ठ-के-ठट्ठ पोथियों की गठरियां बांधे हुए नेपाल चले गए, या हिमालय पार करके तिब्बत पहुंच गए। इस तरह से और पहले भी पुराने हिंदुस्तानी साहित्य का बहुत-सा हिस्सा चीन और तिब्बत पहुंच गया, और हाल के वर्षों में उनका फिर से पता चला है, जो या तो मूल में ही मौजूद हैं, या अधिकतर अनुवाद के रूप में। बहुत से पुराने हिंदुस्तानी ग्रंथ, चीनी या तिब्बती अनुवाद के रूप में सुरक्षित हैं, और ये केवल बौद्ध-धर्म के वारे में नहीं हैं, वल्कि ब्राह्मन धर्म, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि विषयों के भी हैं। चीन के सुंग-पाओ संग्रह में ऐसे ८००० ग्रंथ मौजूद वताये जाते हैं। तिब्वत ऐसे ग्रंथों से भरा हुआ है। अक्सर हिंदुस्तानी, चीनी और तिब्बती विद्वान् मिलकर काम किया करते थे। इस सहयोग की एक प्रमुख मिसाल बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का वह संस्कृत-तिब्बती-चीनी कोष है जो नवीं या दसवीं सदी ईसवी में तैयार हुआ था, और जिसका नाम 'महाव्युत्पत्ति' है।

चीन की सबसे पुरानी छपी हुई पुस्तकों में, जो आठवीं सदी ईसवी तक की हैं, संस्कृत के ग्रंथ भी हैं। ये लकड़ी के ठप्पों से छपे हुए हैं।

दसवीं सदी में, चीन में छापे के विशेषज्ञों का एक राजकीय संगठन बना और उसके फलस्वरूप ठीक सुंग जमाने तक, छपाई की कला ने तेजी से उन्नति की। यह एक अचरज की बात है, और इसका ठीक-ठीक कारण नहीं समझ में आता कि यद्यपि चीनी और हिंदुस्तानी विद्वानों के बीच इतना घना संबंध था, और सैकड़ों साल तक आपस में पुस्तकों का अदला-बदला होता रहा, इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते कि हिंदुस्तान में उस समय में पुस्तकों की छपाई होती थी। ठप्पे से छापने का चलन चीन से तिब्बत में किसी पुराने काल में पहुंचा, और मेरा खयाल है कि यह वहां अब भी बना हुआ है। चीनी छपाई का पहला परिचय यूरोप को मंगोल या वान-वंश के काल (१२६०-१३६८) में हुआ। पहले यह जर्मनी तक सीमित रहा, बाद में पंद्रहवीं सदी में यह और देशों में फैला।

हिंदुस्तान के भारतीय अफगान और मुगल-कालों में भी हिंदुस्तान और चीन के बीच जब-तब राजनैतिक संबंध रहे हैं। दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक (१३२६-५१) ने अरब यात्री इब्न बतूता को चीनी-दरबार में राजदूत बनाकर भेजा था। बंगाल ने उस काल में सुल्तान की हुकूमत से अलग होकर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था। चौदहवीं सदी के बीच के काल में, चीनी-दरबार की ओर से बंगाल के सुल्तान के यहां हु-शीन और फिन-शीन नाम के दो राजदूत भेजे गए थे। इसका नतीजा यह हुआ कि सुल्तान ग़यासुद्दीन के राज्य-काल में बंगाल से चीन कई राजदूत लगातार भेजे गए। यह चीन के मिंग-बादशाहों का जमाना था। बाद के एक एलची के साथ, जिसे सईदुद्दीन ने १४१४ ई० में भेजा था, और कीमती तोहफों के साथ एक जिंदा जिराफ भी भेजा गया था। जिराफ हिंदुस्तान में कैसे पहुंचा, यह एक रहस्य की बात है। शायद यह अफरीका से भेंट-स्वरूप में आया हो और इस खयाल से, कि यह अजीब चीज है और इसलिए पसंद की जायगी, इसे मिंग-बादशाह के पास भेजा गया। वास्तव में चीन में इसका बड़ा आदर हुआ, क्योंकि कन्फ्यूशस के अनुयायी जिराफ को एक पवित्र प्रतीक मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह जानवर जिराफ

ही था, क्योंकि इसके वर्णनों के साथ-साथ चीनी रेशमी कपड़े पर इसकी एक तस्वीर भी मिलती है। जिस दरबारी चित्रकार ने इसकी तस्वीर बनाई है, उसने इसका लंबा हाल भी लिखा है, जिसमें बताया गया है कि यह जानवर बहुत शुभ है। "मंत्री लोग और आम जनता इसे देखने के लिए जमा हुए और उसे देखकर बहुत ही खुश हुए।"

चीन और हिंदुस्तान के बीच जो व्यापार बौद्ध-काल में जोर से चल रहा था, वह भारतीय-अफ़गान और मुगल जमाने में भी जारी रहा और बहुत-सी चीजों का अदला-बदला होता रहा। यह माल उत्तरी हिमालय के दर्रों से होकर मध्य-एशिया के कारवानी रास्ते से जाता था। समुद्र के रास्ते भी अच्छा-खासा व्यापार होता था, जो दक्खिन-पूर्वी एशिया के टापुओं से होता हुआ, खासतौर पर दक्खिनी हिंदुस्तान के बंदरगाहों तक पहुंचता था।

चीन और हिंदुस्तान के बीच होनेवाली तीन हजार, बल्कि इससे अधिक, वर्षों की राह-रस्म से दोनों देशों ने एक-दूसरे से कुछ प्राप्त किया, न केवल विचार और दर्शन के क्षेत्र में, बल्कि जीवन की कलाओं और विज्ञान में भी। शायद चीन पर हिंदुस्तान का जितना प्रभाव पड़ा, उतना हिंदुस्तान पर चीन का नहीं पड़ा, और यह खेद की बात है, क्योंकि हिंदुस्तान चीन का कुछ व्यावहारिक ज्ञान सीखकर उससे लाभ उठा सकता था और अपनी मानसिक उड़ानों को कुछ वश में रख सकता था। चीन ने हिंदुस्तान से बहुत-कुछ लिया, लेकिन उसमें हमेशा ऐसी शक्ति और आत्म-विश्वास रहे हैं कि जो-कुछ वह लेगा, वह अपने ढंग से, और उसको अपने यहां के जीवन के ताने-बाने में कहीं ठीक-ठीक बिठा लेगा। बौद्ध-धर्म और उसका जटिल दर्शन भी कन्फ़ूशस और लाओ-त्जे का रंग लिये बिना न रह पाया। बौद्ध-धर्म के किंचित् निराशावादी दृष्टिकोण ने चीनियों के जीवन के प्रति प्रेम और उमंग को दबाया नहीं। एक पुरानी चीनी कहावत है—"अगर सरकार तुम्हें पकड़ पावेगी तो कोड़ों से तुम्हारी जान ले लेगी, अगर बौद्ध तुम्हें पकड़ पावेंगे तो वे तुम्हें भूखों मार डालेंगे।"

१४ : दक्खिन-पूरबी एशिया में हिंदुस्तानी उपनिवेश और सभ्यता

सर चार्ल्स इलियट ने लिखा है कि "यूरोप के इतिहासकार हिंदुस्तान के साथ अन्याय करते हैं जब वे केवल उसके आक्रमण-कारियों के वृत्तांत लिखते हैं और इस तरह का प्रभाव डालते हैं कि मानों स्वयं उसके निवासी दुर्बल, सपना देखनेवाले लोग हों और शेष दुनिया से कटे हुए अपने पहाड़ों और समुंदरों से घिरे हुए अलग-थलग रह रहे हों। इस तरह की तस्वीर में यह बात भुला दी जाती है कि हिंदुओं ने कैसी-कैसी मानसिक विजय प्राप्त की है। उनकी राजनैतिक विजय भी तुच्छ नहीं हैं, और अगर इस दृष्टि से नहीं कि कौनसे देशों पर यें हुई हैं, तो दूरी की दृष्टि से तो अवश्य ही मारके की हैं. . .लेकिन इस तरह के फ़ौजी या व्यापारी आक्रमण, हिंदुस्तानी विचार के प्रचार के मुकाबले में कम भी नहीं है।"

जिस समय इलियट ने यह लिखा, उस समय शायद वह उन हाल की जानकारियों से परिचित नहीं था जो दक्खिन-पूर्वी एशिया के बारे में अब प्राप्त हुई हैं और जिन्होंने हिंदुस्तान और एशिया के बीते हुए युग क बारे में हमारे विचारों में क्रांति पैदा कर दी है। इन खोजों की जानकारी ने उसके तर्क को और भी दृढ़ कर दिया होता, और यह दिखा दिया होता कि विचारों के प्रचार के अलावा भी विदेशों में हिंदुस्तान का कारनामा कदापि तुच्छ नहीं रहा है। मुझे याद है, कि जब मैंने करीब पंद्रह साल पहले दक्खिन-पूर्वी एशिया का कुछ विस्तार से हाल पढ़ा था, तब मुझे कितना आश्चर्य हुआ था और मैं कितना उत्तेजित हो उठा था। मेरी आंखों के सामने बिल्कुल नये दृश्य फिर गए थे, इतिहास के नये पहलू दिखाई पड़े थे और हिंदुस्तान के बीते हुए ज़माने की नई कल्पना सामने आई थी। चंपा, कंबोडिया, और अंगकोर, श्रीविजय और मज्जापहित यकायक मानो शून्य के भीतर से साकार होकर मेरे सामने आये थे और उनके साथ एक स्वाभाविक भावना का उद्गार था जो अतीत का वर्तमान से स्पर्श कराता था।

उस बड़े योद्धा और विजेता और बड़े कारनामोंवाले शैलेंद्र के बारे में डा० एच० जी० क्वाट्रिश वेल्स ने लिखा है—"उस बड़े विजेता ने, जिसके कारनामों की बराबरी पच्छिमी इतिहास के केवल बड़े-से-बड़े सैनिकों से की जा सकती है, और जिसका नाम अपने समय में फ़ारस से चीन तक फैला हुआ था, दस या बीस साल के भीतर ही एक विस्तृत समुद्री साम्राज्य स्थापित कर लिया था, जो पांच सदियों तक बना रहा, और जिसने हिंदुस्तानी कला और संस्कृति के अद्‌भुत विकास को जावा और कंबोडिया में संभव बनाया। लेकिन अपने विश्व-कोषों और इतिहासों में . . . इस विस्तृत साम्राज्य या उसके महान् संस्थापक का हवाला ढूंढना व्यर्थ होगा. . . यह बात ही, कि इस तरह का एक साम्राज्य किसी जमाने में था, पूरबी विषयों के जानने वाले मुट्ठी-भर विद्वानों के अतिरिक्त अन्य लोग मुश्किल से जानते हैं।" इन प्राचीन हिंदुस्तानी उपनिवेश स्थापित करनेवालों के फौजी कारनामे महत्व के हैं, क्योंकि उनसे हिंदुस्तानी चरित्र और योग्यता के कुछ पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है जिनका अबतक ठीक-ठीक आदर नहीं किया गया है। लेकिन इससे कहीं महत्व की बात यह है कि उन लोगों ने अपने उपनिवेशों में एक संपन्न सभ्यता स्थापित की और ऐसी बस्तियां बसाईं जो एक हज़ार साल से अधिक समय तक बनी रहीं।

पिछली चौथाई सदी के बीच, दक्खिन-पूरबी एशिया के इस बड़े प्रदेश के इतिहास पर बहुत-कुछ रोशनी पड़ी है और इसे बृहत्तर भारत का नाम दिया गया है। मोटे ढंग से इस इतिहास की रूप-रेखा काफी स्पष्ट है और कभी-कभी तो विस्तार की बातों की भी बहुतायत से जानकारी प्राप्त होती है। सामग्री की कोई कमी नहीं है, क्योंकि हिंदुस्तानी ग्रंथों में हमें हवाले मिलते हैं, अरब के यात्रियों के बयान हैं, और सबसे महत्व की तो चीन से प्राप्त ऐतिहासिक सूचनाएं हैं। बहुत-से पुराने शिलालेख, ताम्रपत्र आदि भी हैं और जावा और बाली में हिंदुस्तानी आधारों पर तैयार किया गया एक संपन्न साहित्य भी है, जो प्रायः हिंदुस्तानी महाकाव्यों और पुराणों की गाथाओं को दूसरे शब्दों में केवल दुहरा देता है। यूनानी और लातीनी आधारों से भी

कुछ सूचनाएं मिलती हैं, लेकिन सबसे बढ़कर पुरानी इमारतों के विशाल खंडहर हैं, जो विशेषकर अंगकोर और बोरोबुदर में मिलते हैं।

ईसवी सन् की पहली सदी से आगे, हिंदुस्तानी उपनिवेश बसानेवालों की लहर-पर-लहर पूरब और दक्खिन-पूरब में फैली और यह लंका, बरमा, मलय, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, स्याम, कंबोडिया और इंडोचीन तक फैलीं। इनमें से कुछ तो फारमूसा, फिलिपाइन द्वीपसमूह और सेलिबीज तक पहुंचीं। मैडागास्कर तक की चालू भाषा इंदोनेशियन है जिसमें संस्कृत शब्दों की मिलावट है। ऐसा होने में कई सौ साल लगे होंगे, और शायद इन सब जगहों में सीधे हिंदुस्तान से लोग न पहुंचे होंगे बल्कि बीच के किसी उपनिवेश से फैले होंगे। पहली सदी ईसवी से लगभग ९०० ईसवी तक चार मुख्य लहरें उपनिवेश स्थापित करनेवालों की गई हुई जान पड़ती हैं, लेकिन इनके बीच-बीच में पूरब जानेवाले लोगों का एक सिलसिला बना रहा होगा। इन साहसी कारनामों की सबसे मारके की बात यह थी कि इनका संगठन राज्य द्वारा हुआ जान पड़ता है। दूर-दूर तक फैले हुए उपनिवेश यकायक एक-साथ स्थापित होते हैं, और प्रायः सदा ये ऐसी जगहों पर स्थापित होते हैं, जो सैनिक दृष्टि से महत्व की जगहें हैं या खास यात्रा के मार्ग हैं। इन बस्तियों को जो नाम दिये गए, वे पुराने हिंदुस्तानी नाम हैं। इस तरह वह देश, जिसे आज कंबोडिया कहते हैं, कबोज कहलाया, जो प्राचीन हिंदुस्तान का काबुल की घाटी में गांधार में एक मशहूर शहर था।

समुद्र-पार की इन अद्भुत और भयावह विजय-यात्राओं के पीछे कौनसी प्रेरणा थी? इनकी कल्पना या संगठन संभव न था, अगर इनसे पहले, पीढ़ियों और सदियों पहले, कुछ व्यक्ति या छोटे-छोटे तिजारती गिरोह वहां जाकर वहां से परिचित न हुए होते। सबसे पुरानी संस्कृत पुस्तकों में पूरब के इन देशों के अस्पष्ट हवाले हैं। उनमें आये हुए नामों को आज जगहों से जोड़ सकना आसान नहीं, लेकिन कभी-कभी कोई कठिनाई भी नहीं होती। जावा स्पष्ट रूप से

'यवद्वीप' या 'जौ का टापू' है और यव आज भी एक अन्न-विशेष का नाम है। पुराने ग्रंथों में आये हुए और नाम भी आमतौर पर धातु खनिज या किसी व्यापार या खेती की पैदावार से संबंध रखते हैं। इस नामकरण से ही व्यापार की ओर ध्यान जाता है। डाक्टर आर० सी० मजूमदार ने बताया है—"अगर साहित्य साधारण लोगों के विचारों का ठीक-ठीक दर्पण है, तो ईसवी सन् के आरंभ होने से पूर्व और बाद की सदियों में बनिज-व्यापार के लिए बहुत बड़ा उत्साह रहा होगा।" इन सब बातों से पता चलता है कि यहां की आर्थिक-व्यवस्था का फैलाव हो रहा था, और दूर-दूर की मंडियों की बराबर खोज हो रही थी।

ईसा से पहले की तीसरी और दूसरी सदियों में यह व्यापार धीरे-धीरे बढ़ गया था और तब इन व्यवसाइयों और व्यापारियों के बाद धर्म-प्रचारकों का जाना आरंभ हुआ होगा, क्योंकि यह अशोक से ठीक बाद का समय था। संस्कृत की पुरानी कथाओं में भयावह समुद्र-यात्राओं और नौकाओं के तबाह होने के बहुत-से वर्णन मिलते हैं। यूनानी और अरब, दोनों ही, वर्णनों से पता लगता है कि हिंदुस्तान और सुदूर पूरब के देशों के बीच कम-से-कम पहली सदी ईसवी तक समुद्र के रास्ते खूब व्यापार चल गया था। मलय प्रायद्वीप और इंदोनीशिया के टापू और चीन और हिंदुस्तान, फारस, अरब और मेडिट्रेनियन के यात्रा-मार्ग में पड़ते थे। अपने भौगोलिक महत्व के अतिरिक्त इन देशों में कीमती खनिज, धातु, मसाले और लकड़ियां मिलती थीं। अब की तरह उस काल में भी मलय अपनी टीन की खानों के लिए प्रसिद्ध था। शायद सबसे पहली यात्राएं हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र-तट के बराबर-बराबर—कलिंग (उड़ीसा), बंगाल, बरमा और फिर नीचे मलय प्रायद्वीप होते हुए हुईं थीं। बाद में दक्खिन हिंदुस्तान से सीधे यात्रा-मार्ग स्थापित हो गए थे।

यह स्पष्ट है कि जहाजों के बनाने का धंधा प्राचीन हिंदुस्तान में अच्छी उन्नति पर था। उस काल में बने हुए जहाजों का कुछ ब्यौरेवार हाल हमें मिलता है। बहुत-से हिंदुस्तानी बंदरगाहों के नाम मिलते हैं।

दूसरी और तीसरी सदी ईसवी के दक्खिन-हिंदुस्तानी (आंध्र) सिक्कों पर दुहरे पालोंवाली नौकाओं का अंकन मिलता है। अजंता की दीवारों पर बने हुए चित्रों में लंका की विजय दिखाई गई है और हाथी ले जानेवाले जहाज बने हैं। वे बड़े राज्य और साम्राज्य जो आरंभ के हिंदुस्तानी उपनिवेशों में स्थापित हुए, वे सभी मुख्य रूप से समुद्री शक्तियां थीं, उनकी व्यापार में दिलचस्पी थी और इसलिए समुद्री मार्ग पर उनका अधिकार था।

सन् १०८८ ई० का एक दिलचस्प तमिल शिलालेख है जिसमें "पंद्रह सौ की निगम" का वर्णन है। स्पष्ट रूप से यह व्यापारियों की निगम (कारपोरेशन) थी, जिसके लोगों के बारे में बताया गया है कि "वीर पुरुष थे, जिनका जन्म कृतयुग (सतयुग) से ही जल, और थल की राह से, दूर-दूर देशों में जाकर, छहों खंडों को भेदकर, घोड़े, हाथी, मणि-मानिक, फुलेल और औषधियों का थोक और खुदरा व्यापार करने के लिए हुआ था।"

हिंदुस्तानियों की व्यापार और साहसी धंधों और विस्तार की प्रेरणा उन्हें इन पूरबी देशों में ले गई, जिनका पुराने संस्कृत ग्रंथों में 'स्वर्णभूमि' या 'स्वर्ण-द्वीप' के व्यापक शब्द से संकेत किया गया है। इस नाम में ही एक आकर्षण था। आरंभ के उपनिवेश स्थापित करनेवाले पहले बस गए, फिर और बाद में आए, और शांति के साथ बैठने की यह क्रिया जारी रही। हिंदुस्तानियों का उन जातियों से, जो उन्हें वहांपर मिलीं, मेल-जोल हुआ और एक नई मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ। इतना हो चुकने पर ही शायद राजनैतिक वर्ग के लोग, कुछ क्षत्रिय राजकुमार, कुलीन वंशों के सैनिक, साहसी कामों और राज्य-स्थापना के विचार से आये। नामों की समानता की वजह से यह सुझाव दिया गया है कि इन लोगों में से अधिकतर हिंदुस्तान में खूब फैली हुई मालव जाति के लोग थे—इसीसे मलय जाति हुई, जिसका सारे इंदोनीशिया पर इतना गहरा असर रहा है। मध्य-हिंदुस्तान का एक हिस्सा अब भी मालवा कहलाता है। ऐसा खयाल किया जाता है कि आरंभ के औपनिवेशिक पूरबी समुद्र-तट के कलिंग

देश (उड़ीसा) से गए थे, लेकिन यह दक्खिन का पल्लव हिंदू राज्य ही था जिसने कि उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश की। यह खयाल किया जाता है शैलेंद्र-वंश, जो दक्खिन-पूरबी एशिया में इतना प्रसिद्ध हुआ, उड़ीसा से आया हुआ था। उस काल में उड़ीसा बौद्धों का एक गढ़ था, यद्यपि शासन करनेवाला राज-वंश ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था।

इन हिंदुस्तानी उपनिवेशों का इतिहास कोई तेरह सौ साल का, बल्कि इससे भी अधिक का है। यह पहली या दूसरी सदी ईसवी से आरंभ होकर पंद्रहवीं सदी के अंत तक चलता है। आरंभ की सदियों का हाल बहुत साफ-साफ नहीं मालूम है, सिवाय इसके कि बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे। क्रमशः वे आपस में मिल जाते हैं और पांचवीं सदी के होते-होते बड़े-बड़े शहरों का निर्माण होने लगता है। आठवीं सदी तक ऐसे साम्राज्य बन चुके थे जो समुद्र-यात्रा किया करते थे और कुछ अंशों में केंद्रीय थे, लेकिन बहुत-से देशों पर एक अस्पष्ट ढंग का आधिपत्य भी बनाये हुए थे।

इनमें सबसे बड़ा राज्य शैलेंद्र-साम्राज्य था जिसे श्रीविजय का साम्राज्य भी कहते हैं, और जो आठवीं सदी तक सारे मलय-एशिया में जल और थल दोनों तरह की शक्तियों के रूप में सबसे ऊपर उठ चुका था। अभी हाल तक यह समझा जाता था कि उसका आरंभ सुमात्रा में हुआ था और वहीं इसकी राजधानी भी थी, लेकिन बाद की खोजों ने साबित कर दिया है कि इसका आरंभ मलय प्रायद्वीप में हुआ था। जिस काल में इसकी शक्ति चोटी पर पहुंच गई थी, उस काल में इसके अंदर मलय, लंका, सुमात्रा, जावा का एक हिस्सा, बोर्नियो, सेलिबीज, फिलिपाइन और फारमूसा का एक हिस्सा था और शायद कंबोडिया और चंपा (अनाम) पर भी इसका आधिपत्य था। यह बौद्ध-साम्राज्य था।

लेकिन शैलेंद्र-वंश के इस साम्राज्य के स्थापित और दृढ़ होने के बहुत पहले ही मलय, कंबोडिया और जावा में शक्तिशाली राज्य बन चुके थे। मलय प्रायद्वीप के उत्तरी हिस्से में स्याम की सरहद के करीब

जो दूर तक फैले हुए खंडहर हैं, वे आर० जे० विल्किनसन के अनुसार ऐसे हैं जिनसे बहुत 'ऊंचे दरजे के संपन्न और वैभवशाली, बलशाली राज्यों के वहां किसी समय में होने का पता चलता है।' चंपा (अनाम) में तीसरी सदी में पांडुरंगम् नाम का नगर था, और पांचवीं सदी में कंबोज एक बड़ा नगर हो गया था। नवीं सदी में जयवर्धन नाम के एक प्रतापी राजा ने, छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर, कंबोडिया का साम्राज्य स्थापित किया था जिसकी राजधानी अंगकोर थी। कंबोडिया बीच-बीच में शैलेंद्र-वंश के आधिपत्य में संभवतः आ जाता रहा, लेकिन यह आधिपत्य नाम के लिए था और नवीं सदी में यह स्वतंत्र हो बैठा। कंबोडिया का यह साम्राज्य लगभग चार सौ साल तक बना रहा और इसमें बहुत बड़े-बड़े शासक और निर्माण करनेवाले लोग हुए, जैसे जयवर्मन, यशोवर्मन, इंद्रवर्मन और सूर्यवर्मन। इसकी राजधानी सारे एशिया में प्रसिद्ध हो गई, जो विशाल अंगकोर के नाम से जानी जाती थी: यहां दस लाख की आबादी थी और यह शहर सीज़र बादशाहों के रोम शहर से बड़ा और अधिक विशाल था। शहर के पास-ही अंगकोर-वट का विशाल मंदिर था। कंबोडिया का साम्राज्य तेरहवीं सदी के अंत तक चलता रहा, और १२९७ में एक चीनी राजदूत वहां गया था। वह राजधानी की समृद्धि और शान-शौकत का बयान करता है। लेकिन इस साम्राज्य का अचानक अंत हो गया, इतना अचानक- कि कुछ भवन पूरे बनने से रह गए। बाहरी आक्रमण हुए और भीतरी कठिनाइयां भी सामने आईं, लेकिन शायद जो सबसे बड़ी आपत्ति आई वह यह थी कि मीकांग नदी रेत से भर गई जिसकी वजह से शहर में आने के रास्तों में पानी आकर दलदल बन गया और शहर को छोड़ना पड़ा।

नवीं सदी में जावा भी शैलेंद्र-साम्राज्य से अलग हो गया, फिर भी शैलेंद्र-वंश इंदोनीशिया में ग्यारहवीं सदी तक सबसे बड़ी शक्ति बना रहा, और तब दक्खिन हिंदुस्तान के चोल राज्य से उसकी मुठभेड़ हुई। चोल-वंशी विजयी हुए और पचास साल से अधिक समय तक इंदोनीशिया के बहुत-से भागों पर उनका आधिपत्य रहा। चोल लोगों के हट जाने पर शैलेंद्र-वंश ने अपनी खोई हुई शक्ति फिर प्राप्त करली

और लगभग तीन सौ साल तक एक स्वतंत्र राज्य की हैसियत से बना रहा। लेकिन अब यह पूरबी समुद्र के देशों में सबसे बड़ी शक्ति न रह गया था और तेरहवीं सदी में इस साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना आरंभ हो गया। इसकी कमजोरी से जावा ने लाभ उठाया और थाइयों (स्याम) ने भी।

चौदहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में जावा ने श्रीविजय के शैलेंद्र-साम्राज्य पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया। इस जावाई राज्य के पीछे एक लंबा इतिहास है। यह ब्राह्मण-धर्मवालों का राज्य था और बौद्ध-धर्म के प्रचार के बावजूद इसने अपने पुराने धर्म को छोड़ा न था। इसने श्रीविजय के शैलेंद्र-साम्राज्य के राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव का उस समय भी मुक़ाबला किया था जबकि स्वयं जावा का आधे से अधिक हिस्सा इस साम्राज्य में आ गया था। यहां ऐसे लोग बसते थे जिनका ध्यान व्यापार पर था, जो जहाजरानी करते थे और जिन्हें पत्थर की शानदार इमारतें बनवाने का शौक़ था। आरंभ में यह सिंहसारी का राज्य कहलाता था, लेकिन १२९२ ईसवी में मज्जा-पहित नाम का एक नया नगर स्थापित हुआ और आगे चलकर इसी से मज्जापहित-साम्राज्य हो गया जो श्रीविजय-साम्राज्य के बाद दक्खिन-पूरबी एशिया की सबसे बड़ी शक्ति थी। मज्जापहित ने कुबलाइ खां के चीन से भेजे गए कुछ दूतों का अनादर किया और चीनियों ने उसपर धावा करके उसे दंड दिया। जावाइयों ने शायद चीनियों से बारूद का उपयोग सीखा और इसकी मदद से वे अंत में शैलेंद्र-वंश-वालों को हरा सके।

मज्जापहित एक बड़ा केंद्रित और विस्तारशील साम्राज्य था। कहा जाता है कि यहां की कर-व्यवस्था बड़े अच्छे ढंग से संगठित थी और व्यापार और उपनिवेशों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। शासन का एक व्यवसाय-विभाग था और इसी तरह उपनिवेश-विभाग, स्वास्थ्य-विभाग और युद्ध और अंतरंग-विभाग आदि भी थे। एक प्रधान न्यायालय भी था, जिसमें कई न्यायाधीश काम करते थे। इस साम्राज्य का जैसा अच्छा संगठन था, उसे जानकर आश्चर्य होता है।

इसका मुख्य काम हिंदुस्तान और चीन से व्यापार करना था। यहां के प्रसिद्ध शासकों में एक महारानी सुहिता थी।

मज्जापहित और श्रीविजय के बीच का युद्ध बड़ा भयानक था, और यद्यपि मज्जापहित की पूरे तौर पर जीत हुई, इस जीत ने नये झगड़ों के बीज बोये। शैलेंद्रों की ताकत, जो-कुछ भी बच रही थी, उससे और लोगों ने, मुख्यतथा अरबों और नौ-मुस्लिमों ने, मिलकर सुमात्रा और मलाका में मलय शक्ति स्थापित की। पूरबी समुद्रों की कमान, जो अबतक दक्खिन हिंदुस्तान या हिदुस्तानी उपनिवेशों के हाथ में थी, वह अब अरबों के हाथ में चली गई। व्यापार के केंद्र की हैसियत से, और राजनैतिक शक्ति के रूप में, अब मलाका सामने आया और मलय-प्रायद्वीप और टापुओं में इस्लाम फैला। यही शक्ति थी जिसने कि पंद्रहवीं सदी के अंत में मज्जापहित का पूरी तरह अंत कर दिया। लेकिन कुछ बरसों के भीतर ही, सन् १५११ में, अल्बुकर्क के नेतृत्व में पुर्तगाली आये और उन्होंने मलाका पर अधिकार कर लिया। अपनी नई और उन्नतिशील शक्ति के बल पर यूरोप सुदूर पूरब तक पहुंच गया।

१५. हिंदुस्तानी कला का विदेशों में प्रभाव

प्राचीन साम्राज्यों और वंशों का यह हाल पुरातत्त्वज्ञों की दिलचस्पी का है, लेकिन सभ्यता और कला के इतिहास के लिए उनकी दिलचस्पी और भी अधिक है। हिंदुस्तान के दृष्टिकोण से यह विशेष-रूप से महत्व का है, क्योंकि वहां जो-कुछ था, वह हिंदुस्तान का किया-धरा था और हिंदुस्तान की जीवनी-शक्ति और प्रतिभा भिन्न रूपों में वहां प्रगट हुई थी। हम हिंदुस्तान को उत्साह से भरा हुआ और दूर-दूर तक फैलता हुआ पाते हैं, और यह देखते हैं कि वह न केवल अपने विचारों, बल्कि दूसरे आदर्शों, अपनी कला, अपने व्यापार, अपनी भाषा और साहित्य और अपने शासन के ढंग को सब जगह ले जाता है। न वह मंद पड़ा हुआ है, न अलग-अलग रहनेवाला है या समुंदर और पहाड़ से कटकर अकेला पड़ गया है। उसके निवासी इन ऊंचे पहाड़ों को पार

करते हैं और भयावह समुद्र को लांघते हैं, और जैसाकि मुशिए रीनी ग्रूसे ने बताया है, "एक बृहत्तर हिंदुस्तान का निर्माण करते हैं, जो राजनैतिक दृष्टि से उतना ही कम संगठित है जितना कि बृहत्तर यूनान था, लेकिन जो नैतिक दृष्टि से वैसा ही मधुर और व्यापक प्रभाव रखनेवाला है।" वास्तव में मलय-एशिया की इन रियासतों का राजनैतिक संगठन भी बड़े ऊंचे दर्जे का था, यद्यपि यह हिंदुस्तानी राजनैतिक व्यवस्था का अंग नहीं था। लेकिन मुशिए ग्रूसे उन विस्तृत प्रदेशों का हवाला देते हैं कि जहां हिंदुस्तानी सभ्यता फैल गई थी—"पूरबी ईरान के ऊंचे पठार में; सेरिंडिया के नख्लिस्तानों में; तिब्बत, मंगोलिया और मंचूरिया के सूखे बंजरों में; चीन और जापान के सुसभ्य प्राचीन देशों में; भोनों और ख्मेरों और हिंदचीन की और जातियों की आदिम भूमियों पर; मलय-पोलिनीसियनों के देशों में; इंदोनीशिया और मलय में; न केवल धर्म पर, बल्कि कला और साहित्य पर भी, या एक शब्द में कहिए तो आत्मा की सभी ऊंची वस्तुओं पर हिंदुस्तान ने अपनी ऊंची संस्कृति की अमिट छाप छोड़ी है।"

हिंदुस्तानी सभ्यता ने विशेषकर दक्खिन-पूरबी एशिया के देशों म जड़ पकड़ी, और इसका प्रमाण आज वहां सब जगह मिलता है। चंपा, अंगकोर, श्रीविजय, मज्जापहित और-और जगहों में संस्कृत की शिक्षा के बड़े-बड़े केंद्र थे। भिन्न-भिन्न राजाओं के नाम और उन राज्यों और साम्राज्यों के नाम जो वहां स्थापित हुए, बिल्कुल हिंदुस्तानी और संस्कृत नाम हैं। इससे यह मतलब न निकालना चाहिए कि वे पूरी तौर पर हिंदुस्तानी थे, बल्कि यह कि उनमें हिंदुस्तानीपन आ गया था। राज्य से संबंधित रस्में हिंदुस्तानी ढंग की थीं और वे संस्कृत के माध्यम से पूरी की जाती थीं। राज्य के सभी कर्मचारियों के पद प्राचीन संस्कृत में आये हुए पद हैं, और ये पद अबतक न केवल थाईलैंड में चले आ रहे हैं, बल्कि मलय की मुस्लिम रियासतों में भी। इंदोनीशिया की इन जगहों के पुराने साहित्य में हिंदुस्तानी कथाएं और गाथाएं भरी पड़ी हैं। जावा और बाली के मशहूर नृत्य हिंदुस्तान से ग्रहण किये हुए हैं। बाली के छोटे टापू ने तो अपनी पुरानी हिंदु-

स्तानी सभ्यता को अबतक बहुत-कुछ बनाये रखा है, यहांतक कि हिंदू-धर्म भी वहां चला आ रहा है। फ़िलिपाइन्स में लिखने की कला हिंदुस्तान से गई।

कंबोडिया की वर्णमाला दक्खिन हिंदुस्तान से ली गई है और बहुत-से संस्कृत शब्द छोटे-मोटे हेर-फेर के साथ ले लिये गए हैं। दीवानी और फ़ौजदारी के क़ानून हिंदुस्तान के प्राचीन स्मृतिकार मनु के धर्म-शास्त्र के आधार पर बने हैं और इन्हें बौद्ध धर्म के प्रभाव से होनेवालें कुछ परिवर्तनों के साथ कंबोडिया के वर्त्तमान क़ानून में ले लिया गया है।

लेकिन जिन चीज़ों में हिंदुस्तानी प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है, वह है इन प्राचीन हिंदुस्तानी नौ-आबादियों की कला और इमारतें। मौलिक प्रेरणा में कुछ परिवर्तन आया, उसने अपने को परिस्थितियों के अनुकूल ढाला और स्थानीय गुणों का उसमें मेल-मिलाप हुआ और इस मेल-मिलाप में अंगकोर और बोरोबुदुर की विशाल इमारतें और अद्‌भुत मंदिर तैयार हुए। जावा में बोरोबुदुर में बुद्ध के जीवन की सारी कहानी पत्थरों में गढ़ी हुई मिलती है। दूसरी जगहों में मूर्तिपट्टों पर विष्णु और राम और कृष्ण की कथाएं खुदी हुई हैं। आस्वर्ट सिटवेल ने लिखा है—"अंगकोर आज दुनिया की प्रमुख आश्चर्य-वस्तुओं में है, मानवी प्रतिभा ने पत्थर पर खुदाई करके जो-कुछ भी पेश किया है, यह उसकी चोटी पर है।"

अंगकोरवट के विशाल मंदिर के गिर्द एक बड़ा क्षेत्र बहुत दूर तक फैले हुए खंडहर का है, जिसमें बनावटी झीलें और पोखर हैं और नहरें हैं, जिनपर पुल बने हुए हैं; और एक बड़ा फाटक है जिसपर "एक बहुत बड़े आकार का सिर पत्थर में खुदा हुआ है। यह एक सुंदर, मुसकराता हुआ, लेकिन रहस्यमय कंबोडियाई मुख है, यद्यपि शक्ति और सुंदरता में वह देवताओं-जैसा है। यह मुख, अद्‌भुत रूप से आकर्षक है और इसकी मुसकान विचलित करनेवाली है—इसे अंगकोर की मुसकान कहेंगे। मुख कई जगह दुहराया गया है।"

अंगकोर को प्रेरणा हिंदुस्तान से मिली, लेकिन वह ख्मेर प्रतिभा

थी, जिसने उसे विकसित किया, या यह कहिए कि दोनों ने एक-दूसरे से मिलकर यह अचरज की वस्तु उत्पन्न की। कंबोडिया के जिस राजा ने कहा जाता है कि इसे बनवाया, उसका नाम जयवर्मन (सप्तम) था, और यह ठेठ हिंदुस्तानी नाम है।

जावा, अंगकोर और बृहत्तर हिंदुस्तान की दूसरी जगहों की खुदाई और खोजों का यश यूरोपीय विद्वानों और पुरातत्वविदों को है, विशेषकर फ्रांसीसी और डच विद्वानों को। बड़े-बड़े शहर और स्मारक शायद अब भी मिट्टी में दबे हुए पड़े हैं, और उनकी खोज होनी बाक़ी है। इस बीच में, कहा जाता है कि खानों के खोदने की वजह से या सड़क बनाने का सामान लेने में मलय की मुख्य-मुख्य पुरानी जगहें, जहां प्राचीन खंडहर थे, नष्ट हो गई हैं। कुछ साल हुए, मुझे एक थाई (स्यामी) विद्यार्थी का एक पत्र मिला था जो टैगोर के शांति-निकेतन में आया था और थाईलैंड वापस जा रहा था। उसने लिखा था—"मैं अपने को बार-बार विशिष्ट रूप से भाग्य-शाली समझता हूं कि मुझे इस बड़े और पुराने देश आर्यावर्त में आने का और मातामही भारत-भूमि को अपनी विनम्र श्रद्धांजलि भेंट करने का अवसर मिला। यह मातामही ऐसी है जिसकी गोद में मेरी मातृ-भूमि प्रेमपूर्वक पली है और उसने सभ्यता और धर्म में जो-कुछ भी सुंदर है, उसे पहचानना और उससे प्रेम करना सीखा है।"

सिल्वान लेवी लिखते हैं—"ईरान से चीनी समुंदर तक; साइ-बेरिया के बर्फ़ानी प्रदेशों से जावा और बोर्नियो के टापुओं तक; ओशी-निया से सोकोटरा तक; हिंदुस्तान ने अपने विश्वासों, अपनी कहानियों, और अपनी संस्कृति को फैलाया है। उसने मानव-जाति के चौथाई हिस्से पर लंबी सदियों के दौर में अपनी अमिट छाप डाली है। उसे इस बात का अधिकार है कि अज्ञान के कारण उसे दुनिया के इतिहास में जो पद मिलने से रह गया है, उसे प्राप्त करे और मानव-आत्मा के प्रतीक बड़े राष्ट्रों के बीच अपना उचित स्थान ले।"

१६ : पुरानी हिंदुस्तानी कला

सर जान मार्शल कहते हैं कि "हिंदुस्तान के अंदर की ही हिंदुस्तानी कला को जानना, उसकी आधी ही कहानी जानने के बराबर है। उसे पूरीतौर पर समझने के लिए, हमें बौद्ध-धर्म के साथ-साथ मध्य-एशिया, चीन और जापान तक जाना चाहिए; तिब्बत और बरमा और स्याम में फैलकर नये रूप धारण करते हुए और फूटकर नये सौंदर्य प्रस्तुत करते हुए इसे हमें देखना चाहिए; हमें कंबोडिया और जावा में इसकी विशाल और अद्वितीय कृतियों को देखना चाहिए। इन देशों में से हरएक में, हिंदुस्तानी कला का एक नई ही जातीय प्रतिभा से संपर्क होता है, उसे नये स्थानीय वातावरण का सामना करना पड़ता है, और उनके विशिष्ट प्रभाव में यह नये भेस बदलती है।"

हिंदुस्तानी कला का हिंदुस्तानी धर्म और दर्शन से गहरा संबंध है। शायद यूरोप के मध्य-युग के महान् कलाकार और निर्माता हिंदुस्तानी कला और शिल्प से अपना अधिक मेल पाते—आज के उन यूरोपीय कलाकारों की अपेक्षा, जिन्होंने अपनी प्रेरणा रिनेजां और उसके बाद के युग से प्राप्त की है क्योंकि हिंदुस्तानी कला में हमें बराबर एक धार्मिक प्रेरणा मिलती है, एक पारदृष्टि दिखाई देती है, जैसीकि शायद यूरोप के बड़े गिरजाघरों के बनानेवालों में थी। सौंदर्य की कल्पना भाव-जगत में की गई है, वस्तु-जगत में नहीं—यह आत्मा से सबंध रखनेवाली चीज है।

यूनानी परंपरा में शिक्षा पाये हुए यूरोपीयों ने आरंभ में हिंदुस्तानी कला की यूनानी दृष्टिकोण से जांच की। गांधार और सरहदी सूबे की यूनानी बौद्ध-कला में तो उन्होंने कुछ बात देखी जो उनकी पहचानी हुई थी; और हिंदुस्तान की कला और कृतियों को उन्होंने इसीका गिरा हुआ रूप माना गया। धीरे-धीरे एक नया दृष्टिकोण बना और यह कहा जाने लगा कि हिंदुस्तानी कला में एक मौलिकता और जीवनी-शक्ति है जो यूनानी बौद्ध-कला से उसे नहीं प्राप्त हुई है, बल्कि यूनानी बौद्ध-कला स्वयं उसका एक हल्का प्रतिबिब है। यह

नया दृष्टिकोण अधिकतर इंग्लिस्तान को छोड़कर यूरोप के और देशों से आया। यह एक अचरज की बात है कि हिंदुस्तानी कला का (और यह बात संस्कृत-साहित्य के बारे में भी ठीक ठहरती है) जैसा आदर यूरोप के दूसरे देशों में हुआ, वैसा इंग्लिस्तान में नहीं। यों बहुत से कलाकार, विद्वान् और दूसरे अंग्रेज हैं, जो हिंदुस्तानी भावनाओं और दृष्टिकोण के नजदीक पहुंच गए हैं, और जिन्होंने हमारी पुरानी तिथियों की खोज में और दुनिया के आगे उनकी व्याख्या करने में मदद दी है।

उन अंग्रेजों में, जिन्होंने हिंदुस्तानी कला को पसंद किया है और उस पर मत स्थिर करने के लिए नई कसौटियों का उपयोग किया है, लारेंस विनियन और ई० बी० हैवेल हैं। हिंदुस्तानी कला के आदर्शों और उसके अंतरंग भावों के बारे में हैवेल को विशेष रूप से उत्साह है। हिंदुस्तानी कला मुट्ठी-भर विद्वानों के संबोधन के लिए नहीं रही है। इसका उद्देश्य यह रहा है कि हिंदु-धर्म और दर्शन के केंद्रीय विचारों को आम लोगों को समझावे। "इस शिक्षा के उद्देश्य को पूरा करने में हिंदू-कला सफल रही, इसका अनुमान इस बात से हो जाता है, (जो उन सबका जाना हुआ है जो हिंदुस्तानी जीवन से परिचित हैं) कि हिंदुस्तानी गांववाले, यद्यपि वे पच्छिमी लोगों के अर्थ में निरक्षर और अनपढ़ हैं, फिर भी अपने वर्ग के लोगों में, दुनिया के किसी जगह के लोगों की अपेक्षा अधिक सभ्य हैं।"

हिंदुस्तान में, अजंता की दीवारों पर बने हुए सुंदर चित्रों के अतिरिक्त पुरानी चित्रकारी अधिक नहीं मिलती। शायद इस कला का अधिकतर भाग नष्ट हो गया है। हिंदुस्तान की विशेषता उसकी मूर्ति-कला और स्थापत्य में है, जिस तरह कि चीन और जापान की विशेषता उनकी चित्रकारी में है।

हिंदुस्तानी संगीत, जो यूरोपीय संगीत से इतना भिन्न है, अपने ढंग पर बहुत उन्नति कर चुका था, और इसके लिए हिंदुस्तान प्रसिद्ध था, और चीन और सुदूर पूरब के देशों को छोड़कर इसने सारे एशिया के संगीत पर प्रभाव डाला था। इस तरह से संगीत, ईरान, अफ़गानिस्तान, अरब, तुर्किस्तान और कुछ हद तक और इलाकों में, जहांकि अरबी

सभ्यता फैली थी, जैसे उत्तरी अफरीका, इनके बीच की एक और कड़ी बन गया। हिंदुस्तान का शास्त्रीय संगीत शायद इन सब जगहों में पसंद किया जायगा। आरंभ के काल में हिंदुस्तानी कला हमें प्रकृतिवाद से भरी हुई मिलती है, जो कुछ अंशों में चीनी प्रभावों की वजह से हो सकता है। हिंदुस्तानी कला के इतिहास की भिन्न मंजिलों पर हमें चीनी-प्रभाव दिखाई देते हैं, विशेषकर प्रकृतिवाद को उत्कर्ष देनेवाले, इसी तरह हिंदुस्तानी आदर्शवाद ने चीन और जापान में जाकर विशेष कालों में वहां बरबस प्रभाव डाला।

चौथी से छठी सदियों के बीच, गुप्तों के समय में, जो हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाया है, अजंता की गुफाएं खोदी गईं और उनकी दीवारों पर चित्र बनाये गए। बाग और बादामी की गुफाएं भी इसी जमाने की हैं। अजंता की दीवार पर बनी तस्वीरें यद्यपि बड़ी सुंदर हैं, और जबसे उनकी खोज हुई है, उन्होंने हमारे आजकल के कलाकारों पर गहरा असर डाला है, और वे जीवन से मुड़कर अजंता की शैली की नकल में पड़ गए हैं तथापि ये इसके अच्छे नतीजे नहीं हैं।

अजंता हमें एक दूर की, सपने-जैसी दूर की, लेकिन बहुत वास्तविक दुनिया में पहुंचा देता है। ये दीवाल पर बने चित्र बौद्ध भिक्खुओं के बनाये हुए हैं। बहुत दिन पहले उनके स्वामी बुद्ध ने बताया था कि स्त्रियों से दूर रहो, उनकी तरफ देखो तक नहीं, क्योंकि वे खतरनाक हैं। फिर भी हम पाते हैं कि यहां स्त्रियों की कमी नहीं है, सुंदर स्त्रियां, राजकन्याएं, गानेवाली, नाचनेवाली, बैठी और खड़ी, शृंगार करती हुई या जुलूस के साथ जाती हुई स्त्रियां हमें मिलती हैं। अजंता की स्त्रियां प्रसिद्ध हो गई हैं। इन कलाकार भिक्खुओं का दुनिया से और इस जिंदगी के चलते-फिरते नाटक से कितना गहरा परिचय था! कितने प्रेम से उन्होंने ये चित्र बनाये हैं! उसी तरह ये चित्र बनाये हैं, जिस तरह कि उन्होंने बोधिसत्व की प्रशांत और लोकोत्तर महिमा का चित्रण किया है।

सातवीं और आठवीं सदियों में ठोस चट्टानों को काटकर एलोरा की विशाल गुफाएं तैयार हुईं, जिनके बीच में कैलास का बहुत बड़ा

मंदिर है। मानव ने इसकी कल्पना किस तरह की, और कल्पना करन क बाद उसे किस तरह साकार किया, इसका सोचना कठिन ह। इसी काल की एलिफैंटा की गुफाएं भी हैं, जहांकि त्रिमूर्त्ति की जोरदार और रहस्य-मयी मूर्त्ति बनी हुई हैं। दक्खिन हिंदुस्तान में मामल्लपुरम् के भवन भी इसी समय के हैं।

एलिफैंटा की गुफा में नटराज शिव की एक टूटी हुई मूर्त्ति है, जिसमें शिव नाचने की मुद्रा में दिखाये गए हैं। हैवेल का कहना है कि अपनी टुटी हुई हालत में भी यह बड़ी प्रबल मूर्त्ति है और इसकी कल्पना विशाल है—"नृत्य की लयमय गति से यद्यपि चट्टान तक प्रतिध्वनित जान पड़ती है, फिर भी सिर को देखने से उसी सौम्य और शांत और निर्वि-कार प्रकृति का आभास होता है जिससे कि बुद्ध का मुख आलोकित रहता है।"

१७ : हिंदुस्तान का वैदेशिक व्यापार

ईसवी सन् के पहले एक हज़ार बरसों में हिंदुस्तान का व्यापार बराबर खूब फैला.हुआ था, और हिंदुस्तानी व्यापारी बहुत-सी विदेशी मंडियों पर अधिकार किये हुए थे। यह व्यापार पूरबी समुद्र के दशों में तो प्रचुर रूप से होता ही था, उधर यह मेडिट्रेनियन के देशों तक फैला हुआ था। मिर्च और मसाले हिंदुस्तान से या हिंदुस्तान होकर पच्छिम को जाते थे, ये बहुधा हिंदुस्तानी या चीनी जहाजों में जाते। रोमन लेखकों ने यह शिकायत की है कि रोम से हिंदुस्तान और पूरब के देशों में, आमोद-प्रमोद की चीजों के बदले में बहुत-सा सोना बाहर जाता था।

यह व्यापार अधिकतर—क्या हिंदुस्तान में और क्या दूसरी जगह—उन सामग्रियों के अदल-बदल का होता था जो विशेष जगहों में पाई जाती थीं। हिंदुस्तान बहुत पुराने समय से कपड़ा तैयार करता रहा है—उस काल से, जबकि बहुत-से दूसरे देश इस धंधे को नहीं जानते थे—इस लिए यहांपर कपड़े का धंधा उन्नति कर गया था। हिंदुस्तानी बुना हुआ कपड़ा दूर-दूर देशों में जाया करता था। बहुत आरंभ के जमाने से यहां

रेशमी कपड़ा भी बनता रहा है, यद्यपि शायद वह चीनी रेशम-जैसा अच्छा न होता था। कपड़े रंगने की कला में अवश्य विशेष उन्नति हुई जान पड़ती है और पक्के रंग तैयार करने के यहां विशिष्ट ढंग थे। इनमें से एक नील का रंग था और इसे 'इंडिगो' कहते हैं। यह ऐसा शब्द है जो यूनानियों ने 'इंडिया' से बनाया था। शायद इस रंगाई के धंधे की जानकारी ने हिंदुस्तान के विदेशों से व्यापार को बहुत आगे बढ़ाया।

ईसवी सन् की आरंभ की सदियों में रसायन-शास्त्र हिंदुस्तान में और-और देशों की अपेक्षा शायद अधिक उन्नति कर चुका था। इसके बारे में मेरी जानकारी बहुत नहीं है, लेकिन हिंदुस्तानी रसायन-शास्त्रियों और वैज्ञानिकों के प्रमुख सर पी० सी० राय ने, जिन्होंने हिंदुस्तानी वैज्ञानिकों की कई पीढ़ियों को तैयार किया है, एक पुस्तक 'हिंदू रसायन-शास्त्र का इतिहास' लिखी है। उस काल में रसायन-शास्त्र कीमियागिरी और धातु-शास्त्र से बहुत संबंध रखता था। एक प्रसिद्ध हिंदुस्तानी रसायन और धातु-शास्त्री नागार्जुन हुआ है, और नामों की समानता की वजह से कुछ लोगों ने सुझाव दिया है कि यही पहली सदी ईसवी का बड़ा दार्शनिक था। लेकिन इस बात में बहुत संदेह है।

प्राचीन हिंदुस्तानी लोहे को ताव देना जानते थे, और हिंदुस्तानी फौलाद और लोहे की दूसरे मुल्कों में कद्र होती थी, विशेषकर लड़ाई के कामों में। बहुत-सी और धातुओं की यहां लोगों को जानकारी थी और औषधि के लिए धातुओं के द्रव्य तैयार किये जाते थे। भट्टी से टपकाने और कंकड़-पत्थर फूंककर चूना बनाने का काम लोगों को अच्छी तरह मालूम था। औषध-विज्ञान ने काफी उन्नति कर ली थी। मध्य-युग तक प्रयोगों में पर्याप्त उन्नति होती रही, यद्यपि ये प्रयोग अधिकतर पुराने ग्रंथों के आधार पर हुआ करते थे। शरीर-रचना और शरीर-विज्ञान का अध्ययन होता था।

आकाश-विद्या, जो सबसे पुराना विज्ञान है, विद्यापीठों के पाठ्यक्रम का एक नियमित अंग थी और प्रायः इसे फलित ज्योतिष से

मिला-जुला दिया जाता था। एक बहुत शुद्ध पंचांग तैयार किया जा चुका था और यह अब भी चलता है। प्राचीन हिंदुस्तानियों को अपने आकाश-ज्ञान पर गर्व रहा है। उनका अरबों के ज्योतिष-ज्ञान से परिचय था, जो अधिकतर सिकंदरिया से लिया गया था।

यह बताना कठिन है कि यंत्रों ने कहांतक उन्नति की थी, लेकिन जहाजों का बनाना एक ऐसा व्यवसाय था जो खूब चलता था। और भी तरह-तरह के 'यंत्रों' के परिचय मिलते हैं, विशेषकर लड़ाई में काम आनेवाले यंत्रों के। कुछ उत्साही और विश्वासी हिंदुस्तानियों ने इससे तरह-तरह के पेचीदा यंत्रों की कल्पना कर ली है। फिर भी यह मालूम पड़ता है कि औजारों के प्रयोग में और रसायनशास्त्र और धातु-शास्त्र की जानकारी में हिंदुस्तान किसी भी देश की अपेक्षा पिछड़ा हुआ न था। इससे व्यापार के मामले में उसे लाभ पहुंचता, और कई सदियों तक वह कई विदेशी मंडियों को अपने वश में रख सका।

१८ : प्राचीन हिंदुस्तान में गणित-शास्त्र

चूंकि प्राचीन हिंदुस्तानी ऊंचे दिमागवाले और सूक्ष्म बातों पर सोच-विचार करनेवाले लोग थे, इसलिए हमें आशा ही करनी चाहिए कि वे गणित-शास्त्र में बढ़े-चढ़े रहे होंगे। यूरोप ने आरंभ में अंक-गणित और बीज-गणित अरबों से सीखा—इसीसे उन्होंने संख्याओं को 'अरबी-संख्याओं' का नाम दिया—लेकिन अरबों ने स्वयं उन्हें पहले हिंदुस्तान से सीखा था। अंक-गणित और बीज-गणित की नींव बहुत पहले ही हिंदुस्तान में पड़ी थी। एक गिनती के चौखटे की मदद से गिनने के भद्दे ढंग और रोमन और इसी तरह की संख्याओं के इस्तेमाल ने बहुत दिनों तक उन्नति को रोक रखा था, जबकि शून्यांक मिलाकर दस हिंदुस्तानी अंकों ने मानव के मस्तिष्क को इन बंधनों से मुक्त कर दिया, और अंकों के स्वभाव पर बहुत प्रकाश डाला। ये अंकों के चिह्न और देशों में प्रयोगों में आनेवाले चिह्नों से बिल्कुल भिन्न थे। आज वे इतने प्रचलित हैं कि हम उन्हें माने बैठे हैं, लेकिन उनमें क्रांतिकारी उन्नति के बीज थे। हिंदुस्तान से बगदाद होते हुए पच्छिमी दुनिया में

पहुंचने में इन्हें सदियां लग गईं।

डेढ़ सौ साल हुए, नैपोलियन के समय में, लाप्लास ने लिखा था—"यह हिंदुस्तान है, जिसने हमें सभी संख्याओं को दस चिह्नों के द्वारा प्रकट करने का युक्तिपूर्ण ढंग वताया, जिसके हरएक चिह्न का एक अपना मूल्य है और एक उसके स्थान की वजह से मिला हुआ मूल्य है। यह एक गहरा और महत्त्वपूर्ण विचार है, जो अब हमें इतना सीधा-सादा जान पड़ता है कि हम उसकी विशेषताओं को भूल जाते हैं। लेकिन इसकी सादगी ही से जो सरलता हमारी गणनाओं में हो गई है, उसने अंक-गणित को उपयोगी आविष्कारों की पहली कोटि में ला दिया है, और हम इस कारनामे के महत्व को तब समझेंगे, जब हम यह याद रखेंगे कि प्राचीन काल के दो सबसे बड़े व्यक्तियों, अर्थात् आर्कमीदिस और अपोलोनियस, की प्रतिभा से भी यह विचार वच निकला था।"

हिंदुस्तान में ज्यामिति, अंकगणित और बीजगणित का आरभ हमें बहुत प्राचीन काल तक पहुंचा देता है। शायद आरंभ में वैदिक वेदियों पर चित्रों के बनाने में एक तरह के ज्यामितीय बीजगणित का प्रयोग किया जाता था। हिंदू-संस्कारों में ज्यामिति-चित्र अब भी आम-तौर से उपयोग मे आते हैं। ज्यामिति ने हिंदुस्तान में उन्नति जरूर की, लेकिन इस विषय में यूनान और सिकंदरिया आगे बढ़ गए। अंकगणित और बीजगणित में ही हिंदुस्तान आगे बना रहा। स्थान-मूल्य की दश-मलव विधि और शून्यांक के आविष्कार या आविष्कारकों का पता नहीं। शून्यांक के सबसे पहले प्रयोग का जो अबतक पता लगा है, वह लगभग २०० ई० पू० के एक शास्त्रीय ग्रंथ में है। यह संभव विचार किया जाता है कि स्थान-मूल्य का ढंग ईसाई सन् के आरंभ के लगभग आविष्कार किया गया। शून्य, जिसके अर्थ कुछ नहीं के हैं, आरंभ में एक बिंदी के रूप में था। बाद में यह एक छोटे वृत्त के रूप में बदल गया। यह और अंकों की तरह एक अंक समझा जाता था। प्रो० हाल्स्टेड ने लिखा है—"शून्य के चिह्न की रचना के महत्व को चाहे जितना बढ़ा के कहा जाय, अत्युक्ति न होगी। एक ऐसी चीज को, जो हवाई और कुछ न हो, एक स्थिति और नाम दे देना, एक चित्र और प्रतीक में बदल देना, जिसमें

मदद करने की शक्ति आ जाय, हिंदू जाति की ही विशेषता है जहां कि इसका जन्म हुआ।"

इस ऐतिहासिक घटना को लकर इस समय के एक और गणितज्ञ ने बड़ी जोरदार प्रशंसा की है। डार्नजिग अपनी पुस्तक 'नंबर' में लिखता है—"पांच हजार साल के इस लंबे जमाने में न जाने कितनी सभ्यताएं उठीं और गिरीं और इनमें से हरएक अपनी साहित्य,कला, दर्शन और धर्म की विरासत छोड़ गई। लेकिन गिनती के क्षेत्र में, जो मनुष्य की पहली कला रही है, सबकुछ मिलाकर उनके क्या कारनामे रहे? गिनती का ढंग इतना भोंडा और गैर-लचीला था, कि उन्नति को असंभव बना देनेवाला; जोड़ने के ढंग इतने सीमित, कि मामूली हिसाब के लिए भी विशेषज्ञ की मदद लेनी पड़े। आदमी इन तरीकों को हजारों साल तक प्रयोग में लाता रहा, लेकिन इनमें कोई मारके का सुधार न कर सका, इसमें एक भी मतलब का विचार न जोड़ सका .... यह सही है कि अंधेरे युगों में विचार बहुत धीरे-धीरे उन्नति करते थे, फिर भी उसके मुकाबले में गिनती के इतिहास को दखा जाय, तो विशेषकर गतिहीन और अटका हुआ जान पड़ता है। इस दृष्टि से देखने से उस अनजाने हिंदू का कारनामा, जिसने हमारे सन् की पहली सदियों में किसी समय स्थान-मूल्य के सिद्धांत का आविष्कार किया, एक लोकव्यापी महत्त्व का कारनामा हो जाता है।"

शून्यांक और स्थान-मूल्यवाली दशमलव विधि स्वीकार कर लेने से हिंदुस्तान में अंकगणित और बीजगणित की उन्नति के द्वार तेजी से खुल गए। वटे चालू हुए और वटोंवाले गुणा-भाग; त्रैराशिक निकला और उसे पूर्ण वनाया गया; वर्ग और वर्गमूल; उसके साथ-साथ वर्गमूल का चिह्न निकला; अनजानी राशियों के लिए बीजगणित में वर्णमाला के अक्षरों का उपयोग हुआ; सामान्य और वर्गसमीकरण का विचार उठा; शून्यांक के गणित की छानबीन हुई।

गणित की ये और दूसरी प्रगतियां पांचवीं से बारहवीं सदी के वीच होनेवाले अनेक प्रसिद्ध गणितज्ञों की पुस्तकों में दी गई हैं। इससे पहले के भी ग्रंथ हैं। लेकिन बीजगणित पर जो सबसे पुरानी पुस्तक

मिलती है, वह ज्योतिषी आर्यभट्ट की है, जिसका जन्म ४७६ ई० में हुआ था। ज्योतिष और गणित पर उसने अपनी किताब जब लिखी, तब उसकी आयु केवल २३ साल की थी। आर्यभट्ट ने, जिसे कभी-कभी बीजगणित का आविष्कारक बताया जाता है, अपने से पहले के लेखकों से कम-से-कम कुछ अंशों में सहायता ली होगी। हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र में दूसरा बड़ा नाम जो आता है, वह भास्कर प्रथम का है (५२२ ई०) और उसके बाद ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) हुआ, और वह भी एक ज्योतिषी था। शून्यांक के नियमों का वर्णन किया और इस विद्या में और भी उन्नति की। इसके बाद लगातार कई गणितज्ञ हुए हैं जिन्होंने अंकगणित और बीजगणित पर पुस्तकें लिखी हैं। अंतिम बड़ा नाम भास्कर द्वितीय का है, जिसका जन्म १११४ ई० में हुआ था। उसने ज्योतिष, बीज-गणित और अंक-गणित, इनपर तीन पुस्तकें लिखी हैं। उसकी गणित की पुस्तक का नाम 'लीलावती' है। यह पुस्तक संस्कृत स्कूलों में, कुछ हद तक अपनी शैली के कारण, अब भी उपयोग में आती है। गणितशास्त्र पर पुस्तकें बनती रहीं। लेकिन जो काम हो चुका था, उन्हें इनमें केवल दुहराया गया है। गणित-शास्त्र में, बारहवीं सदी के बाद, जबतक कि हम वर्त्तमान काल तक नहीं आ जाते हैं, मौलिक काम बहुत थोड़ा हुआ है।

आठवीं सदी में, खलीफा अलमंसूर के राज्य-काल में (७५३-७७४), कई हिंदुस्तानी विद्वान् बग़दाद गए, और जिन पुस्तकों को वे अपने साथ ले गए थे, उनमें ज्योतिष और गणित की भी पुस्तकें थीं। शायद इसके पहले भी, हिंदुस्तानी गिनती के अंक बग़दाद पहुंच चुके थे, लेकिन यह पहला नियमित संपर्क था और आर्यभट्ट की और दूसरी पुस्तकों के अरबी अनुवाद हुए। इन्होंने अरबी दुनिया में गणित और ज्योतिष की उन्नति पर असर डाला और वहां हिंदुस्तानी अंक प्रचलित हुए। बग़दाद उस जमाने में विद्या का एक बड़ा केंद्र था, और यूनानी और यहूदी आलिम वहां जमा हुए थे, और इन लोगों के साथ-साथ यूनानी-दर्शन, ज्यामिति और विज्ञान वहां पहुंचे थे। बग़दाद का सांस्कृतिक-प्रभाव मध्य-एशिया से लेकर स्पेन तक सारी इस्लामी दुनिया में पहुंचा

था और इस समस्त प्रदेश में अरबी तर्जुमों के जरिए हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र का ज्ञान फैल गया था। अरब इन अंकों को 'हिंदसा' कहते थे और अंकों के लिए अरबी शब्द 'हिंदसा' ही है, जिसके माने हैं 'हिंद से आया हुआ।'

अरबी दुनिया से यह नई गणित, शायद स्पेन के मूरों के विद्यालयों द्वारा यूरोपीय देशों में पहुंचा और यूरोपीय गणित-शास्त्र की इससे बुनियाद पड़ी। यूरोप में इन नये 'हिंदसों' का विरोध हुआ। वे काफिरों के निशान समझे जाते थे, और उनके आमतौर पर प्रयोग में आने में कई सौ साल लग गए। सबसे पहला प्रयोग जो हुआ, वह सिसली के एक सिक्के में ११३४ में हुआ; इंगलिस्तान में इसका पहला प्रयोग १४९० में हुआ।

हिंदुस्तान के गणित की चर्चा करत हुए हाल क जमाने के एक असाधारण व्यक्ति की बरबस याद आती है। यह श्रीनिवास रामानुजम् था। दक्खिन हिंदुस्तान के एक गरीब ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर और उचित शिक्षा न पाकर, वह मदरास पोर्ट ट्रस्ट में एक क्लर्क हो गया। लेकिन उसमें सहज प्रतिभा का एक न दब सकनेवाला गुण था, और वह अपने अवकाश के घंटों में अंकों और उनके समीकरण से अपना जी बहलाया करता था। सौभाग्य से एक गणितज्ञ का ध्यान इसपर गया और उसने इसका कुछ काम इंग्लिस्तान में कैंब्रिज भेज दिया। वहां के लोगों पर इसका असर पड़ा और उसके लिए एक वजीफे का इंतजाम कर दिया गया। इस तरह उमने अपनी क्लर्की छोड़ी और वह कैंब्रिज चला गया। थोड़े ही समय में उसने वहां कुछ बड़ा महत्त्वपूर्ण और मौलिक काम प्रस्तुत किया। इंग्लिस्तान की रायल सोसाइटी ने अपने नियमों को तोड़कर उसे अपना एक 'फेलो' चुन लिया, लेकिन वह दो साल बाद ३३ साल की उम्र में, शायद तपेदिक से, मर गया। मेरा ख़याल है कि जूलियन हक्सले ने उसके बारे में कहीं कहा है कि वह इस सदी का सबसे बड़ा गणितज्ञ था।

१९ : विकास और ह्रास

ईसवी सन् के पहले हजार बरसों में हिंदुस्तान ने बहुत चढ़ाव और उतार देखे हैं, आक्रमणकारियों से लड़ाइयां हुईं और अंदरूनी कठिनाइयां सामने आई हैं। फिर भी एक जोरदार उफान लेता हुआ और चारों तरफ फैलता हुआ राष्ट्रीय जीवन इस काल में रहा है। संस्कृति उन्नति करती है, एक भरी-पूरी सभ्यता, दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित-शास्त्र के फूल खिलाती है। हिंदुस्तान की आर्थिक व्यवस्था फैलती है, हिंदुस्तान का क्षितिज विस्तृत होता है और दूसरे देश इसके प्रभाव में आते हैं। ईरान, चीन, यूनानी दुनिया, मध्य-एशिया से संबंध बढ़ते हैं, और इन सबसे ऊपर यह होता है कि पूर्वी समुद्र के देशों की तरफ बढ़ने की गहरी उमंग पैदा होती है, हिंदुस्तानी उपनिवेश स्थापित होते हैं और हिंदुस्तानी संस्कृति हिंदुस्तान की सरहदों से बहुत आगे तक पहुंचती है। इन हजार बरसों के बीच के जमाने में, चौथी सदी क आरंभ से छठी सदी तक, गुप्त-साम्राज्य का बोलबाला रहता है और इस दूर-दूर तक फैली हुई बौद्धिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का यह प्रतीक और संरक्षक बनता है। यह हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाता है। इस जमाने के ग्रंथों में, जो संस्कृत साहित्य की निधि हैं, एक प्रशांत गंभीरता है, आत्म-विश्वास है, और उस काल के लोगों में इस बात का गर्व है कि वे इस सभ्यता के प्रखर मध्याह्न-काल में जीवित हैं, और इसके साथ-साथ अपनी ऊंची मानसिक और कलात्मक शक्तियों को अधिक-से-अधिक उपयोग में लाने की उनमें उमंग है।

लेकिन इससे पूर्व कि वह सुनहला काल समाप्त हो, कमजोरी और ह्रास के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। पच्छिमोत्तर से सफेद हूणों के दल-के-दल आते हैं और बार-बार मार भगाये जाते हैं। लेकिन उनका आना जारी रहता है और धीरे-धीरे वे उत्तरी हिंदुस्तान में रास्ता कर लेते हैं। आधी सदी तक वे उत्तरी हिंदुस्तान में शासन भी करते हैं, लेकिन इसके बाद अंतिम गुप्त-सम्राट्, मध्य-हिंदुस्तान के एक शासक, यशोवर्मन, के साथ मिलकर बड़ी कोशिश से उन्हें देश से निकाल बाहर

करता है। इस लंबे संघर्ष के कारण हिंदुस्तान राजनैतिक दृष्टि से तथा लड़ाई की शक्ति की दृष्टि से भी कमजोर पड़ गया, और हूणों के बहुत संख्या में सारे उत्तरी हिंदुस्तान में बस जाने ने धीरे-धीरे लोगों में एक भीतरी परिवर्त्तन भी पैदा कर दिया। जिस तरह कि और विदेशों से आनेवाले यहां समाविष्ट हो चुके थे, उसी तरह ये भी हो गए, लेकिन इनकी छाप बनी रही और भारतीय आर्य-जातियों के प्राचीन आदर्श दुर्बल पड़ गए। हूणों के जो पुराने वर्णन मिलते हैं, वे उनकी हद दर्जे की कठोरता और बर्बरता के व्यवहारों से भरे हुए हैं और इस तरह के व्यवहार युद्ध और शासन के हिंदुस्तानी आदर्शों से बिल्कुल विपरीत हैं।

सातवीं सदी में, हर्ष के समय में, राजनैतिक और सांस्कृतिक, दोनों ही तरह की पुनर्जागृति होती है। उज्जयिनी (आजकल का उज्जैन) जो गुप्तों की विशाल राजधानी थी, फिर कला और संस्कृति और एक बलशाली राज्य का केंद्र बनती है। लेकिन इसके बाद की सदियों में, यह भी कमजोर पड़ जाती है और इसका वैभव समाप्त हो जाता है। नवीं सदी में, गुजरात का मिहिरभोज छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान में एक केंद्रीय राज्य स्थापित करता है और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाता है। फिर एक साहित्यिक पुनर्जागृति होती है और इसका मुख्य पुरुष राजशेखर होता है। इसके बाद फिर ग्यारहवीं सदी के आरंभ में एक दूसरा भोज, जो बड़ा पराक्रमी और आकर्षक व्यक्ति है, सामने आता है, और उज्जयिनी फिर एक बड़ी राजधानी बनती है। यह भोज एक बड़ा अद्‌भुत मनुष्य था और इसने कई क्षेत्रों में प्रतिष्ठा हासिल की थी। यह वैयाकरण था, कोषकार था, और इसकी दिलचस्पी भैषज और ज्योतिष में भी थी। यह बड़ी इमारतों का निर्माण करनेवाला था, कला और साहित्य का संरक्षक भी था। यह स्वयं कवि और लेखक था और कई रचनाएं इसके नाम के साथ जुड़ी हुई हैं।

इस समय दक्खिन हिंदुस्तान राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों हैसियतों से अधिक महत्व का बन गया। शायद इसका यह कारण रहा हो कि दक्खिन हिंदुस्तान आक्रमणकारियों के साथ बराबर लड़ाई में लगे

रहने की मुसीबत और परेशानी से बचा रहा; शायद उत्तरी हिंदुस्तान की अव्यवस्था की दशा से बचने के लिए बहुत-से लेखक और कलाकार और बड़े-बड़े वास्तु-विशारद भागकर दक्खिन में जा बसे। दक्खिन के शक्तिशाली राज्यों ने, और उनके शानदार दरबारों ने, लोगों को आकर्षित किया होगा, और उन्हें रचनात्मक कार्य के लिए यह अवसर दिया होगा, जो उन्हें दूसरी जगह नहीं मिलता था।

लेकिन यद्यपि उत्तरी हिंदुस्तान सारे हिंदुस्तान पर प्रभावशाली नहीं था, यहां का जीवन भरा-पूरा था, और संस्कृति और दर्शन के बहुत-से केंद्र अब भी यहां वर्तमान थे। इस समय भी बनारस धार्मिक और दार्शनिक विचारों का गढ़ था, और प्रत्येक व्यक्ति, जो किसी नये सिद्धांत की या किसी पुराने सिद्धांत की नई व्याख्या को लेकर सामने आता, उसे अपने विचारों को मान्य कराने के लिए यहां आना पड़ता था। बहुत काल तक कश्मीर भी बौद्धों और ब्राह्मणों की संस्कृति और ज्ञान का बड़ा केंद्र रहा है। बड़े-बड़े विद्यापीठ रहे हैं, जिनमें बिहार का नालंदा सबसे प्रसिद्ध था, और यहां के विद्वानों का सारे हिंदुस्तान में आदर था। नालंदा में शिक्षा पानेवाले पर संस्कृति की एक छाप-सी लग जाती थी। इस विद्यापीठ में भरती होना सहज न था, क्योंकि इसमें वे ही लोग भरती हो सकते थे, जिन्होंने एक विशेष योग्यता प्राप्त कर ली हो। इसने स्नातकों को शिक्षा देने में विशेषता प्राप्त की थी, और यहां चीन, जापान और तिब्बत तक से विद्यार्थी आते थे, बल्कि कहा जाता है कि कोरिया, मंगोलिया और बुखारा से भी। धार्मिक और दार्शनिक विषयों के अलावा, जो बौद्ध-मत और ब्राह्मण-मत दोनों ही के अनुसार पढ़ाये जाते थे, दुनिया की और व्यावहारिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। कला और स्थापत्य की शिक्षा के विभाग थे; वैद्यक का एक विद्यालय था; कृषि का विभाग था; गोधन और पशुओं का विभाग था। और यहां के बौद्धिक जीवन के बारे में कहा जाता है कि बराबर जोरदार वाद-विवाद होते थे और मीमांसा चलती रहती थी। हिंदुस्तानी संस्कृति का विदेशों में प्रचार अधिकतर नालंदा के विद्वानों का काम रहा है। इसके अतिरिक्त विक्रमशिला का विद्यापीठ था, जो बिहार

में हों, आजकल के भागलपुर के पास था, और काठियावाड़ में वल्लभी था। गुप्तों के जमाने में उज्जयिनी के विद्यापीठ की प्रतिष्ठा हुई। दक्खिन में अमरावती का विद्यापीठ था।

फिर भी ज्यों ये हजार वर्ष समाप्त होने पर आते हैं, यह सब कुछ संस्कृति की तिपहरी जैसा लगता है। सवेरे की आभा बहुत पहले समाप्त हो चुकी थी, और दुपहरी भी बीत गई थी। दक्खिन में अब भी कुछ दम और जोर शेष था, और यह कुछ सदियों तक और चलता रहा। देश से बाहर हिंदुस्तान के उपनिवेशों में उत्साही और भरा-पूरा जीवन पांच सौ वर्षों तक और बना रहा। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि हृदय मंद हो रहा था, उसकी धड़कनें धीमी पड़ रही थीं और धीरे-धीरे उसकी शिथिलता और अंगों में भी फैल रही थी। आठवीं सदी में होनेवाले शंकर के बाद दर्शन के मैदान में कोई बड़ा आदमी नहीं हुआ, यद्यपि टीका-कारों की व्याख्या करनेवालों का एक लंबा सिलसिला मिलता है। शंकर भी दक्खिन हिंदुस्तान के थे। बौद्धिक साहस और जिज्ञासा का स्थान कठोर तर्क और अनुर्वर वाद-विवाद ले लेते हैं। ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म दोनों का ह्रास दिखाई देता है, और पूजा के गिरे हुए रूप सामने आते हैं, विशेषकर तांत्रिक पूजा और योग के कुछ विकृत रूप।

साहित्य म भवभूति (आठवीं सदी) अंतिम बड़ा व्यक्ति है। बहुत-सी पुस्तकें इसके बाद भी लिखी जाती रहीं, लेकिन शैली जटिल और बनावटी होती गई। गणित में भास्कर द्वितीय (बारहवीं सदी) अंतिम बड़ा नाम है। सातवीं-आठवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक हिंदुस्तानी कला का ऊंचा काल रहा है, यह विचार कहांतक सही है, मैं नहीं जानता, लेकिन मेरा खयाल है कि कला के मैदान में भी दक्खिन हिंदुस्तान में ही, उत्तरी हिंदुस्तान की अपेक्षा पुरानी परंपरा अधिक काल तक बनी रही।

उपनिवेशों को बसानेवाला अंतिम बड़ा गिरोह दक्खिन हिंदुस्तान से नवीं सदी में गया था, लेकिन चोल-वंशियों की समुद्री शक्ति ग्यारहवीं सदी तक बनी रही, जबकि उन्हें श्रीविजय ने हराया और परास्त किया।

इस तरह हम देखते हैं कि हिंदुस्तान शुष्क हो रहा था और अपनी रचनात्मक शक्ति और प्रतिभा खो रहा था। हिंदुस्तान का फैलता हुआ अर्थ-तंत्र समाप्त हो चुका था और सिकुड़ने लगा था। शायद यह हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन के बढ़ते हुए कट्टरपन और अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति का परिणाम था और इसकी तह में यहां की वर्ण-व्यवस्था थी। जहां-जहां हिंदुस्तानी विदेशों में पहुंचे थे, जैसे दक्खिन-पूरबी एशिया में, वहां-वहां उनके मस्तिष्क में, रीति-रिवाजों में और अर्थ-तंत्र में वह कड़ापन नहीं आया था और विकास और फैलाव के उनके सामने अवसर थे। इससे चार-पांच सदी बाद तक वे इन नौ-आबादियों में पनपे और उन्होंने स्फूर्ति और रचनात्मक शक्ति दिखाई। लेकिन स्वयं हिंदुस्तान में अलग-थलग रहने की भावना ने उनकी रचनात्मक शक्ति को खोखला कर दिया और उनमें तंग-खयाली, गुटबंदी और संकुचित दृष्टिकोण पैदा हो गया। जीवन इस तरह टुकड़े-टुकड़े में बंट और बंध गया, कि हरएक व्यक्ति का धंधा निश्चित हो गया और सदा-सदा के लिए बन गया और उसका संबंध दूसरों से बहुत कम रह गया। क्षत्रियों का काम देश की रक्षा में लड़ाई करना रह गया और इस काम में दूसरों की या तो दिलचस्पी न रह गई थी या उन्हें इसके लिए आज्ञा न थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय बनिज-व्यापार करनेवालों को नीची नजर से देखने लगे। नीची जातवालों को शिक्षा और उन्नति के अवसरों से वंचित रखा गया, और उन्हें अपने से ऊंची जातवालों के अधीन रहना सिखलाया गया। बावजूद इसके कि शहरी अर्थ-व्यवस्था और उद्योगों ने खासी उन्नति कर ली थी, राज्य का संगठन बहुत-कुछ सामंतवादी था। शायद युद्ध-कला में भी हिंदुस्तान पिछड़ गया था। इन हालतों में, जबतक कि सारे ढांचे को न पलट दिया जाय और शक्ति और योग्यता के नये सोते न खोल दिये जायं, उन्नति असंभव थी। जात-पांत के बंधनों से इसमें रुकावट पड़ती थी। इसने हिंदुस्तानी समाज में चाहे जो पायदारी या विशेषताएं पैदा की हों, स्वयं इसके अंदर इसके विनाश के बीज मौजूद थे।

: ४ :

नई समस्याएं

१ : अरब और मंगोल

जिस समय कि हर्ष उत्तरी हिंदुस्तान के एक बलशाली राज्य पर शासन कर रहा था, और चीनी यात्री ह्वेनत्सांग नालंदा विद्यापीठ में पढ़ रहा था, उस समय इस्लाम अरब में अपना रूप धारण कर रहा था। इस्लाम ने हिंदुस्तान में एक धार्मिक और राजनैतिक शक्ति के रूप में आकर बहुत-से नये मसले खड़े किये, लेकिन यह बात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तान की परिस्थिति में अंतर ले आने में उसे बहुत समय लग गया। हिंदुस्तान पहुंचने में उसे लगभग छ: सदियां लग गईं, और जब वह यहां पहुंचा उस, वक्त यह स्वयं बहुत-कुछ बदल चुका था। अरबवाले, जो अपने उत्साह की बाढ़ में, एक प्रबल शक्ति के साथ फैलकर, स्पेन से लेकर मंगोलिया की सरहदों तक विजयी के रूप में पहुंच गए थे और जिन्होंने इन प्रदेशों में अपनी शानदार संस्कृति पहुंचाई थी, खास हिंदुस्तान में न आये। वे पच्छिमोत्तरी किनारे तक पहुंचे और वहींतक रह गए। अरबी-सभ्यता का क्रमश: ह्रास हुआ और मध्य-पच्छिमी एशिया की तुर्की जातियां आगे आईं। यही तुर्क लोग थे और हिंदुस्तानी सरहद के अफ़ग़ान थे, जो इस्लाम को हिंदुस्तान में एक राजनैतिक शक्ति की हैसियत से लाये।

यद्यपि अरबवालों ने दूर-दूर देशों पर विजय प्राप्त की थी, और वे विजय आसानी से कर सके थे, पर हिंदुस्तान में वे सिंध से आगे न उस समय ही बढ़ सके न बाद में ही। क्या इसकी यह वजह हो सकती है कि हिंदुस्तान इस समय भी इतना काफ़ी मजबूत था कि हमलावरों को रोक सके? संभवत: यह बात सही है, क्योंकि दूसरी तरह से उस बात को समझाया नहीं जा सकता कि इसके कई सदियों बाद तक क्यों दरअसल कोई दूसरा हमला न हुआ। हो सकता है कि कुछ अंश में स्वयं

अरबों के आपस के झगड़ों के कारण ऐसा हुआ हो। बग़दाद के केंद्रीय शासन से सिंध पृथक् हो गया और एक स्वतंत्र मुसलमानी रियासत बन गया। लेकिन यद्यपि कोई आक्रमण न हुआ, फिर भी हिंदुस्तान और अरब के संबंध बढ़े, यात्री आने-जाने लगे, एलचियों का अदला-बदला हुआ और हिंदुस्तान की पुस्तकें, विशेषकर गणित और ज्योतिष की, बग़दाद पहुंचीं और उनके अरबी अनुवाद हुए। बहुत-से हिंदुस्तानी वैद्य बगदाद गए। ये व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध केवल उत्तरी हिंदुस्तान से नहीं स्थापित हुए इसमें हिंदुस्तान की दक्खिनी रियासतें भी शरीक हुईं, विशेषकर राष्ट्रकूट, जो हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र-तट से व्यापार किया करती थीं।

इस लगातार संबंध के कारण हिंदुस्तानियों का इस नय धर्म, इस्लाम, से परिचित हो जाना अनिवार्य था। इस नये धर्म को फैलाने के लिए प्रचारक भी आये और उनका स्वागत भी हुआ। मसजिदें बनाई गईं। इसपर न तो शासन ने, न जनता ने कोई आपत्ति की, और न किसी तरह के धार्मिक दंगे हुए। हिंदुस्तान की पुरानी परंपरा यह थी कि सभी धर्मों और पूजा के सभी तरीकों के साथ सहिष्णुता बरती जाये। इस तरह इस्लाम हिंदुस्तान में राजनैतिक शक्ति की हैसियत से आने से सदियों पहले धर्म की हैसियत से आ चुका था।

उमैया खलीफाओं के शासन में जो अरबी साम्राज्य स्थापित हुआ, उसकी राजधानी दमिश्क थी और यह एक विशाल शहर बन गया। लेकिन जल्द ही, ७५० ई० के लगभग अब्बासिया खलीफाओं ने बगदाद को राजधानी बना लिया। भीतरी झगड़े पैदा हुए और स्पेन केंद्रीय शासन से अलग हो गया, लेकिन बहुत दिनों तक फिर भी एक स्वतंत्र अरबी राज्य बना रहा। क्रमशः बगदाद की सल्तनत भी कमजोर पड़ी और कई छोटी-छोटी रियासतों में बंट गई और मध्य-एशिया से सेल-जूक तुर्कों ने आकर बगदाद में राजनैतिक शक्ति स्थापित कर ली, यद्यपि खलीफा अब भी बना रहा। अफ़गानिस्तान में सुल्तान महमूद गजनवी नाम का एक तुर्क उठ खड़ा हुआ, जो बड़ा अच्छा सिपाही था और फौजी कप्तान था। उसने खलीफाओं की कुछ परवाह न की,

बल्कि उन्हें ताने देता रहा। लेकिन फिर भी बगदाद इस्लामी दुनिया का सांस्कृतिक केंद्र बना रहा और दूर का स्पेन भी अपनी प्ररणा क लिए उसका मुंह देखता। उस समय यूरोप विद्या, विज्ञान, कला और जीवन की सुविधाओं में पिछड़ा हुआ था। यह अरबी स्पन था, और खासतौर पर कारडोवा का विश्वविद्यालय था, जिसने कि यूरोप में उस सारे अंधकार-युग में ज्ञान और जिज्ञासा का दीपक जगाये रखा, और उसके प्रकाश ने यूरोपीय अंधकार को कुछ हद तक दूर किया।

ईसाइयों के मुसलमानों के खिलाफ धर्म-युद्ध (क्रूसेड) १०९५ ई० में आरंभ हुए और लगभग डेढ़ सदी तक चलते रहे।

अंतिम धर्म-युद्ध (क्रूसेड) के गौरवहीन ढंग से समाप्त होने से पहले ही, बीच एशिया में कुछ तूफानी और तहलका मचा देनेवाली घटनाएं घटीं। चंगेज खां ने बरबादी ढहानेवाला अपना धावा पच्छिम की ओर आरंभ कर दिया। इसका जन्म मंगोलिया में ११५५ ई० में हुआ था और १२१९ में उसने अपना यह बड़ा धावा आरंभ किया, जिसने मध्य-एशिया को एक दहकते हुए वीराने में बदल दिया। उस समय वह कोई अल्हड़ नौजवान न था। बुखारा, समरकंद, हेरात, और बल्ख, ये आलीशान शहर, जिनमें से हरएक की आबादी दस लाख से अधिक थी, जलाकर खाक कर दिये गए। चंगेज रूस में कीव तक गया, फिर लौट आया। चूंकि बगदाद उसके रास्ते में नहीं पड़ता था, इसलिए वह किसी तरह बच गया। १२२७ में, ७२ साल की अवस्था पाकर वह मरा। उसके उत्तराधिकारी और आगे यूरोप तक पहुंचे और १२५८ में हलाकू ने बगदाद पर अधिकार किया और विद्या और कला के एक प्रसिद्ध केंद्र का, जहां कि पांच सौ बरसों से दुनिया के हरएक हिस्से से आकर खजाने इकट्ठे हुए थे, अंत कर दिया। इसने एशिया में अरब और ईरान की मिली-जुली विशेष सभ्यता को बड़ा धक्का पहुंचाया, यद्यपि यह सभ्यता मंगोलियों के जमाने में भी जीवित रही—विशेषकर उत्तरी अफरीका और स्पेन में। आलिमों के दल-के-दल अपने ग्रंथों को लिये हुए बगदाद से क़ाहिरा और स्पेन पहुंचे और इन जगहों में कला और विद्या की एक नई जागृति हुई। लेकिन स्वयं स्पेन अरब

वालों के हाथ से खिसक रहा था और १२३६ ई० में कारडोवा का पतन हो चुका था। इसके बाद और ढाई सदियों तक ग्रैनाडा का राज्य अरबी संस्कृति का उज्ज्वल केंद्र बना रहा। १४९२ ई० में ग्रैनाडा भी फ़र्डिनैंड और इसावेला के हाथों में चला गया और स्पेन में अरबी हुकूमत का अंत हुआ। इसके वाद अरबवालों का मुख्य केंद्र काहिरा बन गया. यद्यपि यह तुर्कों के अधिकार में आ गया। आटोमन तुर्कों ने १४५३ ई० में कुस्तुंतुनिया को अधिकार में कर लिया और इस तरह उन शक्तियों को प्रस्तुत किया, जिन्होंने बाद में यूरोपीय नवजागृति को जन्म दिया।

एशिया और यूरोप में मंगोलों की यह विजय युद्ध की कला में एक नवीनता प्रस्तुत करती है। मंगोलों से, यूरोप ने, सैनिक युक्तियों और युद्ध की कला के बारे में, नये पाठ सीखे। इन मंगोलों के द्वारा बारूद का उपयोग भी, जो चीन की चीज थी, उन्होंने जाना।

मंगोल हिंदुस्तान में नहीं आये। वे सिंधु नदी तक आकर रुक गए और दूसरी जगहों पर जाकर उन्होंने विजयें प्राप्त कीं। जब उनकी सल्तनत समाप्त हुई, तो एशिया में कई छोटी-छोटी रियासतें स्थापित हुईं, और फिर १३६९ ई० में, तैमूर ने, जो तुर्क था और मां की तरफ़ से चंगेज खां की औलाद होने का दावा करता था, चंगेज के कारनामों को दुहराने की कोशिश की। उसकी राजधानी, समरकंद, फिर एक सल्तनत का सदर-मुकाम बनी, यद्यपि यह सल्तनत अधिक दिनों की नहीं थी। तैमूर की मृत्यु के बाद, उसके वारिसों की दिलचस्पी फौजी कारनामों में कम रही, बल्कि वे शांति का जीवन बसर करने और कलाओं को उन्नति देने में लगे रहे। मध्य-एशिया में तैमूरियों के नाम पर प्रसिद्ध एक नई जागृति हुई और इस वातावरण में तैमूर के एक वंशज, बाबर, ने जन्म लिया और बड़ा हुआ। बाबर हिंदुस्तान में मुगल-वंश का संस्थापक था; वह शानदार मुगलियों में पहला था। दिल्ली को उसने १५२६ में जीता।

चंगेज ख़ां मुसलमान नहीं था, जैसाकि कुछ लोग इसलिए ख़याल करते हैं कि उसका नाम इस्लाम से मिल-जुल गया है। कहा जाता है कि

वह शामाई धर्म का मानने वाला था, जो एक आसमानी धर्म था। वह धर्म क्या था मैं नहीं जानता, लेकिन नाम से बरबस उस शब्द की ओर ध्यान जाता है जो अरबवालों ने बौद्धों के लिए दे रखा था, अर्थात् शामानी, जो संस्कृत 'श्रमण' से निकला है। उस जमाने में बौद्धधर्म के बिगड़े हुए रूप एशिया के भिन्न भागों में फैले हुए थे, और इन भागों में मंगोलिया भी था; और यह संभव है कि चंगेज खां इनके असर में पला हो। यह एक बड़ी अटपटी कल्पना है कि इतिहास का सबसे बड़ा फौजी विजेता शायद किसी तरह का बौद्ध था!

२ : अरबी सभ्यता : हिंदुस्तान से संपर्क

आठवीं और नवीं सदियों के अरबवालों में बड़े मारके की बौद्धिक जिज्ञासा, विवेकपूर्ण चिंतन और वैज्ञानिक जांच की भावना मिलती है। अरब यात्री दूर मुल्कों में यह जानने और समझने के लिए जाते थे कि वहां के लोग क्या कर-धर या विचार रहे हैं और उनके दर्शन, विज्ञान और रहन-सहन का क्या रवैया है। बाहर से विद्वान बुलाकर बग़दाद में लाये गए, और पुस्तकें मंगाईं गईं और ख़लीफ़ा अल-मंसूर (आठवीं सदी के बीच में) ने शोध और तर्जुमे के इदारे कायम किये, जहां यूनानी, सिरियन, जेंद, लातीनी और संस्कृत से तर्जुमे किये जाते थे। सीरिया, एशिया माइनर और लेवांट के पुराने मठों की पांडुलिपियों के पाने के लिए खूब छान-बीन हुई। ईसाई पादरियों ने सिकंदरिया के पुराने विद्यालयों को बंद कर दिया था और वहां के विद्वानों को निकाल दिया था। इनमें से बहुत से देश-निकाले लोग ईरान और दूसरी जगहों में चले गए थे। अब उन्हें बग़दाद में पनाह मिली और वे अपने साथ यूनानी दर्शन और विज्ञान और गणित ले आये—अर्थात् अफलातून और अरस्तू, बतलीमूसी और उक्लैदिस से यहां के लोगों का परिचय कराया। यहांपर नस्तूरी और यहूदी विद्वान् और हिंदुस्तानी वैद्य, दार्शनिक और गणितज्ञ मौजूद थे। यह हालत हारूं रशीद और अलमामून (आठवीं और नवीं सदियों में) के जमाने तक चलती रही और उन्नति करती रही, और बग़दाद सभ्य दुनिया के

विद्वानों का सबसे बड़ा केंद्र बन गया। इस काल में हिंदुस्तान से इसके बहुत से संपर्क रहे और अरबवालों ने हिंदुस्तानी गणित, ज्योतिष और औषध-विद्या से बहुत-कुछ प्राप्त किया।

बग़दाद में, हिंदुस्तानी विद्या और विज्ञान के पढ़ने को, शक्तिशाली बरमक घरानेवालों ने, जिनमें से हारूं रशीद के वजीर होते रहे, बड़ा प्रोत्साहन दिया। यह घराना शायद पहले बौद्धधर्म का माननेवाला था और इसके बाद इसने धर्म बदल दिया था। हारूं रशीद की किसी बीमारी के अवसर पर मणक नाम का एक वैद्य हिंदुस्तान से बुलाया गया। मणक बग़दाद में बस गया और एक बड़े अस्पताल का व्यवस्थापक बना दिया गया। अरबी लेखकों का कहना है कि मणक के अतिरिक्त उस समय बग़दाद में छः और हिंदुस्तानी वैद्य रहा करते थे। ज्योतिष में अरबों ने हिंदुस्तानियों और सिकंदरियावालों, दोनों से आगे उन्नति की और दो नाम उनके यहां मशहूर हैं—अल-ख्वारिज्मी, जो नवीं सदी का गणितज्ञ और नजूमी था, और उमर ख़य्याम, जो बारहवीं सदी में कवि और नजूमी दोनों हैसियतों से मशहूर हुआ। औषध-शास्त्र में अरब चिकित्सक और जर्राह एशिया और यूरोप में प्रसिद्ध थे। इनमें से सबसे प्रसिद्ध बुख़ारा का इब्नसीना था, जो हकीमों का बादशाह कहलाया है। उसकी मृत्यु १०३७ ई० में हुई। अरब विचारकों और दार्शनिकों में एक बड़ा नाम अबू नस्र फ़ाराबी का है। दर्शन में हिंदुस्तान का प्रभाव अधिक नहीं हुआ जान पड़ता। दर्शन और विज्ञान, इन दोनों के लिए अरबवाले यूनान और पुराने सिकंदरिया के विद्यालयों की तरफ झुकते थे। अफलातून और ख़ासतौर पर अरस्तू ने अरब-विचार पर गहरा असर डाला है।

३ : महमूद गज़नवी और अफ़गान

आठवीं सदी के शुरू में, ७१२ ई० में, अरबवाले सिंध पहुंचे थे और उन्होंने वहां अधिकार कर लिया था। वहीं वे ठहर गए। लगभग पचास साल के भीतर स्वयं सिंध अरबी सल्तनत से अलग हो गया, यद्यपि यह एक छोटे स्वतंत्र मुसलमानी राज्य की हैसियत से बना रहा। लगभग

तीन सौ साल बाद तक फिर कोई और हमला या धावा हिंदुस्तान पर न हुआ। १००० ई० के आस-पास, अफ़गानिस्तान में ग़जनी के सुल्तान महमूद ने, जो तुर्क था, और जिसने मध्य-एशिया में अच्छी शक्ति बना ली थी, हिंदुस्तान पर धावे शुरू किये। ऐसे बहुत-से धावे हुए और यह धावे रक्तपातपूर्ण और क्रूर थे, और हर अवसर पर महमूद अपने साथ लूट का बड़ा खजाना ले गया। उसी जमाने के एक आलिम, खीवा के रहनेवाले अलबेरूनी ने इन हमलों का यह बयान किया है—"हिंदू धूल के कणों की तरह चारों तरफ़ तितर-बितर हो गए और लोगों के मुंह में किसी पुराने किस्से की तरह उनकी याद रह गई। जो तितर-बितर होकर बच रहे वे सभी मुसलमानों की तरफ़ हद दर्जे की घृणा से देखते हैं।" इस शायराना बयान से हमें उस आफ़त का कुछ अंदाज मिलता है जो महमूद ने ढाई थी, फिर भी हमें यह याद रखना चाहिए कि महमूद ने उत्तरी हिंदुस्तान के सिर्फ़ एक टुकड़े को छुआ और लूटा था, जो उसके धावे के रास्ते में पड़ा था। सारा-का-सारा मध्य, पूरबी और दक्खिनी हिंदुस्तान उससे बिल्कुल बच गया था।

महमूद ने पंजाब और सिंध को अपने राज्य में मिला लिया और वह हर हमले के बाद गज़नी लौट जाता रहा। वह कश्मीर न जीत पाया। इस पहाड़ी देश ने कामयाबी के साथ उसे रोका और मार भगाया। उसे राजपूताने के रेगिस्तानी प्रदेश में भी गहरी हार खानी पड़ी जबकि वह काठियावाड़ में सोमनाथ से वापस आ रहा था। यह उसका आखिरी धावा था और इसके बाद वह फिर न लौटा।

महमूद ने और बहुत-से विजेताओं की तरह विजयों में धर्म के नाम से लाभ उठाया। उसके लिए हिंदुस्तान केवल एक ऐसा देश था, जहां से वह माल और ख़जाना लूटकर अपने देश में पहुंचावे। उसने हिंदुस्तान में एक फ़ौज भरती की और उसे अपने एक प्रसिद्ध सिपहसालार की मातहत, जिसका नाम तिलक था, और जो एक हिंदुस्तानी और हिंदू था, कर दिया। इस फ़ौज का उपयोग उसने स्वयं अपने धर्मवालों के विरुद्ध मध्य-एशिया में किया। उसकी यह बड़ी इच्छा थी कि अपनी राजधानी ग़जनी को मध्य और पच्छिमी एशिया के बड़े

शहरों के मुक़ाबले का बना दे, और इसलिए वह हिंदुस्तान से बहुत-से कारीगर और मेमार ले गया था। इमारतों के बनाने में उसकी दिलचस्पी थी और दिल्ली के करीब मथुरा शहर का उसपर बड़ा असर पड़ा। इसके बारे में उसने लिखा—"यहां हजारों इमारतें हैं जो मजहबियों के मजहब की तरह मजबूत हैं, यह मुमकिन नहीं कि उसकी यह हालत करोड़ों दीनार खर्च किये बिना हुई हो। इस तरह का दूसरा शहर दो सौ साल से कम अरसे में नहीं तैयार हो सकता।"

लड़ाइयों के बीच फुरसत के समय में महमूद की दिलचस्पी इस बात में थी कि अपने देश की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को विकसित करे, और उसने अपने यहां बहुत-से प्रसिद्ध लोगों को इकट्ठा कर लिया था। इनमें से प्रसिद्ध फ़ारसी कवि फिरदौसी भी था, जिसने 'शाहनामा' रचा था और जिसकी बाद में महमूद से अनबन हो गई थी। अलबेरूनी, जो एक घुमक्कड़ और आलिम था, उसका समकालीन हुआ है, और इसने अपनी पुस्तकों में उस समय के मध्य-एशिया के और पहलुओं की झांकी प्रस्तुत की है। खीवा में उसका जन्म हुआ था, लेकिन वह फ़ारसी खानदान का था। वह हिंदुस्तान आया और यहां उसने खूब यात्राएं कीं। वह दक्खिन के चोल राज्य के आबपाशी के बड़े कामों के हाल बताता है, यद्यपि इसमें संदेह है कि वह स्वयं दक्खिन हिंदुस्तान गया भी था। उसने कश्मीर में संस्कृत सीखी और हिंदुस्तान के धर्म, दर्शन, विज्ञान और कलाओं की जानकारी प्राप्त की। इससे पूर्व उसनें यूनानी दर्शन को पढ़ने के लिए यूनानी भाषा भी सीखी थी। उसकी पुस्तकें न केवल ज्ञान का भंडार हैं, बल्कि उनसे हमें यह भी पता चलता है कि किस तरह लड़ाई, लूट-मार और कत्ल के ज़माने में भी सब्रके साथ लोग इल्म हासिल करने में लगे रहते थे और किस तरह एक देश के लोग दूसरे देशवालों की बातों को उस समय भी समझने की कोशिश में लगे हुए थे, जबकि जोश और ग़ुस्से ने उनके आपस के संबंध को तीखा बना दिया था। हिंदुस्तानियों के बारे में अलबेरूनी कहता है कि वे "गर्वीले, मूर्खतापूर्ण, घमंडी, अपने में संतुष्ट और मूढ़ हैं" और उनका विश्वास है कि "उनके देश जैसा दूसरा देश नहीं, उनकी कौम जैसी दूसरी कौम नहीं, उनके

राजाओं जैसे दूसरे राजा नहीं और उनके विज्ञान जैसा दूसरों का विज्ञान नहीं।" शायद यह लोगों के विचार का बहुत-कुछ सही बयान है।

महमूद विजेता की हैसियत से आया और पंजाब उसकी सल्तनत का एक सरहदी सूबा बन गया। फिर भी जब वह वहां शासक बन बैठा, तो उसके पहले के तरीक़ों को दूर करने और कुछ हद तक सूबे के लोगों की ख़ुशी हासिल करने की कोशिश की गई। उनके रहन-सहन में अब इतना दखल नहीं दिया जाता था, और फ़ौज में और हुकूमत में ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर हिंदू नियत किये जाने लगे थे। महमूद के जमाने में इस प्रवृत्ति का आरंभ ही हो पाया था, बाद में इसने और तरक्क़ी की।

महमूद १०३० ई० में मरा। उसकी मृत्यु के बाद एक सौ आठ से अधिक वर्ष तक कोई दूसरा आक्रमण न हुआ और न तुर्क शासन पंजाब से आगे बढ़ा। इसके बाद, शहाबुद्दीन ग़ोरी नाम के एक अफ़ग़ान ने ग़जनी पर अधिकार कर लिया और ग़जनवियों की सल्तनत का अंत हुआ। उसने पहले लाहौर पर धावा किया, फिर दिल्ली पर, लेकिन दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह से हरा दिया। शहाबुद्दीन अफ़ग़ानिस्तान वापस चला गया और दूसरे साल फिर एक नई फ़ौज लेकर हिंदुस्तान में उतरा। इस बार उसकी जीत हुई और ११९२ में वह दिल्ली के तख़्त पर बैठा।

दिल्ली की इस विजय का यह अर्थ नहीं था कि सारा हिंदुस्तान विजित हो गया। चोल-वंश दक्खिन में अब भी शक्तिशाली था और दूसरे स्वतंत्र राज्य भी थे। अफ़ग़ानों को दक्खिन-हिंदुस्तान के अधिक भाग में अपनी हुकूमत फैलाने में और भी डेढ़ सदी लग गई। लेकिन दिल्ली में नई हुकूमत का आना एक मारके की बात थी और नई व्यवस्था का यह एक प्रतीक था।

४ : हिंदी-अफ़ग़ान : दक्खिन हिंदुस्तान : विजयनगर : बाबर : समुद्री शक्ति

हिंदुस्तान के इतिहास को अंग्रेज़ों ने और कुछ हिंदुस्तानी इतिहासकारों ने भी तीन बड़े हिस्सों में बांटा है—प्राचीन या हिंदू, मुस्लिम,

और अंग्रेजी काल। यह बंटवारा न बुद्धियुक्त है और न सही है—इससे धोखा होता है और यह हमारे सामने एक भ्रांतिपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें ऊपर के वर्गों के कुछ सतही परिवर्तनों का खयाल किया गया है, बजाय इसके कि हिंदुस्तानियों के राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की खास-खास तब्दीलियों का खयाल किया जाता। तथाकथित प्राचीन काल बड़ा विशाल है और परिवर्तनों से भरा हुआ है; उन्नति, ह्रास और फिर बराबर उन्नति का क्रम चलता है। जिसे मुस्लिम-काल या मध्य-युग कहते हैं, उसमें भी एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, फिर भी यह ऊपर के लोगों तक सीमित था। इसने हिंदुस्तानी जीवन के मुख्य क्रम पर अधिक प्रभाव नहीं डाला। वे आक्रमणकारी जो हिंदुस्तान में पच्छिमोत्तर से आये, अधिक प्राचीन काल में आनेवाले दूसरे आक्रमणकारियों की तरह हिंदुस्तान में समाविष्ट हो गए और उसके हो रहे। उनके वंश हिंदुस्तानी वंश कहलाये और आपस के शादी-ब्याह के कारण जातियों का बहुत-कुछ मेल-जोल हो गया। कुछ अपवादों को छोड़कर हमें जान-बूझकर इस बात की कोशिश की गई जान पड़ती है कि आम लोगों के रीति-रिवाजों और तरीक़ों से छेड़छाड़ न की जाय। उन्होंने हिंदुस्तान को अपना देश समझा और हिंदुस्तान के बाहर उनके कोई दूसरे लगाव न थे। हिंदुस्तान एक स्वतंत्र मुल्क बना रहा।

अंग्रेजों के आने ने एक बड़ा अंतर ला दिया, और पुरानी प्रथा बहुत-कुछ जड़ से उखड़ चली। वे पच्छिम से एक बिल्कुल नई प्रेरणा लाये, जो यूरोप में पुनर्जागृति (रेनेसां), सुधार (रिफ़र्मेशन) और इंग्लिस्तान की राजनैतिक-क्रांति के समय से क्रमशः उन्नति कर रही थी और औद्योगिक क्रांति (इंडस्ट्रियल रिवोल्युशन) के आरंभ में जिसकी रूप-रेखा बन रही थी। अमरीका और फ्रांस की क्रांतियों ने इसे और आगे बढ़ाया। अंग्रेज बाहरी, विदेशी और हिंदुस्तान में बे-मेल बने रहे और कुछ और होने की उन्होंने कोशिश न की। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हिंदुस्तान के इतिहास में पहली बार उसका राजनैतिक नियंत्रण बाहर से लगाया गया और उसके अर्थतंत्र का केंद्र एक

दूर देश में रहा। उन्होंने हिंदुस्तान को आधुनिक युग के एक उपनिवेश की तरह समझा और हिंदुस्तान अपने लंबे इतिहास में पहली बार एक गुलाम देश बना।

महमूद ग़जनवी का आक्रमण निश्चित रूप से एक विदेशी, तुर्की, आक्रमण था और उसका परिणाम यह हुआ कि पंजाब हिंदुस्तान के और हिस्सों से कुछ काल के लिए अलग रहा। जो अफ़ग़ान यहां बारहवीं सदी के अंत में आये थे, उनकी बात दूसरी थी। वे भारतीय आर्य-जाति के लोग थे और हिंदुस्तान के लोगों से उनका निकट का सबंध था। वास्तव में लंबे सदियों तक अफ़गानिस्तान हिंदुस्तान का एक टुकड़ा होकर रहा है और उसे ऐसा होना ही था। उसकी भाषा पश्तो, बुनियादी तौर पर संस्कृत से निकली है। हिंदुस्तान या हिंदुस्तान से बाहर बहुत कम जगहें ऐसी हैं जहां कि हिंदुस्तानी संस्कृति की प्राचीन यादगारें और खंडहर, विशेषकर बौद्ध-काल के, इतनी बहुतायत से हों, जितने कि अफ़ग़ानिस्तान में हैं। अधिक ठीक यह होगा कि अफ़ग़ान लोग हिन्दी-अफ़गान कहे जायं।

आरंभ में उनका व्यवहार ऐसा रहा जैसा कि विजेताओं का विद्रोही लोगों के साथ होता है, यानी कड़ा और बेरहमी का। लेकिन जल्द-ही ये नरम पड़ गए। हिंदुस्तान उनका घर बन गया और दिल्ली उनकी राजधानी रही। अफ़गानिस्तान, जहां से वे आये थे, उनके राज्य के छोर के केवल एक हिस्से की हैसियत रखता था। हिंदुस्तानी बनने की क्रिया तेजी से चली और उनमें से बहुतों ने इस देश की स्त्रियों से ब्याह कर लिये। उनके बड़े सुल्तानों में से एक, अलाउद्दीन ख़िलजी, ने एक हिंदू स्त्री के साथ ब्याह किया, और इसी तरह उसके बेटे ने भी।

दिल्ली की सल्तनत दक्खिन की तरफ फैली। चोल राज्य का ह्रास हो रहा था, लेकिन उसकी जगह पर एक नई समुद्री शक्ति उठ खड़ी हुई थी। यह पांड्य राज की थी। इसकी राजधानी मदुरा में थी और इसका बंदरगाह पूरबी तट पर कयाल था। यह एक छोटा-सा राज्य था, लेकिन यहां व्यापार की एक बड़ी मंडी थी। चीन से वापस आते हुए मार्को पोलो यहां दो बार रुका था, सन् १२८८ में और फिर १२९३ में;

और उसने इसे 'एक बड़ा और विशाल नगर' बताया है, जहां अरब और चीन के जहाजों का जमघट रहता था। वह बहुत बारीक मलमल का भी चर्चा करता है जिसके तार मकड़ी के जालों जैसे लगते थे और जो हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र-तट पर तैयार किया जाता था।

चौदहवीं सदी के शुरू में दो बड़े राज्य स्थापित हुए थे—गुलबर्ग, जो बहमनी-राज्य के नाम से प्रसिद्ध है और विजयनगर का हिंदू राज्य। दक्खिन के बहमनी-राज्य का आरंभ और नामकरण दिलचस्प है। इस राज्य की स्थापना करनेवाला एक अफ़गान मुसलमान था जिसका शुरू के दिनों में गंगू ब्राह्मण नाम का एक संरक्षक था। उसकी कृतज्ञता को स्वीकार करते हुए इसने अपने ख़ानदान का नाम बहमनी (ब्राह्मण से) खानदान रखा। गुलबर्ग अब पांच रियासतों में बंट गया; इनमें से एक अहमदनगर था। अहमद निजाम शाह, जिसने १४९० में अहमदनगर कायम किया, बहमनी राजाओं के वजीर निजामुल्मुल्क भैरी का बेटा था। यह निजामुल्मुल्क भैरू नाम के एक ब्राह्मण ख़जानची का बेटा था (इसीसे इसका नाम भैरी पड़ा)। इस तरह अहमदनगर के राजवंश की जड़ देसी ही थी, और अहमदनगर की बहादुर औरत चांदबीबी का ख़ून मिला-जुला था। दक्खिन हिंदुस्तान की सभी मुस्लिम रियासतें देसी और हिंदुस्तानी थीं।

तैमूर के दिल्ली को तबाह करने के बाद उत्तरी हिंदुस्तान कमजोर बना रहा और टुकड़ों में बंट गया। उसके मुकाबले में दक्खिन हिंदुस्तान की हालत अधिक अच्छी थी और दक्खिनी राज्यों में सबसे बड़ा और बलशाली राज्य विजयनगर का था। इस राज्य ने उत्तर से भागे हुए बहुत-से हिंदुओं को अपनी तरफ़ खींचा। उस जमाने में लिखे हुए बयानों से यह पता लगता है कि यह शहर बहुत मालदार और सुंदर था। मध्य-एशिया का अब्दुल रज्जाक लिखता है कि "शहर ऐसा है जिसके मुकाबले का शहर सारी दुनिया में न आंखों देखा और न कानों से सुना।" बाजारों के लिए मेहराबवाले रास्ते थे और आलीशान दालानें बनी हुई थीं और इन सबके बीच राजा का शानदार महल खड़ा था, "जिसके चारों तरफ़, पत्थर की कटी हुई, चिकनी और चमकदार नहरों

से पानी के बहुत-से सोते बहा करते थे।" सारा शहर बाग़ों से भरा पड़ा था और उन्हींकी वजह से, जैसाकि इटली के एक यात्री, निकोलो कांटी, ने १४२० में लिखा है, शहर की बाहर-बाहर दौड़ ६० मील लंबी थी। इसके बाद का यात्री पायस था, जो पुर्तगाली था और १५२२ में, इटली की नवजागृति के शहरों को देखकर आया था। उसका कहना है कि विजयनगर का शहर "रोम के इतना बड़ा और देखने में बहुत सुंदर है, और अपनी अनेक बावलियां, नहरों और फल के बागों की वजह से बड़ा ही अनूठा और सुहावना है।" यह "दुनिया का सबसे भरा-पूरा शहर है" और "यहां सभी चीजो की बहुतायत" है। महल के तमाम कमरे हाथीदांत की कारीगरी से भरे हुए थे, और उनके ऊपर गुलाब और कमल नक्श किये हुए थे। "यह इतना सुंदर और मूल्यवान है कि इसकी बराबरी का दूसरा शहर कहीं मिल सकना कठिन होगा।"

जिस समय दक्खिन में विजयनगर उन्नति पर था, उस समय दिल्ली की छोटी सल्तनत को एक नये वैरी का सामना करना पड़ा। उत्तरी पहाड़ी प्रदेशों से एक और आक्रमणकारी उतरकर आया और दिल्ली के पास पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में, जहां हिंदुस्तान के भाग्य का अक्सर निबटारा हुआ है, उसने १५२६ में दिल्ली के तख़्त पर अधिकार कर लिया। यह विजेता बाबर था, जो कि तुर्क मंगोल था, और मध्य-एशिया के तैमूरिया ख़ानदान का था। उसीसे हिंदुस्तान की मुग़ल सल्तनत का आरंभ होता है।

बाबर की सफलता का कारण शायद दिल्ली की सल्तनत की कमजोरी ही नहीं थी, बल्कि यह भी था कि उसके पास एक नया तोपख़ाना था, जैसाकि उस समय हिंदुस्तान में प्रयोग में नहीं आया था। इस समय से आगे हिंदुस्तान युद्ध के विज्ञान की तरक्की करने में पिछड़ता जाता है। यह कहना अधिक सही होगा कि सारा एशिया इस विज्ञान में जहां-का-तहां बना रहा जबकि यूरोप ने इसमें बराबर उन्नति की। महान् मुगल साम्राज्य (यद्यपि हिंदुस्तान में दो सौ साल तक यह शक्तिशाली बना रहा) शायद सत्रहवीं सदी के बाद यूरोपीय फौजों के साथ बराबर के मुक़ाबले में ठहर न सकता था। लेकिन जबतक कि समुद्री

रास्ते पर काबू न हो, कोई यूरोपीय सेना हिंदुस्तान तक पहुंच नहीं सकती थी। जो बड़ा परिवर्तन इन सदियों में होता रहा था, वह यह था कि यूरोप के लोग समुद्री शक्ति में उन्नति कर रहे थे। दक्खिन में, तेरहवीं सदी में, चोल राज्य के गिरने के बाद, हिंदुस्तान की समुद्री शक्ति तेजी से घटी। पांड्य के छोटे-से राज्य का समुद्र से संबंध होते हुए भी वह बहुत सुदृढ़ न था। हिंदुस्तान के उपनिवेशों का समुद्र पर प्रभाव फिर भी, पंद्रहवीं सदी तक, बना रहा, और उस समय अरबवालों ने उनसे बाजी जीत ली और उनके जल्द बाद पुर्तगालियों ने।

५ : मिली-जुली संस्कृति का विकास और समन्वय : परदा : कबीर : नानक : अमीर खुसरो

चाहे अपनी खुशी से उन्होंने ऐसा किया हो, चाहे परिस्थिति ने उन्हें विवश किया हो, अफ़ग़ान शासक और उनके साथ आनेवाले लोग हिंदुस्तान में समा गए। उनके खानदान पूरी तौर पर हिंदुस्तानी हो गए और उनकी जड़ें हिंदुस्तान में फैलीं। उन्होंने हिंदुस्तान को अपना घर समझा और शेष दुनिया को विदेश माना। बावजूद राजनैतिक झगड़ों के, उन्हें लोगों ने भी ऐसा ही मान लिया, और बहुत से राजपूत राजाओं तक ने उन्हें अपना शासक समझा। लेकिन और राजपूत सरदार भी थे, जिन्होंने उनका मातहत होने से इनकार भी किया और भयानक लड़ाइयां भी हुईं। दिल्ली के प्रसिद्ध सुल्तान फीरोजशाह की मां हिंदू औरत थी; इसी तरह गयासुद्दीन तुगलक की मां भी। अफ़ग़ान, तुर्क और हिंदू उमरावों में इस तरह की शादियां आम नहीं थीं, लेकिन फिर भी होती थीं। दक्खिन में गुलबर्ग के एक मुसलमान शासक ने विजयनगर की एक हिंदू राजकुमारी के साथ बड़ी धूमधाम के साथ ब्याह किया था।

हिंदुस्तान और हिंदू-धर्म पर अफ़ग़ानों की विजय के दो प्रभाव पड़े और इनमें से दोनों एक-दूसरे को काटते हुए थे। तत्काल जो प्रभाव पड़ा, वह यह था कि बहुत-से लोग दक्खिन में चले गए और अफ़ग़ान शासक के प्रदेशों से दूर हो रहे। जो बच रहे, वे और कट्टर बन गए और अलग-थलग रहने लगे; अपनी वर्ण-व्यवस्था को और कड़ा करके विदेशी

ढंगों और प्रभावों से अपने को बचाने की चिंता में लगे। दूसरी ओर विचार और जीवन के इन विदेशी ढंगों की ओर लोगों का क्रमशः और अनायास रुझान पैदा होने लगा। फिर एक समन्वय पैदा हुआ। इमारत की कला में नई शैलियां उपजीं; खाना-कपड़ा बदला और बहुत तरह के अंतर रहन-सहन में पैदा हो गए। यह समन्वय संगीत में विशेषकर प्रकट था, जिसने पुराने हिंदुस्तानी शास्त्रीय ढांचे को बनाये रखते हुए अनेक दिशाओं में उन्नति की। फारसी भाषा सरकारी दरबार की भाषा बन गई और बहुत-से फारसी शब्द साधारण प्रयोग में आने लगे। साथ-ही-साथ एक आम भाषा को भी प्रोत्साहन मिला।

हिंदुस्तान में जो बुरी बातें पैदा हुईं, उनमें से एक परदे के रिवाज की तरक़्क़ी थी। ऐसा क्योंकर हुआ यह साफ़ नहीं, लेकिन आनेवालों की पुराने लोगों पर होनेवाली प्रतिक्रिया का यह नतीजा जरूर था। हिंदुस्तान में, इससे पूर्व मर्द और औरत अमीरों के वर्ग में तो कुछ अलग-अलग जरूर रहते थे, जैसाकि और देशों में भी, विशेषकर यूनान में था। दोनों के अलग-अलग रहने का कुछ इसी तरह का रिवाज ईरान में भी था, बल्कि सारे पच्छिमी एशिया में था; लेकिन कहीं भी सख़्त क़िस्म का परदा नहीं होता था। जो अफ़ग़ान उत्तरी हिंदुस्तान में दिल्ली की फतह के बाद आये, उनके यहां परदे की कड़ी पाबंदी न होती थी। तुर्की और अफ़गान शहजादियां और बेगमें अक्सर घोड़े की सवारी, शिकार और मेल-मुलाकात के लिए निकला करती थीं। यह एक पुराना मुसलमानी रिवाज़ है, जिसकी पाबंदी अब भी होती है, कि हज के सफर में उन्हें अपने चेहरों को खुला रखना चाहिए। मालूम पड़ता है कि परदे के रिवाज की उन्नति हिंदुस्तान में मुग़लों के जमाने में हुई, जब इसे हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों ही में, पद और इज्जत की निशानी समझा जाने लगा। परदे की प्रथा विशेषकर ऊंचे वर्ग के लोगों में उन सभी जगहों में तेजी से फैली, जहांकि मुसलमानों का प्रभाव था—अर्थात् उस बीच और पूरब के बड़े प्रदेश में जिसमें दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार और बंगाल आ जाते हैं। लेकिन यह कुछ अजीब बात है कि पंजाब और सरहदी सूबे में परदे की पाबंदी बहुत कड़ी नहीं है। दक्खिन

और पच्छिम हिंदुस्तान में कुछ हद तक मुसलमानों को छोड़कर परदे का रिवाज नहीं रहा है।

अफ़ग़ान लोग दिल्ली की गद्दी पर जम चुके थे और पुराने और नये तरीकों के बीच समन्वय स्थापित होना शुरू हो चुका था। इनमें से अधिक परिवर्तन ऊपर के वर्गों में हुए और उनका प्रभाव आम जनता पर, विशेषकर देहाती जनता पर, नहीं पड़ा। उनका आरंभ दरबारी क्षेत्र में होता और वह शहरों और क़सबों में फैलता। इस तरह एक ऐसा सिलसिला चला, जो कई सदियों तक चलता रहा और उत्तरी हिंदुस्तान में एक मिली-जुली संस्कृति बढ़ती रही। दिल्ली और जिसे अब उत्तरप्रदेश कहते हैं इसके केंद्र बने, जिस तरह कि यह पुरानी आर्य-संस्कृति के केंद्र रहे और अब भी हैं। लेकिन आर्य-संस्कृति का बड़ा हिस्सा खिसककर दक्खिन पहुंचा, जो हिंदू कट्टरता का गढ़ बन गया।

तैमूर के हमले से दिल्ली की सल्तनत जब कमजोर हो गई, तो जौनपुर उत्तरप्रदेश में एक छोटा-सा मुसलमानी राज्य क़ायम हुआ। सारी पंद्रहवीं सदी भर यह कला और संस्कृति और धार्मिक सहिष्णुता का केंद्र रहा। उन्नति करती हुई जन-साधारण की भाषा, हिंदी, को यहां प्रोत्साहन मिला और हिंदुओं और मुसलमानों के धर्मों में समन्वय उत्पन्न करने के भी यत्न हुए। लगभग इसी समय उत्तर में दूर कश्मीर में भी, जैनुलआबदीन नाम के एक मुसलमान राजा ने अपनी सहिष्णुता और संस्कृत विद्या और पुरानी संस्कृति के प्रोत्साहन के लिए यश प्राप्त किया।

सारे हिंदुस्तान में यह नया उभार काम कर रहा था और लोगों के मस्तिष्कों में नये विचार कुरेद पैदा कर रहे थे। पुराने जमाने की तरह, दिमागों में, इस नई परिस्थिति के पक्ष में एक प्रतिक्रिया चल रही थी और विदेशी तत्वों को अपने में समाविष्ट करने के यत्न में वह अपने को कुछ बदल रहा था। इस ख़मीर में से नये ढंग के सुधारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने इस समन्वय के पक्ष में निश्चय के साथ उपदेश दिये और अक्सर वर्ण-व्यवस्था की निंदा या अवहेलना की। दक्खिन में पंद्रहवीं सदी में हिंदू रामानंद हुए और उनके और भी मशहूर चेले बनारस में कबीर

हुए, जो मुसलमान जुलाहे थे। उत्तर में गुरु नानक हुए, जो सिख-धर्म के संस्थापक माने जाते हैं। इन लोगों का असर उन मतों तक सीमित नहीं था जो इनके नाम पर प्रचलित हुए, बल्कि उससे कहीं अधिक विस्तृत था। सारे हिंदू-धर्म पर इन नये विचारों का प्रभाव पड़ा और हिंदुस्तान का इस्लाम भी और जगहों के इस्लाम से भिन्न बन गया। इस्लाम के प्रबल एकेश्वरवाद का हिंदू-धर्म पर प्रभाव पड़ा और हिंदुओं के बहुत-से देवी-देवताओं में विश्वास का कुछ असर हिंदुस्तानी मुसलमानों पर पड़े बगैर न रहा। हिंदुस्तानी मुसलमानों में से अधिक ऐसे थे जो नौ-मुस्लिम थे, और यहां की पुरानी परंपरा में पले थे, बाहर से आनेवाले मुसलमान अपेक्षाकृत थोड़े थे। मुस्लिम रहस्यवाद और सूफी-मत की, जिसका आरंभ कदाचित नये अफलातूनी मत से हुआ था, उन्नति हुई।

विदेशी लोगों के हिंदुस्तान में बराबर जज़्ब होने का सबसे मारके का पता इस बात से लगता है कि मुल्क की आम भाषा को उन्होंने उठा लिया, यद्यपि फारसी दरबार की भाषा बनी रही। आरंभ के मुसलमानों की लिखी हुई हिंदी की कई प्रसिद्ध किताबें हैं। इन लिखनेवालों में सबसे मशहूर खुसरो था, जो एक तुर्क था, और जिसका घराना उत्तरप्रदेश में दो-तीन पीढ़ियों से बस गया था। यह चौदहवीं सदी में हुआ और इसने कई अफ़ग़ान सुल्तानों के जमाने देखे थे। फारसी का तो वह चोटी का शायर था; वह संस्कृत भी जानता था। वह बहुत बड़ा संगीतज्ञ भी था और हिंदुस्तानी संगीत में उसने कई नई बातें पैदा कीं। यह भी कहा जाता है कि हिंदुस्तान का आम-पसंद वाद्य-यंत्र सितार उसीका आविष्कार है। उसने बहुत-से विषयों पर लिखा है और विशेष-रूप से हिंदुस्तान की प्रशंसा की है और यह बताया है कि किन-किन बातों में हिंदुस्तान बढ़ा हुआ है। इनमें धर्म, दर्शन, तर्क-शास्त्र, भाषा और व्याकरण (संस्कृत), संगीत, गणित, विज्ञान और आम का फल बताये गए हैं!

लेकिन हिंदुस्तान में विशेषकर उसकी प्रसिद्धि का कारण उसके आम-पसंद गीत हैं, जिन्हें उसने लोगों की आम जबान हिंदी में लिखा

है। उसने जीवन के विविध पहलुओं पर गीत रचे हैं--दुल्हन के आने पर, प्रेमी के वियोग पर, वर्षा ऋतु पर, जबकि जली हुई धरती से नया जीवन फूट निकलता है। ये गीत अब भी दूर-दूर तक गाये जाते हैं और हम इन्हें उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान के किसी भी गांव या शहर में सुन सकते हैं। अमीर खुसरो ने बहुत-सी पहेलियां भी रची हैं जो बच्चों और बड़ों, दोनों में ही बहुत चलती हैं।

६ : हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन : वर्ग का महत्व

हिंदुस्तान के बारे में जो लोग भी कुछ जानते हैं, उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का हाल सुन रखा है। 'वर्ण' या 'जात' शब्द के प्रयोग से कुछ भ्रांति उत्पन्न होती है, क्योंकि अलग-अलग लोग इसके अलग-अलग अर्थ लगाते हैं। साधारण यूरोपीय या उसीके जैसे विचारोंवाला हिंदुस्तानी यह समझता है कि यह केवल वर्गों को अलग-अलग कर देना है और इस बात की युक्ति है कि वर्ग-भेद बना रहे, ऊंचे वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए चोटी पर बने चले आवें और नीचे वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए नीचे ही बने रहें। इस विचार में सचाई है, और आरंभ में शायद यह इस बात की तरकीब थी कि आर्य विजेता उन लोगों से न मिलने-जुलने पावें जिन्हें उन्होंने हराया था। आरंभ में चाहे इस व्यवस्था में लचीलापन रहा हो, लेकिन जिस तरह इसने उन्नति की है, उससे निश्चय यही परिणाम निकलता है। लेकिन सचाई का यह केवल एक पक्ष है। और इससे यह पता नहीं चलता कि आखिर इस व्यवस्था में इतनी शक्ति और मजबूती क्योंकर रही कि यह आजतक चली आ रही है। इसने बौद्ध-धर्म की प्रबल टक्कर को झेल लिया और अफ़गान और मुगल शासन और इस्लाम के प्रसार की कई सदियां ही नहीं देखीं, बल्कि अनगिनत हिंदू-सुधारकों के, जिन्होंने इसके विरुद्ध अपनी आवाजें बुलंद कीं, वार सहे। यह तो केवल आजकल ऐसा हुआ है कि इसकी बुनियाद पर ही हमला हो रहा है और इसका अस्तित्व ही जोखिम में है। इसका कारण विशेषकर हिंदू-समाज में उपजी हुई कोई प्रबल प्रेरणा नहीं है, यद्यपि निश्चय ही ऐसी प्रेरणा मौजूद है; न यही कारण है कि पच्छिमी

विचार हमारे बीच में आ गए हैं, यद्यपि ऐसे विचारों ने अवश्य अपना प्रभाव डाला है। जो परिवर्तन हमारी आंखों के सामने हो रहे हैं, उनका कारण मुख्यतया यह है कि बुनियादी आर्थिक परिवर्तनों ने हिंदुस्तानी समाज के सारे ढांचे को हिला दिया है और संभव है कि उसे पूरी तरह से उलट-पलट दें। एक तरफ है पुराना हिंदू विचार जो वर्ग या गिरोह संगठन की बुनियादी इकाई है; दूसरी तरफ पच्छिम का विचार है जो बहुत अधिक व्यक्तिवाद पर जोर देता है—जो व्यक्ति को वर्ग से ऊपर रखता है।

यह संघर्ष हिंदुस्तान की ही विशेषता नहीं है; यह पच्छिम में भी और सारी दुनिया में चल रहा है, यद्यपि वहां इसने दूसरे रूप ग्रहण किये हैं। अब वर्ग और समाज के महत्व पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा है और सवाल यह पैदा हो गया है कि व्यक्ति और वर्ग के पक्षों के बीच समझौता कैसे कराया जाय। इस समस्या का हल अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूप ले सकता है, फिर भी रुझान इस ओर है कि एक बुनियादी हल प्राप्त किया जाय, जो सबपर एक प्रकार से लागू हो।

सर जार्ज वर्डउड ने कहीं पर कहा है—"जबतक हिंदू अपनी वर्ण-व्यवस्था को कायम रखते हैं, तबतक हिंदुस्तान हिंदुस्तान बना रहेगा; लेकिन जिस दिन उन्होंने इसे छोड़ा, उस दिन से हिंदुस्तान न रह जायगा।" एक विशाल और पुराने सामाजिक संगठन के टूटने पर सामाजिक जीवन पूरी तौर पर तितर-बितर हो सकता है और सारे-के-सारे लोगों को मुसीबत का सामना करना पड़ सकता है और व्यक्तियों के आचरण बड़े पैमाने पर विकृत रूप ले सकते हैं—अगर कोई दूसरा सामाजिक ढांचा, जो जनता की प्रतिभा के अनुकूल हो उसकी जगह पर नहीं आ जाता।

फिर भी, हम एक व्यवस्था को केवल तोड़कर इस आशा में नहीं बैठे रह सकते कि कुछ अच्छा ही होगा; हमें उस भविष्य की, जिसके लिए कि हम काम कर रहे हैं, कोई कल्पना—वह अस्पष्ट कल्पना ही क्यों न हो—रखनी चाहिए। हम जगह खाली छोड़कर ही नहीं बैठ सकते, नहीं तो यह खाली जगह, संभव है, इस तरह भर जाय कि हमें पछताना पड़े।

इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने उस पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन को जानने और समझने की कोशिश करें, जिसने लोगों पर इतना जबरदस्त प्रभाव डाला है।

इस संगठन की नींव तीन विचारों पर थी—स्वतंत्र देहाती समाज, वर्ण-व्यवस्था और संयुक्त कुटुंव। इन तीनों में ही वर्ग को वड़ाई दी गई है; व्यक्ति की जगह दूसरे दर्जे पर है। अलग-अलग इनमें से किसी विचार में वहुत अनोखापन नहीं, और इनमें से तीनों की वरावरी की व्यवस्थाएं हमें दूसरे देशों मे भी मिल जायंगी, विशेषकर मध्य-युग में। पुराने हिंदुस्तानी गणराज्यों की तरह सभी जगह आदिम गणराज्य मिल जायंगे। हिंदुस्तानी गांव, समाज के ढंग के पुराने रूसी 'मीर' होते थे। वर्ण या जात खासतौर पर धंधों के अनुसार ही हैं, और यही प्रथा यूरोप के मध्य-युग के व्यापार-संघों की रही है। चीन का संयुक्त कुटुंव हिंदुस्तान के संयुक्त कुटुंव से मिलता-जुलता है। मैं इन सवके वारे में इतनी जानकारी नहीं रखता कि इस वहस को आगे वढ़ाऊं और न मेरे उद्देश्य के लिए यह जरूरी ही है। सव-कुछ लिये-दिये यह मानना पड़ेगा कि हिंदुस्तानी संगठन अपने ढंग का निराला था और यह समय के साथ-साथ और भी निराला हो गया।

७ : ग्राम-स्वराज्य : शुक्र-नीति-सार

दसवीं सदी की एक पुरानी पुस्तक है, जिससे तुर्क और अफ़गान हमलों से पहले की हिंदुस्तान की राजनीति-व्यवस्था का कुछ चित्र मिलता है। यह है शुक्राचार्य का 'नीति-सार'। इसमें केंद्रीय शासन के और शहर और गांव के जीवन के संगठन का वर्णन मिलता है; साथ ही राजा की परिषद् और वहुत-से सरकारी महकमों के भी वयान हैं। गांव की पंचायत, या चुनी हुई परिषद् के न्याय और व्यवस्था दोनों के संबंध में वड़े अधिकार थे और इसके सदस्यों को राजा के अधिकारी वहुत ही आदर की दृष्टि से देखते थे। यही पंचायत जमीन का बंटवारा करती थी और पैदावार का एक अंश कर के रूप में उगाहती थी और गांव की ओर से सरकार का अंश अदा किया करती थी।

कुछ पुराने शिलालेख हमें यह भी बताते हैं कि गांव-पंचायतों के सदस्य किस तरह चुने जाते थे और उनमें क्या बातें गुण और दोष की समझी जाती थीं। अलग-अलग समितियां बनाई जाती थीं, जिनके लिए वार्षिक चुनाव होते थे और जिनमें स्त्रियां भाग ले सकती थीं। अच्छा आचरण न करने पर कोई भी सदस्य अपने पद से हटाया जा सकता था। सार्वजनिक रुपए-पैसे का ठीक-ठीक हिसाब न दे सकने पर कोई भी सदस्य अयोग्य ठहराया जा सकता था और अलग किया जा सकता था। पक्षपात रोकने के लिए बनाये गए एक दिलचस्प नियम का वर्णन मिलता है--सार्वजनिक पदों पर इन सदस्यों के निकट संबंधियों की नियुक्ति नहीं हो सकती थी।

इन गांव-पंचायतों को अपनी स्वतंत्रता का बड़ा ध्यान रहता था और यह नियम बना हुआ था कि जबतक राजाज्ञा न मिली हो, कोई भी सिपाही गांव में प्रवेश नहीं पा सकता था। अगर किसी पदाधिकारी की शिकायत लोग करें, तो 'नीति-सार' का कहना है कि राजा को "अपने पदाधिकारियों का पक्ष न करके अपनी प्रजा का पक्ष लेना चाहिए।" यदि बहुत लोग शिकायत करें तो पदाधिकारी को पदच्युत कर देना चाहिए 'क्योंकि पद के मद से कौन उन्मत्त नहीं हो जाता ?" राजा का जनता के बहुमत के अनुसार काम करने का कर्तव्य बताया गया है। 'लोकमत राजा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है; जिस तरह कि बहुत-से तारों की बटी हुई रस्सी शेर को भी खींच लाती है।" "पदाधिकारियों की नियुक्ति करते समय चरित्र और योग्यता का ध्यान रखना चाहिए—जात या घराने का नहीं" और "न वर्ण से और न पुरखों द्वारा ब्राह्मणत्व का भाव उत्पन्न किया जा सकता है।"

बड़े कस्बों में बहुत-से कारीगर और व्यापारी बसते थे और उनके संघ या समितियां और महाजनों के संगठन हुआ करते थे। इनमें से हर एक अपने घरेलू मामलों के नियंत्रण में स्वतंत्र था।

विदेशियों की विजय के साथ-साथ देश में लड़ाइयां और तबाहियां आईं, विद्रोह हुए और उनका दमन हुआ, और नये हाकिमों ने अपने हथियारों के जोर पर भरोसा किया। देश के रूढ़िगत कानून की बंदिशों

को ये हाकिम अक्सर तोड़ सकते थे। इसके गंभीर परिणाम हुए और स्वतंत्र गांवों की आजादी में कमी आई और बाद में मालगुजारी की वसूलयाबी के तरीकों में बहुत-से परिवर्तन हुए। फिर भी अफगान और मुगल हाकिमों ने इस बात का विशष ध्यान रखा कि पुराने रीति-रिवाजों में दखल न दिया जाय और कोई बुनियादी अदल-बदल न किये जायं, और हिंदुस्तानी जीवन का समाजी और आर्थिक ढांचा पहले जैसा बना रहा। गयासुद्दीन तुगलक ने अपने हुक्कामों को इस बात की खास हिदायतें दे रखी थीं कि रूढ़िगत कानून की रक्षा होनी चाहिए और रियासती मामलों को धर्म से, जो जाती पसंद की चीज है, अलग रखना चाहिए। लेकिन काल के चक्र और लड़ाइयों के कारण, और इस वजह से कि सरकार में केंद्रीयता बढ़ती जा रही थी, रिवाजी कानून का बल कम होता गया। फिर भी गांवों की स्वतंत्रता बनी रही। इसका टूटना अंग्रेजी हुकूमत में जाकर आरंभ हुआ।

८ : वर्ण-व्यवस्था : संयुक्त कुटुंब

हैवेल का कहना है कि "हिंदुस्तान में धर्म हठवाद की हैसियत नहीं रखता, बल्कि आत्मिक उन्नति और जीवन की विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखते हुए मानवी आचार का एक चालू सिद्धांत है।" प्राचीन काल में, जबकि भारतीय आर्य-संस्कृति की रूप-रेखा बन रही थी उस समय धर्म को ऐसे लोगों की आवश्यकता का ध्यान रखना पड़ा, जो बौद्धिक और आत्मिक विकास की दृष्टि से इतने विभिन्न थे, जितने हो सकते हैं। एक तो वनों में रहनेवाले आदिम लोग थे, फिर जादू-टोने और आत्माओं में विश्वास करनेवाले और प्रतीक-पूजक लोग थे और सभी तरह के अंध-विश्वासी आदमी थे, दूसरे ऐसे लोग भी थे जो आध्यात्मिक विचार की सबसे ऊंची सीढ़ियों तक पहुंच चुके थे। इन दोनों छोरों के बीच विश्वास और आचार के अनेक स्तर थे। कुछ लोग तो ऊंचे-से-ऊंचे विचारों में लगे हुए थे लेकिन ऐसे विचार अधिकतर लोगों की पहुंच से बाहर थे। ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन ने उन्नति की, विश्वासों में कुछ समानताएं भी पैदा हुईं, फिर भी संस्कृति और व्यक्तिगत

प्रकृति के भेदों के कारण वहुत-से भेद शेष रह गए। भारतीय आर्य दृष्टिकोण तो यह था कि किसी भी विश्वास को बलपूर्वक न दबाया जाय और किसी दावे को रद्द न किया जाय। हरएक वर्ग को स्वतंत्रता थी कि वह अपने आदर्शों की, अपनी-अपनी समझ और बौद्धिक स्तर के अनुसार, पूर्त्ति करने में लगे। समन्वय के यत्न होते थे, लेकिन किसी विश्वास का विरोध नहीं किया जाता था, न उसे दबाया जाता था।

वर्ण-व्यवस्था, सेवाओं और धंधों के बुनियाद पर बनी हुई, एक वर्ग-व्यवस्था थी। समान नियम लागू किये विना, और हरएक वर्ग को पूरी स्वतंत्रता देते हुए, इसका उद्देश्य सभी वर्गों को एक व्यवस्था के अंदर ले आना था। इसके विस्तृत दायरे के भीतर एक पत्नी रखने, एक से अधिक पत्नी रखने और ब्रह्मचर्य की—सभी प्रथाएं थीं; जिस तरह और रीति-रिवाजों, विश्वासों और आचारों के साथ सहिष्णुता वरती जाती थी, उसी तरह इन सबसे भी रवादारी वरती जाती थी। हरएक स्तर पर जीवन को वनाये रखा गया था। किसी भी अल्प-संख्यक दल को वहु-संख्यक दल की अधीनता स्वीकार करने की आवश्यकता न थी। शर्त यही थी कि लोग इतने काफी हो जायं कि उनका एक विशिष्ट वर्ग कहला सके और वह वर्ग की हैसियत से बना रह सके। दो वर्गों के बीच जाति, धर्म, रंग, संस्कृति और मानसिक विकास के अपार भेद हो सकते थे।

व्यक्ति का विचार एक वर्ग के सदस्य के रूप में ही किया जाता था; अगर वह वर्ग के अस्तित्व में वाधक नहीं है, तो जो चाहे वह करने के लिए स्वतंत्र था। उसे अपने वर्ग के धंधे में वाधा डालने का कोई अधिकार नहीं था। हां, अगर वह इतना शक्तिशाली हो, और इतने साथी इकट्ठा कर सके, कि उसका एक अलग वर्ग वन सके, तो वह एक नया वर्ग खुशी से स्थापित कर सकता था। अगर वह किसी वर्ग में बैठ नहीं सकता, तो इसके यह अर्थ होते कि जहांतक दुनिया के सामाजिक व्यवहार हैं, वह उनके योग्य नहीं। ऐसी हालत में वह संन्यासी हो सकता था, और वर्ण को, हरएक वर्ग को और कार्य-क्षेत्र को छोड़ सकता था और घूमता-फिरता रहकर जो चाहे कर सकता था।

मुख्य-मुख्य वर्ण कौन थे ? अगर हम क्षण भर के लिए उन लोगों को छोड़ दें, जिन्हें वर्ण से बाहर समझा जाता था, अर्थात् अछूतों को, तो फिर ब्राह्मण थे, जो पुरोहित, गुरु और विचारक होते थे; क्षत्रिय, जो शासक और युद्ध करनेवाले लोग थे; वैश्य, सौदागरी, तिजारत, महाजनी आदि करते थे; और शूद्र थे, जो किसानी और दूसरे काम किया करते थे। इन सबमें शायद एक ही वर्ण खूब संगठित और अलग-थलग रहनेवाला था, अर्थात् ब्राह्मणों का। क्षत्रिय अपने वर्ग को, विदेशों से आनेवाले लोगों और देश में शक्ति और पद हासिल कर लेने-वाले लोगों, दोनों के व्यक्तियों को लेकर अपनी संख्या बढ़ाते रहते थे। वैश्य लोग विशेषकर व्यापार और महाजनी करते थे और कुछ और पेशों में भी थे। खेती-बाड़ी और घरेलू नौकरी-चाकरी शूद्रों के मुख्य धंधे थे। ज्यों-ज्यों नये धंधे निकलते थे या दूसरे कारणों से, नई जातों के बनने का सिलसिला बराबर जारी रहता था, और पुरानी जातों का दर्जा समाज के भीतर उन्नति करता जाता था। यह सिलसिला हमारे समय तक चला आया है। कभी-कभी नीची जातवाले जनेऊ पहनने लग जाते हैं, जो केवल ऊंची जातवालों के लिए ही बना समझा जाता है। इन सब बातों से विशेष अंतर उत्पन्न न होता, क्योंकि जात का एक दायरा निश्चित था,और हर जात का धंधा या पेशा अलग होता। यह केवल मान का प्रश्न हुआ करता। कभी-कभी नीचे वर्गों के लोग अपनी योग्यता के कारण राज्य में ऊंचे ओहदों तक उन्नति करके पहुंच जाते थे, लेकिन ऐसा होता बहुत कम था।

दलित जाति के, और अछूत लोग कौन होते थे ? 'दलित जाति' एक नया नामकरण है और एक अस्पष्ट ढंग से समाज के बिल्कुल नीचे के तल की कुछ जातों पर लागू होता है। इनके और औरों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है। उत्तरी हिंदुस्तान में, बहुत थोड़े से लोग, जो भंगी या मेहतर का काम करते हैं, अछूत समझे जाते हैं। दक्खिन हिंदुस्तान में इनकी गिनती कहीं बड़ी है। इनका आरंभ कैसे हुआ और गिनती में ये इतने बढ़ कैसे गए, यह बता सकना बड़ा कठिन है। शायद वे लोग जो गंदे समझे जानेवाले पेशों में लगे थे, पहले ऐसे

समझे जाते थे और बाद में उनके साथ ऐसे किसानी करनेवाले मजदूर जुड़ गए, जिनकी अपनी जमीन न थी।

हिंदुओं में आचार की शुद्धता का बेहद कड़ा विचार रहा है। इसका एक अच्छा परिणाम रहा और बहुत-से बुरे परिणाम भी हुए। अच्छा परिणाम तो शरीर की स्वच्छता थी। नित्य का स्नान हिंदुओं के जीवन का एक मुख्य अंग रहा है, इसमें अधिकतर दलित-वर्ग भी शरीक हैं। सफाई का यह विचार वैज्ञानिक न समझना चाहिए, क्योंकि वही व्यक्ति जो दिन में दो बार स्नान करेगा, बिना संकोच के ऐसा पानी पी लेगा जो साफ नहीं है और जिसमें कीटाणु भरे पड़े हैं। यह भी देखने में आयगा कि सफाई का खुद कोई विचार नहीं पैदा होता, बल्कि इसलिए उसका खयाल किया जाता है कि इसे धर्म की आज्ञा का रूप दिया गया है। जहां यह धर्म की आज्ञा के रूप में नहीं, वहां सफाई का दर्जा स्पष्टतया गिरा हुआ होता है।

आचार-विचार-संबंधी शुद्धता का बुरा परिणाम यह हुआ कि अलग रहने की प्रवृत्ति और छूआ-छात ने उन्नति की, और गैर-बिरादरी-वालों के साथ बैठकर खाना-पीना मना किया गया। और यह बात इतनी बढ़ी, कि दुनिया-भर में ऐसी मिसाल और कहीं नहीं मिलती। इसका नतीजा यह भी हुआ कि कुछ खास जातवाले इसलिए अछूत समझे जाने लगे कि उन्हें ऐसे आवश्यक धंधों में लगना पड़ता था जो गंदे समझे जाते हैं। आमतौर पर अपने ही जातवालों के साथ खाने का रिवाज सभी जातों में फैला। यह रिवाज ऊंची जातवालों के यहां से उठ रहा है। लेकिन नीची जातवालों में, जिनमें दलित जातियां भी हैं, यह अब भी जारी है।

जब आपस में खाने-पीने की इतनी मनाही रही, तो विभिन्न जात-वालों के बीच शादी-ब्याह के बारे में तो कहना ही क्या है ? कुछ मिली-जुली शादियों का होना तो अनिवार्य था, लेकिन कुल मिलाकर, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि हरएक जात ने अपनी हद के अंदर शादी-ब्याह बनाये रक्खा। नीचे के स्तर के कुछ वर्गों के बारे में, कभी-कभी कहा जाता है, कि यह जात से बाहर के हैं। वास्तव में कोई भी वर्ग, यहां-

तक कि अछूत लोग भी वर्ण-व्यवस्था के चौखटे के बाहर नहीं है। दलित वर्ग और अछूत लोगों की अपनी अलग जातें हैं, उनकी पंचायतें अलग हैं, जो उनकी विरादरी के लोगों की हैं और उनके आपस के मामलों को तै करती रहती हैं। लेकिन इनमें से वहुतों को गांव के आम जीवन से बाहर करके बेरहमी से सताया गया है।

इस तरह पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन की दो मुख्य बातें थीं—एक स्वतंत्र गांवों का होना और दूसरी वर्ण-व्यवस्था। तीसरी बात थी संयुक्त कुटुंब की प्रथा, जिसके सभी लोग आम जायदाद के मिले-जुले हिस्सेदार होते थे, और जो वच रहते थे, वे सभी विरासत के मालिक होते थे। वाप या कोई और वड़ा कुटुंब का कर्ता हुआ करता था, लेकिन उसका काम प्रवंध-कर्ता का होता था। प्राचीन रोम में 'पेटर फेमिलियास' की जो हैसियत होती थी वह उसकी न थी। किन्हीं हालतों में, अगर फरीक चाहें, तो जायदाद का बंटवारा हो सकता था। इस मिली-जुली जायदाद में कुटुंब के सभी लोगों का हिस्सा समझा जाता था—चाहे वे कमाते हों, चाहे न कमाते हों। अनिवार्य रूप से इसके यह अर्थ होते कि सभीको थोड़ा-थोड़ा निश्चित रूप से मिल जाता और कुछको बहुत अधिक हिस्सा मिले ऐसा न होता था। यह एक प्रकार का बीमा था, जिससे वे लोग भी लाभ उठा लेते थे कि जो शरीर से अपंग होते या जिनके मस्तिष्क ठीक न होते। इस तरह, जहां एक तरफ सबके गुजर-बसर का प्रबंध हो जाता था, वहां चूंकि काम करने की पाबंदी न थी, इसलिए काम भी ढीले तरीके पर होता और उसका लाभ भी थोड़ा ही हो पाता। वैयक्तिक लाभ या उत्साह पर वल न दिया जाता, बल्कि इस बात पर कि वर्ग और कुटुंब का क्या लाभ है। एक बड़े कुटुंब में पलने और रहने का बच्चे पर यह प्रभाव होता कि अपने को बड़ा समझने का विचार नरम पड़ जाता और उसमें सामाजिक सहानुभूति की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती।

लोकतंत्री परिपाटी से लोग अच्छी तरह परिचित ही न थे, बल्कि उसे सामाजिक जीवन में, स्थानीय शासन में, व्यापार-संघों में, धार्मिक-समुदायों आदि में आमतौर पर बरतते थे। वर्ण-व्यवस्था की और जो

भी बुराइयां हों, उसने हरएक वर्ग के भीतर यह लोकतंत्री ढंग बनाये रखा। कार्य-संचालन, चुनाव और बहस के लंबे नियम होते थे। आरंभ की बौद्ध-सभाओं के बारे में लिखते हुए मार्क्विस ऑफ जेटलैंड ने कहा है—"बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिंदुस्तान में, दो हजार या इससे भी ज्यादा वर्ष पहले, बौद्धों की सभाओं में हमारी अपनी आजकल की पार्लमेंट की कार्यशैली मिलती है। सभा के गौरव का निर्वाह करने के लिए एक विशिष्ट पदाधिकारी नियुक्त किया जाता था—यह हाउस ऑफ कामंस के 'मिस्टर स्पीकर' का पूर्व-रूप था। एक और पदाधिकारी इसलिए नियुक्त होता था कि जब जरूरत हो एक निश्चित 'कोरम' का प्रबंध करे—यह हमारी व्यवस्था के 'पार्लमेंटरी चीफ ह्विप' के बराबर का पदाधिकारी होता था। सदस्य लोग कोई भी विषय प्रस्तुत करने के लिए प्रस्ताव ले आते थे, फिर इसपर विवाद होता था। कुछ स्थितियों में एक ही बार विवाद का होना पर्याप्त होता था, दूसरी स्थितियों में इसका तीन बार होना अनिवार्य होता; यह पार्लमेंट के इस दस्तूर की पेशबंदी थी कि किसी भी बिल को कानून के रूप में आने से पहले उसे पार्लमेंट के सामने तीन बार पेश किया जाना चाहिए। अगर विचारणीय विषय पर मतभेद होता तो उसे बहुमत से तै किया जाता और 'बैलट' या गुप्त चिट्ठी के द्वारा मत गणना होती।"

इस तरह हिंदुस्तान के पुराने सामाजिक ढांचे में कुछ गुण थे; और वास्तव में ये गुण न रहे होते तो वह इतने दिनों तक कायम न रह पाता। इसके पीछे हिंदुस्तानी संस्कृति का दार्शनिक आदर्श था—इनसानी एकता का; और इनमें धन-दौलत हासिल करने पर नहीं बल्कि भलाई, सौंदर्य और सचाई पर जोर दिया गया था।

९ : बाबर और अकबर

अब फिर पीछे वापस चलिए। अफगान लोग हिंदुस्तान में बस गए थे और हिंदुस्तानी बन गए थे। उनके हाकिमों के सामने पहले यह प्रश्न था कि लोगों के विरोध को किस तरह कम किया जाय, फिर उनको अपने पक्ष में कैसे किया जाय। इसलिए उनकी निश्चित नीति यह रही

कि अपने आरंभ के निर्दय ढंग को नरम किया जाय, और उन्होंने वाहरी विजेताओं की हैसियत से नहीं, वल्कि हिंदुस्तान में जन्मे और पले हुए लोगों की हैसियत से शासन करने का प्रयत्न किया। जो वात आरंभ में नीति के ढंग पर वरती गई, वह, ज्यों-ज्यों इन पच्छिमोत्तरी लोगों पर हिंदुस्तान के वातावरण का प्रभाव पड़ा और उसने इन्हें अपने में समाविष्ट किया, त्यों-त्यों एक अनिवार्य प्रवृत्ति वनती गई। ऊपर से तो यह सिलसिला चलता ही रहा, जनता में भी अपने-आप ऐसे प्रवल सोते फूट निकले, जिनका उद्देश्य विचारों और रहन-सहन के ढंग में एक समन्वय पैदा करना था। एक मिली-जुली संस्कृति दिखाई देने लग गई और ऐसी नींव पड़ गई, कि जिसपर अकवर ने वाद में इमारत खड़ी की।

अकवर हिंदुस्तान के मुगल-वंश का तीसरा वादशाह था, फिर भी वास्तव में इसीने सल्तनत की वुनियाद पक्की की। उसके वावा वावर ने १५२६ में दिल्ली के तख्त पर अधिकार किया था, लेकिन वह हिंदुस्तान के लिए परदेसी था और वरावर अपने को परदेसी समझता रहा। वह उत्तर से, एक ऐसी जगह से आया था, जहां उसने अपने मध्य-एशियाई देश में तैमूरियों की नई जागृति देखी थी और जहां ईरान की कला और संस्कृति का उसपर गहरा प्रभाव पड़ा था। अपने साथी-संगियों से मिलने की, वहां की सोहवतों की, और जीवन की उन सुविधाओं की जो वगदाद और ईरान से वहां फैली थीं उसे वरावर चाह वनी रही। उन उत्तरी पर्वत-प्रदेशों के वर्फिस्तान की और फरगना के अच्छे गोश्त और फल-फूलों की उसे गहरी चाह होती थी। जो कुछ उसने यहां देखा उससे चाहे जैसी निराशा उसे हुई हो, वह कहता है कि हिंदुस्तान एक वहुत ही अच्छा देश है। हिंदुस्तान में आने के चार साल वाद वावर मर गया और उसका वहुत-सा समय युद्ध में और आगरा की राजधानी को सजाने में वीता।

वावर का व्यक्तित्व आकर्षक है, वह नई जागृति का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करनेवाला शहजादा है, जो साहसी और वहादुर है, और कला, साहित्य और रहन-सहन का प्रेमी है। उसके पोते अकवर में और भी आकर्षण है और गुणों में भी वह उससे कहीं वढ़कर है।

योग्य सेनापति की हैसियत से वह साहसी और दिलेर है फिर भी उसमें बड़ी दया और कोमलता भी है; वह आदर्शवादी और सपनों को देखने-वाला है, फिर भी वह कार्य-क्षेत्र का आदमी है; लोगों का ऐसा नेता है कि अपने अनुयायियों में गहरी स्वामिभक्ति उकसा सके। योद्धा की हैसियत से उसने हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों पर विजय प्राप्त की, लेकिन उसकी निगाहें एक दूसरी ही तरह की विजय पर लगी हुई थीं, वह लोगों के दिलों और दिमागों पर फतह हासिल करना चाहता था। उसकी इन मजबूर कर देनेवाली आंखों में, जैसाकि उसके दरबार के एक पुर्तगाली जेजुइट ने हमें बताया है 'धूप में दमकते हुए समुंदर' की-सी झलक थी। अखंड हिंदुस्तान के पुराने स्वप्न ने उसमें नया रूप ग्रहण किया और यह एकता केवल राजनैतिक एकता न थी, बल्कि ऐसी थी कि सब लोगों को एक चेतना में ढालने वाली थी। सन् १५५६ से लेकर अपने राज्य-काल के लगभग पचास साल तक उसने बराबर यही कोशिश की। बहुत-से राजपूत सरदारों को, जो किसी तरह दूसरे के काबू में आनेवाले न थे, उसने अपनी तरफ मिला लिया। उसने एक राजपूत राजकुमारी से ब्याह किया और इस तरह उसका बेटा जहांगीर आधा मुगल और आधा राजपूत हिंदू था। जहांगीर का बेटा शाहजहां भी एक राजपूत माता की कोख से पैदा हुआ था। इस तरह यह तुर्क-मंगोल वंश तुर्क या मंगोल होने की बनिस्बत कहीं ज्यादा हिंदुस्तानी था। अकबर राजपूतों का बड़ा प्रशंसक था और उनसे अपना संबंध मानता था और अपनी ब्याह-संबंधी और दूसरी नीति से उसने राजपूत राजाओं से मित्रता बना ली थी; उसकी वजह से उसकी सल्तनत में बड़ी पायदारी आई। मुगलों और राजपूतों के इस सहयोग ने, जोकि बाद के राज्य-कालों में भी बना रहा, न केवल शासन और सेना पर प्रभाव डाला, बल्कि कला, संस्कृति और रहन-सहन पर भी। मुगल अमीर क्रमशः और भी अधिक हिंदुस्तानी होते गए और राजपूतों पर ईरानी संस्कृति का प्रभाव पड़ा।

अकबर ने बहुत-से लोगों को अपने पक्ष में कर लिया और बनाये रखा, लेकिन वह राजपूताना में मेवाड़ के राणा प्रताप के गर्व और

अदम्य भाव का दमन करने में सफल न हुआ और राणा प्रताप ने एक ऐसे व्यक्ति से, जिसे वह विदेशी विजेता समझता था, संबंध जोड़ने से जंगल में मारे-मारे फिरना कहीं अच्छा समझा।

अकबर ने अपने गिर्द बहुत-से प्रतिभाशाली लोगों को इकट्ठा कर लिया था, जो उसके आदर्शों के समर्थक थे। इनमें अबुलफ़ज़ल और फ़ैजी नाम के दो प्रसिद्ध भाई थे और बीरबल, राजा मानसिंह, और अब्दुल रहीम खानाखाना थे। उसका दरबार नये-नये धर्मों के लोगों के और उन लोगों के, जिनके पास नये विचार थे या नये आविष्कार थे, मिलने-जुलने की जगह बन गया। उसकी सब तरह के विचारों की रवादारी और उसका सब तरह के विश्वासों और मतों का प्रोत्साहन इस हद तक पहुंचा, कि कुछ ज्यादा कट्टर मुसलमान उससे अप्रसन्न हो गए। उसने एक ऐसे समन्वित धर्म का भी प्रचार करने की कोशिश की, जो सबको मान्य होता। इसीके राज्य में, उत्तर हिंदुस्तान में, हिंदुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक मेल-जोल ने एक लंबा डग आगे बढ़ाया। स्वयं अकबर जितना मुसलमानों में लोकप्रिय था, उतना-ही हिंदुओं में भी थी। मुगल-वंश की स्थापना ऐसी दृढ़ता से हो गई मानो वह हिंदुस्तान का अपना वंश हो।

१० : एक मिली-जुली संस्कृति का विकास

अकबर ने इमारत ऐसी मजबूत खड़ी की थी, कि बावजूद कुछ ढीले उत्तराधिकारियों के, वह एक सौ साल तक और बनी रही। औरंगजेब ने घड़ी को उल्टी चलाने की कोशिश की और इस कोशिश में उसे तोड़ ही दिया। जबतक मुगल बादशाहों ने राष्ट्रीय प्रवृत्ति का साथ दिया और जबतक वे एक मिली-जुली राष्ट्रीयता को तैयार करने और देश के भिन्न तत्वों का समन्वय करने के यत्न में रहे, तबतक उनकी दृढ़ता बनी रही। जब औरंगजब ने इस प्रवृत्ति का विरोध और उसे दबाना आरंभ किया और हिंदुस्तानी शासक की हैसियत से नहीं, बल्कि मुसलमान शासक की हैसियत से राज्य करना चाहा, तब मुगल सल्तनत टूटने लगी। अकबर और कुछ हद तक उसके उत्तरा-

धिकारियों के काम पर पानी फिर गया और वह बहुत-सी शक्तियां, जिन्हें अकबर की नीति ने वश में कर रखा था, फिर स्वतंत्र हो गईं और उन्होंने सल्तनत को चुनौती दी। नये आंदोलन उठ खड़े हुए, जिनके दृष्टिकोण संकुचित अवश्य थे, लेकिन जो उभरती हुई राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करते थे; और यद्यपि वे इतने शक्तिशाली नहीं थे कि स्थिर शासन स्थापित कर सकें, फिर भी ऐसे अवश्य थे कि मुगल सल्तनत को तोड़-फोड़ दें।

पच्छिमोत्तर से आनेवाले आक्रमणकारियों और इस्लाम ने हिंदुस्तान को काफी जोरदार टक्कर दी थी। इसने हिंदू-समाज में पैठी हुई बुराइयों को खोलकर दिखा दिया था, अर्थात् जात-पांत की सड़ांध को, अछूतपने को, और अलग-थलग रहने के रवैये को एक बेतुकी हद तक पहुंचा देने को। इस्लाम के भ्रातृभाव के इस धर्म के माननेवालों की उसूली, बराबरी के खयाल ने उन लोगों पर प्रबल प्रभाव विशेषरूप से डाला, जिन्हें हिंदू-समाज के भीतर बराबरी का दर्जा देने से इनकार किया गया था। विचारों के इस संघर्ष से बहुत-से नये आंदोलन उठे, जिनका उद्देश्य एक धार्मिक समन्वय स्थापित करना था।

उस जमाने में, धर्म बदलकर, इस्लाम स्वीकार कर लेने पर, कदाचित् कोई खास विरोध नहीं होता था—ये लोग चाहे इक्का-दुक्का हों चाहे गिरोह-के-गिरोह—सिवाय इसके कि जब किसी तरह बल का प्रयोग होता हो। इस धर्म-परिवर्तन को मित्र और संबंधी भले ही न पसंद करें, लेकिन हिंदू, यों इसे महत्त्व न देते थे।

कश्मीर में मुसलमान बनाने का एक लंबा सिलसिला रहा है, जिससे वहां की ९५ फीसदी आबादी आज मुस्लिम है, यद्यपि इसने अपने बहुत-से पुराने हिंदू रिवाजों को बनाये रखा है। उन्नीसवीं सदी के बीच में, इस रियासत के हिंदू शासक ने यह पाया कि इनमें से बहुत अधिक संख्या में लोग एक साथ हिंदू धर्म में वापस आने के लिए राजी या इच्छुक हैं। उसने बनारस के पंडितों के पास अपने आदमियों को भेजकर पुछवाया कि ऐसा किया जा सकता है या नहीं?

पंडितों ने इस तरह के मत-परिवर्तन के विरुद्ध व्यवस्था दी और मामला वहींपर समाप्त हो गया।

हिंदुस्तान में वाहर से आनेवाले मुसलमान कोई नया आचार या राजनैतिक और आर्थिक ढांचा अपने साथ नहीं लाये। वावजूद इसके कि इस्लाम सभी धर्म के लोगों को भाई मानता है, उनमें गिरोह-बंदियां थीं और उनका दृष्टिकोण सामंतवादी था। कारीगर और उद्योग-धंधों के संगठन की दृष्टि से, उस समय हिंदुस्तान में जो हालत थी, उससे वे पिछड़े हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान के सामाजिक संगठन और आर्थिक जीवन पर वहुत कम प्रभाव पड़ा। यह जीवन अपनी पुरानी गति से चलता रहा और सभी लोग, वे चाहे हिंदू हों, चाहे मुसलमान, इसके भीतर अपनी-अपनी जगह पर जम गए थे।

स्त्रियों के पद में ह्रास हुआ। पुराने कानूनों में भी उत्तराधिकार के मामले में, और घर में उनके दर्जे के बारे में, न्याय नहीं बरता गया था—फिर भी उन्नीसवीं सदी के इंग्लिस्तान के कानून की अपेक्षा इन पुराने कानूनों में स्त्रियों का अधिक ध्यान रखा गया था। ये उत्तराधिकार-संवंधी कानून, हिंदुओं की संयुक्त कुटुंव-प्रथा का ध्यान रखकर वनाये गए थे और संयुक्त जायदाद दूसरे कुटुंव में न चली जाय, इसका प्रतिकार करते थे। विवाह के वाद स्त्री दूसरे कुटुंव की हो जाती थी। आर्थिक दृष्टि से वह अपने वाप या पति या बेटे की आश्रित समझी जाती थी, लेकिन उसकी अपनी जायदाद हो सकती थी और होती थी। वहुत तरह से उसकी आदर-प्रतिष्ठा होती थी और उसे सामाजिक और सांस्कृतिक कामों में हिस्सा लेने की पर्याप्त स्वतंत्रता थी। हिंदुस्तानी इतिहास में प्रसिद्ध स्त्रियों के नाम भरे पड़े हैं, जिनमें विचारक और दार्शनिक भी हैं और शासक और योद्धा भी। यह स्वतंत्रता वरावर कम होती रही। उत्तराधिकार के बारे में मुस्लिम कानून स्त्रियों के पक्ष में अधिक न्यायपूर्ण था, लेकिन वह हिंदू स्त्रियों पर लागू न होता था।

कुछ तो यों कि हिंदुस्तान के अधिकतर मुसलमान हिंदू-धर्म से मत-परिवर्तन किये हुए लोग थे, और कुछ इसलिए कि हिंदू-मुसलमानों

का यहां लंबे जमाने तक, विशेषकर उत्तरी हिंदुस्तान में, साथ रहा; दोनों के बीच बहुत-सी आम बातें, आदतें, रहन-सहन के ढंग और रुचियां पैदा हो गईं थीं, जो संगीत, चित्रकारी, इमारतों, खान-पान कपड़े और एक-सी परंपरा में दिखाईं देती हैं। वे मिल-जुलकर शांति के साथ एक कौम के लोगों की तरह रहा करते थे, एक-दूसरे के जल्से और त्यौहारों में शरीक होते थे, एक बोली बोलते थे, और बहुत-कुछ एक-ही ढंग से रहते थे और जिन आर्थिक समस्याओं का उन्हें सामना करना पड़ता, वे भी एक-सी थीं। अमीर लोग और वह लोग जिनके पास जमीनें थीं, और उनके पिछ-लग्गू, दरबार का रुख देखते थे। इनकी एक पेचीदा और आडंबरवाली और रंगी-चुनी आम संस्कृति अलग तैयार हो गई। ये एक से कपड़े पहनते, एक-सा खाना खाते, एक-सी कलाओं में दिलचस्पी लेते थे।

गांव के सीमित घेरे के अंदर हिंदुओं और मुसलमानों के गहरे संबंध होते थे। वर्ण-व्यवस्था यहां कोई रुकावट नहीं डालती थी, और हिंदुओं ने मुसलमानों की भी एक जात मान ली थी। अधिकतर मुसलमान ऐसे थे जिन्होंने अपना पुराना धर्म बदल लिया था, पर पुरानी परंपरा को अब भी भूले न थे। वे हिंदू विचारों, कथाओं और और पुराणों की कहानियों से परिचित होते थे, ये एक तरह का काम करते, एक-सी जिंदगी बिताते, एक-से कपड़े पहनते और एक ही बोली बोलते थे। ये एक-दूसरे के त्यौहारों में शरीक होते और कुछ अर्ध-धार्मिक त्यौहार ऐसे भी होते जो दोनों के लिए एक-से थे। इनके लोक-गीत एक ही थे। इनमें से अधिकतर किसान, दस्तकारी करनेवाले या देहाती धंधे करनेवाले लोग होते थे।

मुग़लों के जमाने में बहुत-से हिंदुओं ने दरबार की भाषा फ़ारसी में किताबें लिखीं। इनमें से कुछ अपने ढंग की किताबों में चोटी की रचनाएं मानी जाती हैं। साथ-ही-साथ मुसलिम आलिमों ने संस्कृत से पुस्तकों के फारसी में तर्जुमे किये और हिंदी में भी किताबें लिखीं। हिंदी के सबसे प्रसिद्ध कवियों में दो हैं, मलिक मुहम्मद जायसी, जिसने 'पद्मावत' लिखी, और अब्दुल रहीम खानखाना, जो

अकबरी दरबार के अमीरों में था और जिसपर अकबर के बेटे की देख-रेख की जिम्मेदारी थी। खानखाना अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान् था और उसकी हिंदी कविता ऊंचे दर्जे की है। कुछ काल तक वह शाही फौज का सिपहसालार भी था। फिर भी उसने मेवाड़ के राणा प्रताप की प्रशंसा की है, जो बराबर अकबर से लड़ता रहा और जिसने अकबर के आगे हथियार न डाले।

अकबर को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान के विभिन्न लोगों के बीच उसने एकता की भावना पैदा कर दी। एक विदेशी शासक-वर्ग का अस्तित्व इसमें रुकावट डालता था, फिर धर्म और जात-पांत की रुकावटें थीं। ये रुकावटें दूर नहीं हुईं, लेकिन उनके बावजूद एकता की भावना ने उन्नति की। लोगों का यह आकर्षण उसके व्यक्तित्व के लिए न था, बल्कि जिस ढांचे का उसने निर्माण किया था, उसके लिए था। उसके बेटे और पोते, जहांगीर और शाहजहां ने उस ढांचे को स्वीकार किया और उसकी हदों के भीतर काम करते रहे। इनके बाद औरंगजेब आया, जो इनसे कहीं अधिक योग्य था, लेकिन जो दूसरे-ही ढांचे का आदमी था। वह इस बने हुए रास्ते से हटकर चला, और इस तरह उसने अकबर के काम पर पानी फेर दिया।

११ : औरंगजेब समय की प्रगति का विरोध करता है : हिंदू राष्ट्रीयता की उन्नति : शिवाजी

इस बीच इंग्लिस्तान की समुद्री शक्ति बढ़ और फैल रही थी। यूरोपीयनों में केवल पुर्तगालियों को अकबर ने देखा था। उसके बेटे जहांगीर के समय में अंग्रेजी जहाजी बेड़े ने हिंदसागर में पुर्तगालियों को हराया और जेम्स प्रथम का राजदूत सर टामस रो, १६१५ में जहांगीर के दरबार में उपस्थित हुआ। उसे कोठियां स्थापित करने की आज्ञा मिल गई। सूरत में कोठी आरंभ की गई और १६३९ में मद्रास की नींव पड़ी। सौ साल से अधिक समय तक हिंदुस्तान में किसीने

अंग्रेजों को कोई महत्व न दिया। समुद्री रास्तों के मालिक अव अंग्रेज वन बैठे थे और उन्होंने पुर्तगालियों को लगभग हटा दिया था; इस घटना का मुग़ल वादशाहों या उनके सलाहकारों के लिए कोई महत्व न था। औरंगजेब के समय में जब मुग़ल साम्राज्य स्पष्ट रूप से निर्बल पड़ रहा था, उस समय अंग्रेजों ने लड़कर अपना अधिकार बढ़ाने का एक संगठित प्रयत्न किया। यह १६८५ की घटना है। औरंगजेब यद्यपि निर्बल हो रहा था और बैरियों से घिरा था, तथापि वह अंग्रेजों को हटाने में सफल हुआ। इस समय से पूर्व ही फ्रांसीसी भी हिंदुस्तान में पैर जमाने की जगह पा चुके थे। ठीक उस समय, जबकि हिंदुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक हालत विगड़ रही थी, यूरोप की वाढ़ लेती हुई शक्तियां हिंदुस्तान और पूरवी देशों में फैल रही थीं।

यह वह समय था, जबकि एक घरेलू युद्ध के वाद, अपन वाप शाहजहां को कैद करके, औरंगजेब मुग़लों के तख्त पर बैठा। अकबर ही एक ऐसा व्यक्ति था जो इस परिस्थिति का अंदाजा लगा सकता था और उन नई शक्तियों को, जो उठ रही थीं, वश में ला सकता था। शायद वह भी इस सल्तनत के विनाश को थोड़े समय के लिए ही रोक सकता था, उसे वचा न सकता था। औरंगजेब अपने जमाने को भी अच्छी तरह समझ न पाया, वह उल्टी चाल चलनेवाला आदमी था और अपनी सारी योग्यता और उत्साह के वावजूद, उसने अपने पूर्वजों के काम को मिटाने की कोशिश की। वह धर्मांध और नीरस व्यक्ति था और उसे कला या साहित्य से कोई प्रेम न था। हिंदुओं पर पुराना और घृणित 'जजिया' कर लगाकर और उनके वहुत-से मंदिरों को तुड़वाकर उसने अपनी वहुत वड़ी प्रजा को वुरी तरह नाराज कर दिया। उसने गर्वीले राजपूतों को भी, जो मुग़ल-सल्तनत के खंवे थे, अप्रसन्न कर दिया। उत्तर में सिख उठ खड़े हुए, जो हिंदू और मुसलमानी विचारों के एक प्रकार के समन्वय की नुमाइंदगी करनेवाले लोग थे, लेकिन जिन्होंने दमन से वचने के लिए एक फौजी विरादरी वना ली थी। हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र-तट के निकट के योद्धा मराठों को भी उसने नाराज कर दिया, जो प्राचीन राष्ट्र-

कूटों के वंशज थे, और जिनके यहां उस समय एक प्रतिभाशाली सेनानायक पैदा हो चुका था।

यह सही है कि ऐसे जमाने में, जबकि एक बड़ी सल्तनत टूट रही हो और बहुत से हिंदुस्तानी और विदेशी दुस्साहसी अपने-अपने लिए छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लेने के प्रयत्न में हों, आजकल के अर्थ में, राष्ट्रीयता का अस्तित्व मुश्किल से हो सकता था। हरएक दुस्साहसी अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता था; हरएक गिरोह अपनी-अपनी चिंता में था। जो इतिहास इस समय हमारे सामने आता है, उसमें केवल इन दुस्साहसियों का वर्णन है, और वह इन दुस्साहसियों के कारनामों को जितना आगे लाता है, उतना उन महत्त्ववाली घटनाओं को नहीं, जो सतह के नीचे-नीचे घट रही थीं। फिर भी हमें इस बात की झलक मिल जाती है कि यद्यपि बहुत से दुस्साहसी इस समय मैदान में थे, सब लुटेरे ही न थे। विशेषकर मराठों की एक अधिक विस्तृत कल्पना थी और ज्यों-ज्यों उनकी शक्ति बढ़ी, इस कल्पना ने भी विस्तार पाया। मराठे अपनी राजनैतिक और सैनिक व्यवस्था और व्यवहार में उदार थे और उनके भीतर आपस में लोकतंत्र की भावना थी। इन सब बातों से उनमें मजबूती पदा होती थी। शिवाजी औरंगजेब से लड़ा अवश्य, लेकिन उसने मुसलमानों को अपने यहां बराबर नौकरियां भी दीं।

आर्थिक संगठन का टूट जाना भी मुग़ल-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का एक कारण रहा है। किसानों के बलवे बार-बार होते रहते थे और इनमें से कुछ बड़े पैमाने पर हुए थे। अबतक शहजादे और अमीर और उन्हींके दर्जे के आदमी विद्रोह किया करते थे। अब एक दूसरा-ही वर्ग इसका प्रयोग कर रहा था।

उस समय जब सल्तनत में फूट और विद्रोह फैल रहे थे, मराठों की नई शक्ति उन्नति पर थी और अपने को पच्छिमी हिंदुस्तान में दृढ़ कर रही थी। शिवाजी, जिसका जन्म १६२७ में हुआ था, पहाड़ी प्रदेशों के हट्टे-कट्टे छापामार लोगों का एक आदर्श नेता था, और उसके सवार दूर-दूर तक छापा मारने जाते थे—यहांतक कि उन्होंने सूरत शहर को, जहां अंग्रेजों की कोठियां थीं, लूटा और मुग़ल सल्तनत

के दूर के हिस्सों पर 'चौथ' कर लगाया। शिवाजी उभरती हुई हिंदू-राष्ट्रीयता का प्रतीक था और पुराने साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करता था; वह साहसी था और उसमें नेतृत्व के बड़े गुण थे। उसने मराठों को एक सुदृढ़ और सम्मिलित सैनिक दल का रूप दिया, उन्हें एक राष्ट्रीय पृष्ठभूमि दी, और ऐसी शक्ति बना दिया, जिसने मुग़ल सल्तनत को बिगाड़कर छोड़ा। वह १६८० में मरा, लेकिन मराठों की शक्ति बढ़ती गई, यहांतक कि वह हिंदुस्तान की एक महान् शक्ति बन गई।

१२ : अंग्रेज़ और मराठे : शक्ति प्राप्त करने के लिए मराठों और अंग्रेज़ों का युद्ध : अंग्रेज़ों की जीत

औरंगजेब की मृत्यु के बाद के सौ सालों में, हिंदुस्तान पर अधिकार पाने के लिए, कई शक्तियों के दांव-पेंच चलते रहे। मुग़ल सल्तनत तेजी के साथ टूटकर बिखर गई थी और शाही सूबेदार स्वतंत्र बन बैठे थे। दक्खिन में अपनी सैनिक स्थिति के कारण, आरंभ में हैदराबाद के निजाम का एक विशेष महत्त्व जान पड़ता था; लेकिन जल्द ही यह मालूम पड़ गया कि यह महत्त्व बिल्कुल बनावटी है, जोखिम और खतरे से अपने को बचाते हुए, दूसरों की मुसीबतों से लाभ उठाने की और दोरुखेपन की यह विशेष योग्यता थी।

अठारहवीं सदी में, हिंदुस्तान में, अधिकार के चार दावेदार थे: दो इनमें से हिंदुस्तानी थे और दो विदेशी। हिंदुस्तानी थे मराठे, और दक्खिन में हैदरअली और उसका बेटा टीपू सुल्तान, विदेशी थे अंग्रेज और फ्रांसीसी। सदी के पहले आधे हिस्से में ऐसा जान पड़ता था कि इनमें से मराठे सारे हिंदुस्तान पर शासन स्थापित कर लेंगे और मुगल सल्तनत के उत्तराधिकारी बन जायंगे। सन् १७३७ में ही उनकी सेनाएं दिल्ली के फाटकों तक पहुंच गई थीं, और कोई शक्ति इतनी बलशाली न रह गई थी कि उनका सामना कर सके।

ठीक उस समय (१७३९) में एक नई बला आई। पच्छिमोत्तर से ईरान का नादिरशाह दिल्ली पर टूट पड़ा; उसने बड़ी मार-काट

और लूट मचाई और यहां से बेशुमार खजाना और 'तख्ते ताऊस' ले गया। उसके लिए यह धावा कोई कठिन काम न था, क्योंकि दिल्ली के शासक कमजोर और नामर्द हो चुके थे, लड़ाई के आदी न रह गए थे और मराठों से नादिरशाह का सामना न हुआ। एक अर्थ में, उसके धावे ने मराठों का काम सहज कर दिया था, जो बाद के सालों में पंजाब में भी फैल गए। दुबारा ऐसा जान पड़ा कि हिंदुस्तान मराठों के हाथ में चला जायगा।

नादिरशाह के हमले के दो परिणाम हुए। एक तो यह कि दिल्ली के मुग़ल हाकिमों का अधिकार का रहा-सहा दावा भी खत्म हो गया; अब से वे धुंधली परछाईं-जैसे और नाम के हाकिम बन गए, और जिस किसीके हाथ में शक्ति हो, उसकी कठपुतली होते। बहुत हद तक नादिरशाह के आने से पूर्व भी उनकी यह हालत हो चुकी थी; उसने इस सिलसिले को पूरा कर दिया। फिर भी परंपरा और स्थापित रिवाजों का ऐसा जोर होता है कि अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी और दूसरे लोग भी उनके पास प्लासी की लड़ाई से पहले तक भेंट और खिराज भेजते रहे; और उसके बाद भी बहुत दिनों तक कंपनी अपनी हैसियत दिल्ली के बादशाह के मुख्तार की समझती रही और १८३५ तक उसीके नाम में सिक्के ढलते रहे।

नादिरशाह के हमले का दूसरा नतीजा यह हुआ कि अफ़गानिस्तान हिंदुस्तान से अलग हो गया। अफ़गानिस्तान, जो मुद्दतों से हिंदुस्तान का हिस्सा रह चुका था, अब अलग होकर नादिरशाह की सल्तनत का हिस्सा बन गया। कुछ दिनों बाद, एक स्थानीय विद्रोह की वजह से, नादिरशाह को उसीके अफसरों ने कत्ल कर दिया और अफ़गानिस्तान स्वतंत्र राज्य बन गया।

बंगाल में क्लाइव ने जालसाजी और विद्रोह को बढ़ावा देकर और बहुत कम लड़ाई लड़कर, १७५७ में, प्लासी का युद्ध जीत लिया। यह ऐसी तारीख है जिससे अक्सर हिंदुस्तान में अंग्रेजी-साम्राज्य का आरंभ माना जाता है। यह एक अप्रिय आरंभ था और उसका यह कड़ुआ स्वाद कुछ बराबर ही बना रहा। जल्द ही सारा बंगाल

और विहार अंग्रेजों के हाथ में आ गया और उनके शासन के आरंभ के नतीजों में यह भी था कि १७७० में दोनों सूबों में एक भयानक अकाल पड़ा, जिसने इस हरे-भरे और खूब आवाद प्रदेश की तिहाई आवादी साफ कर दी।

दक्खिन में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के वीच जो लड़ाई हो रही थी, वह उन दोनों के वीच होनेवाले लोक-व्यापी युद्ध का अंग थी। इसमें अंग्रेज सफल हुए और फ्रांसीसी लगभग हिंदुस्तान से अलग कर दिये गए।

फ्रांसीसियों के समाप्त हो जाने से अव तीन शक्तियां शेष रहीं, जिनमें हिन्दुस्तान में अधिकार प्राप्त करने के लिए झगड़ा था—अर्थात् मराठों का गुट्ट, दक्खिन में हैदरअली, और अंग्रेज। वावजूद इसक कि प्लासी में उनकी जीत हुई थी और वे बंगाल और विहार में फैल गए थे, हिंदुस्तान में शायद-ही कोई यह खयाल करता रहा हो कि ब्रिटिश यहां की सवसे वड़ी शक्ति वन जायंगे। देखनेवाला अव भी मराठों को पहली जगह देता। यह लोग पच्छिमी और मध्य-हिंदुस्तान में सव जगह——यहांतक कि दिल्ली तक——फैले हुए थे और इनके साहस और युद्ध करने के गुणों की प्रसिद्धि थी। हैदरअली और टीपू सुल्तान प्रवल विरोधी थे, जिन्होंने अंग्रेजों को वुरी तरह हराया और ईस्ट इंडिया कंपनी की शक्ति को प्रायः समाप्त कर दिया। लेकिन ये लोग दक्खिन तक सीमित रहे और सारे हिंदुस्तान में जो कुछ होता था उसपर उनका कोई सीधा असर न था। हैदरअली एक अद्‌भुत आदमी था और हिंदुस्तान के इतिहास का एक उल्लेनीय पुरुष। उसका एक तरह का राष्ट्रीय आदर्श था और उसमें एक कल्पनाशील नेता के गुण थे। वरावर एक कष्टकर बीमारी का शिकार रहते हुए भी उसने आत्म-संयम और मेहनत करने की अद्‌भुत शक्ति दिखाई। औरों की अपेक्षा उसने समुद्री शक्ति के महत्व का और इस शक्ति के आधार पर अंग्रेजों के वढ़ते खतरे का अनुभव कर लिया था। उसने मिल-जुलकर इन्हें देश से निकाल बाहर करने के लिए एक संगठन तैयार करने का भी प्रयत्न किया और इस सिलसिले में मराठों,

निजाम और अवध के शुजाउद्दौला के पास संदेश भेजे। लेकिन इसका फल कुछ न हुआ। उसने अपना समुद्री बेड़ा तैयार करना शुरू किया और मालद्वीप टापुओं पर अधिकार कर लिया और उसे जहाज बनाने और समुद्री कार्रवाइयों का अड्डा बनाया। अपनी सेना के साथ कूच करते हुए वह रास्ते में एक स्थान पर मर गया। उसके बेटे टीपू ने जहाजी बेड़े को सुदृढ़ करने के काम को जारी रक्खा। टीपू ने नैपोलियन और कुस्तुंतुनिया के सुल्तान के पास भी संदेश भेजे।

उत्तर में, रणजीतसिंह की अधीनता में, पंजाब में, एक सिख रियासत तैयार हो रही थी, जो बाद में कश्मीर और पच्छिमोत्तर के सरहदी सूबे तक फैली। लेकिन वह भी एक किनारे की रियासत थी और हिंदुस्तान पर अधिकार पाने के लिए जो लड़ाई हो रही थी, उसपर उसका अधिक प्रभाव न था। ज्यों-ज्यों अठारहवीं सदी समाप्त होने पर आई, यह स्पष्ट हो गया कि लड़ाई केवल दो शक्तियों में है, अर्थात् मराठों और अंग्रेजों में, और सभी राज्य और प्रदेश इन दोनों के मातहत या इनसे जुड़े हुए थे।

मैसूर के टीपू सुल्तान को, अंग्रेजों ने, अंत में १७९९ में हरा दिया और इससे अब मराठों और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच लड़ाई के लिए मैदान खाली हो गया। चार्ल्स मेटकाफ़ ने, जो हिंदुस्तान के सबसे योग्य अंग्रेजी अफसरों में से एक था, १८०६ में लिखा था—"हिंदुस्तान में दो से अधिक बड़ी शक्तियां नहीं हैं, ब्रिटिश और मराठे, और शेष रियासतों में से हरएक इन दोनों में से एक के असर में है। जितने इंच हम पीछे हटेंगे, वे इनके अधिकार में आवेंगे।" लेकिन मराठा सरदारों में आपस में वैर चल रहा था और अंग्रेजों ने इनसे अलग-अलग लड़कर इन्हें हराया। इन्होंने कुछ मारके की लड़ाइयां जीती थीं, विशेषकर १८०४ में आगरे के पास इन्होंने अंग्रेजों को बुरी तरह परास्त किया। लेकिन १८१८ में मराठा-शक्ति अंत में कुचल दी गई और मध्य हिंदुस्तान में उसका प्रतिनिधित्व करनेवाले बड़े-बड़े सरदारों ने हार मानकर ईस्ट इंडिया कंपनी का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उस समय अंग्रेज हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े

हिस्से के बे-रोक शासक बन गए, जो देश पर सीधे या अपने कठपुतले और अधीन राजों द्वारा शासन करते थे। पंजाब और कुछ दूर के हिस्से अब भी उनके अधिकार से बाहर थे, लेकिन हिंदुस्तान में अंग्रेजी सल्तनत जम चुकी थी और बाद में सिखों, गोरखों और बरमियों से इनकी जो लड़ाइयां हुईं, उन्होंने नक्शा भर दिया।

१३ : संगठन और टेकनीक में अंग्रेजों की श्रेष्ठता और हिंदुस्तान का पिछड़ापन

ईस्ट इंडिया कंपनी आरंभ में व्यापार के लिए स्थापित हुई थी और उसका सैनिक प्रयोग केवल इस व्यापार की रक्षा करना था। प्रायः इस तरह, कि लोगों को पता भी न चला, इसने अपना प्रदेश धीरे-धीरे बढ़ा लिया था और जो विशेष ढंग इसने ग्रहण किया, वह यह था कि स्थानीय झगड़ों में, विरोधी दलों में से किसी एक को मदद देना। कंपनी की सेनाएं ज्यादा अच्छा सिखाई गई थीं और जिसकी ओर भी वे सहायता देतीं, उसे लाभ पहुंचता और कंपनी अपनी सहायता के लिए खासा मूल्य वसूल करती। इस तरह कंपनी की शक्ति बढ़ी और उसकी शक्ति भी बढ़ी। लोग इन सेनाओं को इस तरह देखने लगे कि वह किराये पर ली जा सकती हैं। जब लोगों को इस बात का पता चला कि अंग्रेज किसीकी मदद करनेवाले नहीं थे, बल्कि अपना ही खेल खेल रहे थे, और वह था हिंदुस्तान में राजनैतिक शक्ति स्थापित करना, उस समय तक वे देश में अपने को दृढ़ता से स्थापित कर चुके थे।

विदेशियों के विरुद्ध एक भावना निश्चित रूप से मौजूद थी, और यह बाद के वर्षों में और भी बढ़ी। लेकिन एक आम और व्यापक राष्ट्रीय भावना से यह बहुत दूर की चीज थी। पृष्ठभूमि में सामंत-वाद था और लोग स्थानीय नेताओं के प्रति निष्ठा दिखाते थे। जैसाकि चीन के लड़ाके सरदारों के जमाने में हुआ था, देश की व्यापक मुसीबतों ने लोगों को इस बात पर विवश किया कि जो भी सैनिक नेता नियमित वेतन दे सकता हो और लूट के अवसर देता हो,

उसके यहां नौकरी कर ली जाय। ईस्ट इंडिया कंपनी की फौजों में अधिक हिंदुस्तानी सिपाही होते थे। केवल मराठों में कुछ राष्ट्रीय भावना थी—और यह भावना स्थानीय सरकारों की वफादारी-भर नहीं थी, फिर भी यह राष्ट्रीय भावना तंग और सीमित थी। उन्होंने अपने व्यवहार से वीर राजपूतों को अपने विरुद्ध कर लिया। बजाय इसके कि यह उनकी मैत्री प्राप्त करते, उन्हें ये बैरी बना बैठे, या अधिक-से-अधिक असंतुष्ट जागीरदार। स्वयं मराठा सरदारों में तीखा वैमनस्य था और वावजूद इसके कि पेशवा के अधीन उनका एक गुट्ट-सा था, उनमें कभी-कभी गृह-युद्ध हुआ करता था। कठिन अवसरों पर ये एक-दूसरे के काम न आते और अलग-अलग लड़कर ये हरा दिये जाते थे।

फिर भी मराठों ने बहुत से योग्य व्यक्ति पैदा किये जो राजनीतिज्ञ भी थे और योद्धा भी, और इनमें नाना फड़नवीस, पेशवा बाजीराव (प्रथम), ग्वालियर के महादाजी सिंधिया और इंदौर के यशवंतराव होल्कर की गिनती होनी चाहिए, और हमें उस अद्भुत नारी को भी न भूलना चाहिए अर्थात् इंदौर की रानी अहिल्याबाई को। उनके सैनिक अच्छे होते थे—अपनी जगह पर डटे रहनेवाले और मृत्यु का वीरता से सामना करनेवाले। लेकिन इस सारी बहादुरी के पीछे युद्ध के जमाने में और शांति के काल में भी बहुधा केवल एक जांबाजी और अताईपन होता, जो एक आश्चर्य की बात है। दुनिया के बारे में उनका अज्ञान हद दर्जे का था और उनकी हिंदुस्तान के भूगोल की भी जानकारी सीमित थी। जो बात और भी बुरी थी, वह यह थी कि वे इस बात का पता लगाने का कष्ट भी नहीं उठाना चाहते थे कि बाहर क्या हो रहा है और उनके बैरी क्या करने में लगे हुए हैं? इन हालतों में दूरंदेशीवाली राजनीतिज्ञता और व्यावहारिक सक्रियता की क्या गुंजाइश हो सकती थी? उनकी गति और वेग से बहुधा वैरी आश्चर्य में आकर घबरा उठते थे, लेकिन युद्ध को ये केवल कुछ बहादुरी के धावे समझते और इससे अधिक कुछ नहीं। छापेमार लड़ाई में वे बेजोड़ थे। बाद में उन्होंने अपनी सेनाओं को अधिक नियमित

ढंग से संगठित किया। परिणाम यह हुआ कि एक ओर वे जिरह बख्तर से बोझिल हुए, दूसरी तरफ उनकी वेगपूर्ण गति जाती रही और वे इन नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को आसानी स न बना पाये। वे अपने को होशियार समझते थे और थे भी; लेकिन सुलह की हालत में या युद्ध में उन्हें धोखा दे सकना कठिन न था, क्योंकि वे एक पुराने और दकियानूसी चौखटे में घिरे हुए थे और उससे बाहर निकलना न चाहते थे।

अगर मराठे अपनी गुट्ट और सामुदायिक राष्ट्रीयता क बावजूद दीवानी और फौजी संगठन में पिछड़े हुए थे, तो दूसरी हिंदुस्तानी शक्तियां तो और भी पिछड़ी हुई थीं। राजपूत साहसी अवश्य थे, लेकिन उनके ढंग सामंती थे। वे वीर होते हुए भी नाकारा थे और आपस की फूट में पड़े रहते थे।

नेपाल के गोरखे बड़े ऊंचे दर्जे के सिपाही थ, और ईस्ट इंडिया कंपनी की किसी भी फौज से अच्छे नहीं तो बराबर के अवश्य थे। यद्यपि इनका संगठन पूरी तौर पर सामंती था, फिर भी इन्हें अपने देश से ऐसा गहरा प्रेम था कि ये उसकी रक्षा के लिए ज़ी तोड़कर लड़नेवाले थे। अंग्रेज इनसे दहशत खा गए, लेकिन हिंदुस्तान की मुख्य लड़ाई में इनके कारण कोई अंतर न पैदा हुआ।

अंग्रेज एक ऊंचे दर्जे के राजनैतिक और सैनिक संगठन का प्रतिनिधित्व करते थे, जो खूब दृढ़ था, और उनके यहां बड़े योग्य नेता थे। अपने दुश्मनों के मुक़ाबले में उनकी जानकारी कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और वे हिंदुस्तान की फूट और यहां की शक्तियों के आपस के झगड़ों से पूरा लाभ उठाते थे। चूंकि उनकी समुद्री ताकत भी थी, इसलिए उन्हें सुरक्षित सैनिक अड्डे भी मिले हुए थे और मदद प्राप्त करने के साधन उनके लिए खुले थे। थोड़े समय के लिए हार भी गए तो वे फिर शक्ति इकट्ठी करके दुबारा आक्रमण आरंभ कर सकते थे। प्लासीकी लड़ाई के बाद, बंगाल के हाथ में आ जाने से, उन्हें बड़ी दौलत मिली थी और इस तरीके पर मराठों से और दूसरों से भी लड़ाई जारी रखने के साधन प्राप्त हो गए थे और हर नई जीत के साथ-साथ ये साधन

बढ़ते ही जाते थे। अगर हिंदुस्तानी शक्तियां हारती थीं, तो उनके लिए तबाही आ जाती थी, और इसका वह कोई इलाज न कर पाते थे।

अंग्रेजों ने शक्ति और धन अवश्य प्राप्त कर लिया था, लेकिन वे अच्छी हुकूमत या किसी तरह की हुकूमत के अपने को जिम्मेदार नहीं समझते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों की दिलचस्पी नफे और खजाने में थी, अपने अधीन आये हुए लोगों की हालत सुधारने या उनकी रक्षा भी करने में नहीं थी। विशेषकर उनकी अधीन रियासतों में शक्ति और उत्तरदायित्व के बीच कोई संबंध न रह गया था।

हमें बहुधा बताया जाता है—जिससे हम भूल न जाय—कि अंग्रेजों ने हिंदुस्तान को अराजकता और अंधकार से बचाया। यह बात इस हद तक सही है कि इस काल के बाद, जिसे मराठों ने 'भयानक समय' बताया है, उन्होंने व्यवस्थित शासन स्थापित किया। लेकिन जो अराजकता और अंधकार फैला, उसकी कम-से-कम कुछ जिम्मेदारी ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति और हिंदुस्तान में उस कंपनी के नुमाइंदों पर अवश्य है। इस बात की भी कल्पना की जा सकती है कि बिना अंग्रेजों की सहायता के भी, जिसे वे देने के लिए इतने तुले हुए थे, हिंदुस्तान में, अधिकार पाने के लिए लड़ी गई लड़ाई के अंत में शांति और व्यवस्थित हुकूमत कायम हो जाती। ऐसी सूरतें हिंदुस्तान में, उसके पांच हजार वर्षों के इतिहास में, और दूसरी जगहों में, पहले भी पैदा हो चुकी हैं।

१४ : रणजीतसिंह और जयसिंह

यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तान विदेशियों की विजय का शिकार इसलिए हुआ कि उसके लोगों में त्रुटियां थीं और अंग्रेज एक ऊंची और उन्नतिशील सामाजिक व्यवस्था की नुमाइंदगी करनेवाले थे। दोनों तरफ के नेताओं के बीच स्पष्ट अंतर था; हिंदुस्तानी—वे चाहे जितने योग्य हों—विचार और व्यवहार के तंग दायरे में रहनेवाले लोग थे, और उन्हें इस बात का पता न था कि दूसरी जगहों में क्या हो रहा है, और इस

लिए वे बदलती हुई स्थितियों में, अपने को ठीक-ठीक बिठा न पाये। अगर कुछ व्यक्तियों में बातों को जानने की रुचि पैदा भी हुई, तो वे उन घेरों को तोड़ न पाते थे, जिनमें वे बंधे हुए और कैद थे। इसके मुकाबले अंग्रेज बहुत कार्य कुशल लोग थे और उनके देश और फ्रांस और अमरीका में होनेवाली घटनाओं ने उन्हें जगा दिया था। दो बड़ी क्रांतियां बीत चुकी थीं। फ्रांसीसी-क्रांति के सैनिकों के और नैपोलियन के धावों ने सारी युद्ध की कला बदल दी थी। अनजान-से-अनजान अंग्रेज, अपनी हिंदुस्तान-यात्रा के बीच में, दुनिया के कई हिस्सों को देख चुका होता था। स्वयं इंग्लिस्तान में मारके की खोजें हो चुकी थीं, जिनका परिणाम यह हुआ था कि वहां कल-कारखानों की क्रांति हो गई थी, यद्यपि शायद बहुत ही थोड़े लोग ऐसे थे, जो इसके दूर तक पहुंचनेवाले प्रभाव का अंदाजा लगा सकते थे। लेकिन परिवर्तन का खमीर जोरों से काम कर रहा था और लोगों पर प्रभाव डाल रहा था। इन सबके पीछे वह प्रसारशील स्फूर्ति थी, जिसने अंग्रेजों को सुदूर देश में भेजा।

ऐसा जान पड़ता है कि इस भयानक युग में लोग साधारणतया पस्त और कुचले हुए-से थे, दुर्भाग्य के चक्र को चुपके से सहन कर लेते थे, एक चकाचौंध और उदासीनता का उनपर आलम छाया हुआ था। बहुत-से व्यक्ति ऐसे अवश्य रहे होंगे, जिनमें बातों को समझने की इच्छा थी और जो उन नई शक्तियों को समझना चाहते थे, जो काम कर रही थीं, लेकिन घटनाओं की बाढ़ में वे आ गए थे और उन पर प्रभाव न डाल सके।

उन व्यक्तियों में, जिनमें जिज्ञासा भरी हुई थी, महाराजा रणजीतसिंह था, जो एक जाट सिख था, और जिसने पंजाब में एक राज्य बना लिया था। यह राज्य बाद में कश्मीर और सरहदी सूबे तक फैला। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदुस्तानी हमेशा अलग-थलग रहनेवाले होते हैं, उनमें भी विशेषकर ऊंचे मस्तिष्कवाले लोग। इनमें से बहुत कम ने हिंदुस्तान में आनेवाले विदेशी सैनिक नेताओं और दुस्साहसियों से राह-रस्म रखना पसंद किया होगा, क्योंकि

उनके बहुत से कारनामों ने उनमें भय पैदा किया होगा। इस तरह विचारशील लोग विदेशियों से, जहांतक होता, बचकर अपनी प्रतिष्ठा बचाये रखते, और उनसे केवल रस्मी अवसरों पर भेंट करते या उस समय जब मिलना अनिवार्य हो जाता। जिन हिंदुस्तानियों से अंग्रेज मिलते वे, आमतौर पर या तो लोककुशल होते या जी-हुजूरीवाले, जो उन्हें और मंत्रियों को घेरे रहते और प्रायः घूसखोर और षड्यंत्री, हिंदुस्तानी दरबारी होते।

रणजीतसिंह बौद्धिक जिज्ञासावाला मनुष्य ही न था, उसमें बड़ी मानवता भी थी—उस समय जब हिंदुस्तान और सारी दुनिया में निर्दयता और पाशविकता छाई हुई थी, उसने एक राज्य बनाया और बलशाली सेना खड़ी कर ली, फिर भी वह खून-खराबी पसंद नहीं करता था। प्रिंसप ने लिखा है कि "एक अकेले आदमी ने इतना बड़ा राज्य इतने कम पापों के साथ कभी न स्थापित किया था।" चाहे जैसा जुर्म हो, उसने मृत्यु दंड उड़ा दिया था—उस समय जब इंग्लिस्तान में छोटी-छोटी चोरियों के लिए भी मृत्यु की सजाएं दी जाती थीं।

एक दूसरा और ही ढंग का हिंदुस्तानी राजनीतिज्ञ राजपूताना में जयपुर का सवाई जयसिंह था। वह एक वीर योद्धा और पक्का कूटनीतिज्ञ था, लेकिन वह इससे कहीं बढ़कर था। वह गणितज्ञ था और ज्योतिष जाननेवाला था, वैज्ञानिक था और नगर-निर्माण करनेवाला था और इतिहास के अध्ययन में उसकी दिलचस्पी थी।

जयसिंह ने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस और मथुरा में बड़ी-बड़ी वेधशालाएं तैयार कराईं। पुर्तगाली पादरियों से यह जानकर, कि पुर्तगाल में ज्योतिष का ज्ञान उन्नति पर है उसने एक पादरी के साथ अपना एक व्यक्ति पुर्तगाल के राजा एमैनुएल के दरबार में भेजा। एमैनुएल ने अपने दूत जेवियर डि सिल्वा को डिला हायर की तालिकाओं के साथ जयसिंह के पास भेजा। इन तालिकाओं का अपनी तालिकाओं से मिलान करने पर वह इस परिणाम पर पहुंचा कि पुर्तगाली तालिकाएं कम शुद्ध थीं और उनमें कई अशुद्धियां थीं। इन अशुद्धियों का कारण उसने यह बताया कि जिन यंत्रों का उपयोग

किया गया था, उनके 'व्यास घटिया' थे। जयसिंह हिंदुस्तानी गणित का पूरा जानकार तो था ही, उसने पुरानी यूनानी पुस्तकें भी देखी थीं और यूरोप में उसके समय में गणित में जो उन्नति हुई थी, उसे भी जानता था। उसने उक्लेदिस आदि कुछ यूनानी पुस्तकों के और सम तथा गोलीय त्रिकोणमिति, और लघुगणकों के निर्माण और व्यवहार पर, यूरोपीय ग्रंथों के संस्कृत में अनुवाद कराए थे। उसने ज्योतिष की अरबी किताबों के भी तर्जुमे कराए थे।

उसने जयपुर शहर की स्थापना की। नगर-निर्माण में दिलचस्पी रखते हुए उसने अपने समय के बहुत-से यूरोपीय शहरों के नक्शे इकट्ठे किये और फिर अपना नक्शा तैयार किया। जयपुर के अजायबघर में पुराने यूरोपीय शहरों के इन नक्शों में से कई अब भी सुरक्षित हैं। जयपुर के शहर का नक्शा इतना अच्छा और बुद्धिमानी से तैयार किया गया था कि वह अब भी नगर-निर्माण की एक मिसाल पेश करता है।

थोड़ी-ही उम्र के भीतर-भीतर और युद्धों और दरबारी षड्यंत्रों में फंसे रहते हुए भी, जयसिंह ने यह सब और बहुत कुछ और भी किया। जयसिंह की मृत्यु से ठीक चार साल पहले नादिरशाह का हमला हुआ था। किसी भी जमाने में और कहीं भी जयसिंह एक मारके का आदमी हुआ होता। राजपूताने के विशिष्ट सामंतवादी वातावरण में पैदा होकर, हिंदुस्तान के इतिहास के एक इतने अंधियारे समय में, जबकि टूट-फूट, युद्ध और हंगामे ही दिखाई पड़ते थे, उसके वैज्ञानिक कारनामे बड़े महत्व के हैं। इससे यह पता चलता है कि हिंदुस्तान में वैज्ञानिक जिज्ञासा का लोप नहीं हुआ था और कोई ऐसा खमीर काम कर रहा था कि अगर उसे अवसर दिया जाता, तो बड़े मूल्यवान परिणाम सामने लाता।

१५ : हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि : दो इंग्लिस्तान

जिस समय यह सब गहरे प्रभाव रखनेवाले राजनैतिक उलट-फेर हो रहे थे, हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि क्या थी ? वी० ऐंस्टी ने लिखा है कि ठीक अठारहवीं सदी तक "उत्पादन, कौशल और

व्यापारिक संगठन के हिंदुस्तानी ढंग संसार के किसी हिस्से में प्रचलित ढंगों की अपेक्षा नीचे न ठहरेंगे।" हिंदुस्तान व्यापारिक माल पैदा करने-वाला एक बहुत ही उन्नत देश था और अपने यहां से तैयार किया हुआ माल यूरोप और दूसरे देशों में भेजता था। उसकी महाजनी की व्यवस्था बहुत अच्छी और देश भर में खूब संगठित थी, और बड़े-बड़े व्यापारियों की हुंडियां हिंदुस्तान में सब जगह सकारी जाती थीं, और हिंदुस्तान ही क्या, ईरान, काबुल, हेरात, ताशकंद और मध्य एशिया की और जगहों में भी स्वीकार की जाती थीं। व्यापारी संगठन स्थापित हो गए थे और गुमाश्तों, माल पहुंचानेवालों, और दलालों बीच के व्यापारियों का जाल-सा बिछा हुआ था। जहाज बनाने का धंधा जोरों पर था और नैपोलियन के जमाने की लड़ाइयों में एक अंग्रेजी एडमिरल का 'फ्लैगशिप' हिंदुस्तान के एक कारखाने का बना हुआ था। वास्तव में तिजारत और व्यापार और माली मामलों में, औद्योगिक-क्रांति के जमाने से पहले तक, हिंदुस्तान किसी भी देश के बराबरी की उन्नति कर चुका था। यदि देश में शांति और स्थायी शासन के लंबे समय न बीते होते और यातायात के मार्ग आने-जाने और व्यापार के लिए सुरक्षित न होते, तो ऐसी उन्नति असंभव होती।

विदेशी दुस्साहसिक आरंभ में हिंदुस्तानी तिजारती माल की अच्छाइयों से खिंचकर यहां आये, क्योंकि इस माल की यूरोप में बड़ी खपत थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का आरंभ के दिनों में मुख्य धंधा ही हिंदुस्तानी माल का यूरोप में रोजगार करना था और यह तिजारत कंपनी के लिए बड़े लाभ की सिद्ध हुई, और कंपनी के हिस्सेदारों को लंबे मुनाफे मिलते रहे। चीजों की तैयारी के ढंग हिंदुस्तान में ऐसे अच्छे और संगठित थे और हिंदुस्तान के कारीगरों और शिल्पियों की हुनरमंदी इस दर्जे की थी, कि वह तैयारी के ज्यादा ऊंचे ढंग से, जो उस समय इंग्लिस्तान में प्रचलित हो रहे थे, बड़ी सफलता से मुकाबला कर सकते थे। जिस समय इंग्लिस्तान के कल-कारखानों का महान युग आरंभ हुआ, उस समय हिंदुस्तानी माल वहां पटा पड़ता था और उसे भारी चुंगी लगाकर और कुछ चीजों का आना तो बिल्कुल

बंद करके, रोकना पड़ा। इस तरह हिंदुस्तान का अर्थ-तंत्र कल-कारखानों की क्रांति से पूर्व जितनी उन्नति संभव थी, उतनी उन्नति कर चुका था।

यद्यपि हिंदुस्तानी व्यापारियों और माल तैयार करनेवालों का तबका अमीर था और वे सारे देश में फैले हुए थे और उनका आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण था, पर उनके पास राजनैतिक शक्ति नहीं थी। शासन स्वेच्छाचारी और अब भी बहुत हद तक सामंतवादी था। वास्तव में, शायद वह जितना सामंतवादी इस समय था उतना हिंदुस्तान के इतिहास में और कभी भी पहले नहीं रहा था। इस वजह से कोई शक्तिशाली मध्य वर्ग नहीं था, या ऐसा वर्ग भी जो शक्ति अपने हाथ में कर लेने के लिए सचेत हो—जैसाकि पच्छिमी देशों में था। आमतौर से लोग उदासीन और गुलामी की मनोवृत्ति रखनेवाले हो रहे थे। इस तरह एक खाई पैदा हो गई थी, जिसका भरना क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक था।

उस समय, अंग्रेज, राजनतिक दृष्टि से, कहीं अधिक उन्नत थे। उनके यहां राजनैतिक क्रांति हो चुकी थी और उन्होंने अपने राजा की शक्ति से ऊपर पार्लमेंट की शक्ति स्थापित कर ली थी। उनके मध्य वर्ग के लोग, अपनी नई शक्ति की चेतना रखते हुए, खूब फैलना चाहते थे। ये जीवनी शक्ति और स्फूर्ति, जो उन्नति करनेवाले और प्रगतिशील समाज के लक्षण हैं, इंग्लिस्तान में साफ तौर पर दिखाई देते हैं। ये कई प्रकार सामने आते हैं—सबसे अधिक उन आविष्कारों और खोजों में सामने आते हैं, जिन्होंने कल-कारखानों की क्रांति का आवाहन किया।

इंग्लिस्तान हिंदुस्तान में आया। १६०० में, जब रानी एलिजाबेथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी को परवाना दिया, उस वक्त शेक्सपीयर जीवित था और उसका लिखना जारी था। १६११ में इंजील का अधिकृत अंग्रेजी संस्करण निकला; १६०८ में मिल्टन का जन्म हुआ। उसके बाद हैंपडन और क्रामवेल सामने आये और राजनैतिक क्रांति हुई। १६६० में इंग्लिस्तान की रायल सोसाइटी स्थापित हुई, जिसने विज्ञान

को उन्नति देने में बड़ा भाग लिया। सौ साल बाद, १७६० में, कपड़ा बुनने की तेज ढरकी का आविष्कार हुआ, उसके बाद जल्दी-जल्दी, एक-एक करके, कातने की कल, भाप के इंजन और मशीन के करघे निकले।

इन दो इंग्लिस्तानों में से कौन-सा इंग्लिस्तान हिंदुस्तान में आया? शेक्सपियर और मिल्टनवाला; उदार बातों और लेखों और वीरता के कारनामोंवाला, राजनैतिक-क्रांति और आजादी के हक में लड़ाई करनेवाला, विज्ञान और कला-कौशल की उन्नतिवाला इंग्लिस्तान यहां आया, या वहशियाना जाब्ता फौजदारीवाला, बर्बर व्यवहार करनेवाला, और सामंतवादी और प्रतिक्रियावादी इंग्लिस्तान आया? क्योंकि दो इंग्लिस्तान रहे हैं, जिस तरह कि हरएक देश में जातीय चरित्र के दो पहलू होते हैं। एडवर्ड टामसन ने लिखा है—"हमारी सभ्यता के सबसे ऊंचे और साधारण स्तरों के बीच इंग्लिस्तान में हमेशा एक बड़ा अंतर रहा है, मुझे बड़ा शक है कि इस तरह की चीज और भी किसी देश में—जिससे हम अपना मुकाबला करना चाहेंगे—है या नहीं, और यह अंतर इतनी धीमी गति से घट रहा है, कि अक्सर यह जान पड़ता है कि यह घट ही नहीं रहा है।"

दोनों इंग्लिस्तान एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हुए साथ-साथ चल रहे हैं और एक-दूसरे से जुदा नहीं किये जा सकते; ना ही हो सकता था कि इनमें से एक दूसरे को बिल्कुल भुलाकर, हिंदुस्तान में आवे। फिर भी हरएक बड़े व्यवहार में एक ही आगे आता है और दूसरे पर हावी रहता है, और यह अनिवार्य था कि हिंदुस्तान में यह गलत किस्म का इंग्लिस्तान अपना खेल खेले, और इस प्रगति में गलत किस्म के हिंदुस्तान से उसका संपर्क हो और इसे बढ़ावा मिले।

संयुक्त-राज्य अमरीका की स्वतंत्रता का प्रायः वही समय है जो हिंदुस्तान के स्वतंत्रता खोने का है। पिछली डेढ़ सदियों पर दृष्टि डालते हुए, एक हिंदुस्तानी किंचित् लालच-भरी और आकांक्षा-भरी दृष्टि से उस बड़ी उन्नति को देखता है, जो अमरीका ने इस काल में कर ली है, और इसका मिलान उन बातों से करता है, जो

हिंदुस्तान में हुई हैं, या नहीं हो पाई हैं। निःसंदेह यह सही है कि अमरीकियों में बहुत-से गुण हैं, और हममें बहुत-सी कमजोरियां हैं और अमरीका में बिल्कुल नया मैदान था और लिखने के लिए उनके पास एक साफ स्लेट थी, जबकि हम पुरानी यादों और परंपराओं से जकड़े हुए थे। शायद फिर भी यह बात कल्पना में आनेवाली नहीं है कि अगर ब्रिटेन ने (उसीके शब्दों में) हिंदुस्तान का यह भारी बोझ न संभाला होता और हमें इतने लंबे काल तक स्वतंत्रता की कठिन कला, जिससे हम इतने अपरिचित थे, सिखाने की कोशिश न की होती, तो हिंदुस्तान न केवल अधिक स्वतंत्र और संपन्न होता, बल्कि विज्ञान और कला में, और उन सभी बातों में, जो जीवन के जीने के योग्य बनाती हैं, कहीं अधिक उन्नति कर चुका होता।

: ५ :

अंतिम दर्शन

१ : साम्राज्य की विचारधारा

एक अंग्रेज ने, जो हिंदुस्तान से और उसके इतिहास से खूब परिचित ह, यह लिखा है—"कदाचित् और किसी बात की अपेक्षा, जो हमने की हो, हमारा हिंदुस्तान के इतिहास का लिखना ज्यादा खलता है !" हिंदुस्तान के ब्रिटिश-शासन के इतिहास में, हिंदुस्तान को सबसे ज्यादा बुरा क्या लगा है, यह कहना मुश्किल है; सूची लंबी है और उसमें कई तरह की बातें हैं। लेकिन यह सच है कि हिंदुस्तान के इतिहास का, और विशेषकर ब्रिटिश-युग का, अंग्रेजों द्वारा वर्णन बेहद बुरा लगता है। प्राय: सदा ही इतिहास विजेताओं द्वारा लिखा जाता है और उसमें उनका दृष्टिकोण मिलता है, या कम-से-कम विजेता के वर्णन को प्रधानता दी जाती है और वही सबसे ऊपर माना जाता है। बहुत संभव है, हिंदुस्तान में आर्यों के बारे में, आरंभ के जो वर्णन मिलते हैं, ऐसे ही हों, अर्थात् पुराणों और परंपराओं में आर्यों की बड़ाई की गई हो और विजित जनता के प्रति अन्याय हुआ हो ! कोई व्यक्ति अपने-आपको जातीय दृष्टिकोण या सांस्कृतिक बंधनों से बिल्कुल बचा नहीं सकता और जिस समय जातियों या देशों के बीच झगड़ा होता है, उस समय निष्पक्षता के प्रयत्न को भी अपनी जनता के प्रति विश्वासघात समझा जाता है।

हिंदुस्तान में अंग्रेजों की दृष्टि में जो बदमाश था, वह हिंदुस्तानियों के लिए अक्सर एक शूरवीर होता था और वे लोग, जिनको अंग्रेजों ने प्रसन्न होकर सम्मान दिये, अधिकतर हिंदुस्तानियों की दृष्टि में देशद्रोही रहे। और वह धब्बा उनके वारिसों पर लग आता है।

हिंदुस्तान पर पच्छिमी संस्कृति का आघात, एक गतिशील समाज और 'आधुनिक' चेतना का एक ऐसे गतिहीन समाज पर आघात था, जो

मध्यकालीन विचारधारा से बंधा हुआ था और जो अपने ढंग से कितना ही उन्नत या रंगा-चुना हो, अपनी जन्मजात त्रुटियों के कारण उन्नति नहीं कर सकता था। हिंदुस्तान के सामाजिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी समुदायों को बढ़ावा मिला और उनकी स्थिति दृढ़ हुई, और उन सब लोगों का, जो राजनैतिक और सामाजिक रद्दो-बदल चाहते थे, विरोध हुआ। जो-कुछ परिवर्तन हुआ भी, वह तो उनके बावजूद था या वह उनकी दूसरी कार्रवाइयों के अचानक नतीजे की तरह था। भाप के इंजन और रेल का आरंभ, मध्यकालीन ढांचे में परिवर्तन की ओर एक बड़ा कदम था, लेकिन उसमें अंग्रेजों का इरादा अपने शासन को सुदृढ़ करने तथा अपने फ़ायदे के लिए इस देश के अंदरूनी हिस्सों के शोषण को आसान करने का था। पश्चिम के इस आघात की वजह से हिंदुस्तान में परिवर्तन तो हुए, लेकिन वे हिंदुस्तान के अंग्रेजों के बावजूद हुए।

सामंतवादी जमींदार और उनके भाई-बंद, जो इंग्लैंड से हिंदुस्तान में हुकूमत करने के लिए आये, दुनिया के प्रति एक सामंतवादी दृष्टिकोण रखते थे। उनके लिए हिंदुस्तान एक बहुत बड़ी जागीर थी, जिसकी मालिक ईस्ट इंडिया कंपनी थी और जमींदार अपनी जागीर और अपने काश्तकारों का सबसे अच्छा और स्वाभाविक प्रतिनिधि था। जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने हिंदुस्तान की अपनी इस जागीर को ब्रिटिश-बादशाह को सौंप दिया, तो हिंदुस्तान के खर्चे पर उसे एक बहुत बड़ी रकम हरजाने के तौर पर दी गई, लेकिन यह दृष्टिकोण उसके बाद भी बराबर बना रहा।

हिंदुस्तान के हितों को अपने हितों से एक करके दिखाने की भावना, ऊंची हुकूमती नौकरियों में, जो पूरी तरह ब्रिटिश हाथों में थी, सबसे अधिक तेज थी। बाद के बरसों में ये नौकरियां उस गुथी हुई और सुसंगठित संस्था में परिणत हो गईं, जिसे इंडियन सिविल सर्विस का नाम मिला। एक अंग्रेज लेखक के शब्दों में यह, "दुनिया की सबसे सुदृढ़ 'ट्रेड यूनियन' थी।" वे हिंदुस्तान का संचालन करते थे, वे स्वयं हिंदुस्तान थे और कोई भी वस्तु, जो उनके

हितों को चोट पहुंचाती थी, अनिवार्य रूप से हिंदुस्तान के लिए घातक होनी चाहिए थी। इंडियन सिविल सर्विस के द्वारा और उस इतिहास से, जो ब्रिटिश जनता के सामने रखा गया, उसके अलग-अलग स्तरों में यही धारणा अलग-अलग हद तक फैल गई। शासक-वर्ग तो स्वभावतः बिल्कुल इसी तरह सोचता था, लेकिन मजदूरों और किसानों पर भी कुछ हद तक इसका असर हुआ, और यद्यपि अपने-ही देश में उनकी एक नीची जगह थी, फिर भी उन्होंने शासन और साम्राज्य का घमंड अनुभव किया। वही मजदूर और किसान जब हिंदुस्तान में आता तो वह यहां अनिवार्य रूप से शासक वर्ग का हो जाता। हिंदुस्तान के इतिहास और उसकी संस्कृति से वह बिल्कुल अनजान होता और वह हिंदुस्तान के अंग्रेजों में प्रचलित विचारधारा को ही स्वीकार कर लेता, क्योंकि जांचने या लागू करने के लिए उसके पास कोई दूसरा मापदंड नहीं होता था। अधिक-से-अधिक उसमें एक धुंधली नेकनीयती होती, लेकिन वह भी उस ढांचे के अंदर कड़ाई से जकड़ी हुई होती। सौ साल तक यह विचारधारा ब्रिटिश जनता के हर हिस्से में पैठती रही और एक राष्ट्रीय विरासत बन गई। यह तो एक निश्चित और अविचल धारणा थी, जो हिंदुस्तान के संबंधमें उनके दृष्टिकोण का संचालन करती, और उसने गुप्त रूप से उनके घरेलू दृष्टिकोण पर भी प्रभाव डाला। स्वयं हमारे ही युग में वह विचित्र समुदाय, जिसके पास कोई निश्चित मापदंड या सिद्धांत नहीं था और जिसको बाहरी दुनिया की अधिक जानकारी नहीं थी, अर्थात् ब्रिटिश मजदूर दल के नेतागण, हिंदुस्तान की इस व्यवस्था के सबसे अधिक कट्टर समर्थक रहे हैं।

२ : हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों और खेती की बरबादी

आरंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्य काम, और वह उद्देश्य जिसके लिए उसकी स्थापना हुई थी, यह था कि हिंदुस्तान से तैयार माल, जैसे कपड़ा आदि और साथ ही मसालों को,पूरब से यूरोप ले जाकर बेचा जाय, जहां इन चीजों की बहुत मांग थी। इंग्लैंड में, औद्योगिक प्रक्रिया में उन्नति के साथ ही, उद्योगपति पूंजीपतियों का एक नया वर्ग

बना, और उसने इस नीति में परिवर्तन की मांग पेश की। उसके अनुसार हिंदुस्तानी चीजों के लिए ब्रिटिश बाजार बंद करना और ब्रिटिश माल के लिए हिंदुस्तानी बाजार खोलना था।

कुछ हद तक यह अनिवार्य था, क्योंकि पुराने शिल्प टेकनीक का नई औद्योगिक पद्धति से संघर्ष हुआ। लेकिन राजनैतिक और आर्थिक दबाव से इसकी गति तेज कर दी गई और नये तरीकों को हिंदुस्तान में काम में लाने की कोई कोशिश नहीं हुई। वास्तव में कोशिश तो इस बात की हुई कि ऐसा होने न पावे, और इस तरह हिंदुस्तान की आर्थिक उन्नति को रोक दिया गया। हिंदुस्तान में मशीनें बाहर से मंगाई नहीं जा सकती थीं। एक ऐसी खाली जगह पैदा हो गई थी जिसको केवल ब्रिटिश माल से भरा जा सकता था और इसकी वजह से बड़ी तेजी से बेकारी और गरीबी बढ़ी। आधुनिक औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था स्थापित हुई और हिंदुस्तान औद्योगिक इंग्लैंड का एक खेतिहर उपनिवेश बन गया, जो कच्चा माल देता और इंग्लैंड के तैयार माल को अपने यहां खपाता।

कारीगर-पेशा लोगों के समाप्त हो जाने की वजह से बहुत बड़े पैमाने पर बेकारी फैली। ये करोड़ों आदमी, जो अबतक तरह-तरह के सामान तैयार करने के काम में और अलग-अलग धंधों में लगे हुए थे, अब क्या करते? वे कहां जाते? अब उनका पुराना पेशा खुला हुआ नहीं था और नये पेशे के लिए रास्ता रुका हुआ था। हां, वे मर सकते थे—असह्य हालत से बचने का यह रास्ता तो हमेशा खुला होता है। और वे लोग करोड़ों की तादाद में मरे भी। हिंदुस्तान के अंग्रेज गवर्नर-जनरल लार्ड बेंटिक ने १८३४ में कहा था, "व्यापार के इतिहास में ऐसा कष्टकर उदाहरण पाना कठिन है। जुलाहों की हड्डियां हिंदुस्तान के मैदानों को सफेद किये हुए हैं।"

फिर भी उनमें से बहुत बड़ी तादाद में लोग बच रहे, और ज्यों-ज्यों ब्रिटिश नीति देश के अंदरूनी हिस्सों में फैलती गई और बेकारी पैदा हुई, ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती गई। इन झुंड-के-झुंड कारीगरों के पास कोई काम नहीं था और उनकी सारी पुरानी कारीगरी बेकार थी। उन लोगों ने जमीन की ओर निगाह उठाई, क्योंकि जमीन अब भी

मौजूद थी। लेकिन जमीन पूरी तौर पर घिरी हुई थी, वह उनको लाभकर तरीके से खपा नहीं सकती थी। इस तरह वे जमीन पर एक बोझ बन गए, और वह बोझ बढ़ता गया और उसके साथ ही देश की गरीबी बढ़ती गई और रहन-सहन का मापदंड बेहद गिर गया। हुनरदारों और कारीगरों के खेती पर बरबस लौटने की प्रक्रिया से कृषि और उद्योग-धंधों का संतुलन बिगड़ता गया। धीरे-धीरे लोगों के लिए खेती ही अकेला धंधा रह गया, क्योंकि और कोई धंधा या काम नहीं था जिससे पैसा पैदा किया जा सके।

हिंदुस्तान में धीरे-धीरे देहात बढ़ता गया। हर प्रगतिशील देश में पिछली सदी में खेती से उद्योग-धंधों की तरफ और गांव से कसबे के लिए आबादी का रुझान हुआ है, लेकिन ब्रिटिश नीति की वजह से यहां उल्टी ही बात थी। इस संबंध में आंकड़े ध्यान देने लायक हैं। उन्नीसवीं सदी के बीच में, यह बताया जाता है कि जनसंख्या का ५१ फी सदी खेती पर निर्भर था; हाल ही में उसका अनुपात का अंदाज है ७४ फी सदी।[1]

इस तरह हिंदुस्तानी जनता की भयंकर गरीबी की यह असली बुनियादी वजह है। और यह अपेक्षाकृत हाल के ही समय की है। दूसरे कारण, जिनसे यह गरीबी बढ़ी है, वे खुद—बीमारी और निरक्षरता—इस गरीबी का, अपर्याप्त भोजन आदि का, परिणाम हैं। बहुत अधिक आबादी होना एक दुर्भाग्य की बात है, और जहां-कहीं आवश्यक हो सकता हो, इसको कम करने के उपाय काम में लाने चाहिए, फिर भी यहां की आबादी के घनत्व का उद्योग-धंधों में बढ़े-चढ़े देशों की आबादी से मिलान किया जा सकता है। यह आबादी जरूरत से ज्यादा सिर्फ उसी देश के लिए है, जो खेती पर अत्यधिक निर्भर है, और एक उचित अर्थ-व्यवस्था में सारी आबादी उपयोगी काम में लग सकती है और उससे देश की संपत्ति बढ़ेगी। वास्तव में घनी आबादी तो कुछ विशेष भागों में जैसे बंगाल में और गंगा के मैदानों में ही है, और बहुत-से विस्तृत प्रदेश अब भी छितरे बसे हुए हैं। यहां यह बात याद रखने की है कि इंग्लिस्तान हिंदुस्तान की अपेक्षा दूने से भी अधिक घना बसा हुआ है।

१. यह अंदाज लड़ाई छिड़ने से पहले (१९३९) का है।

उद्योग-धंधों का संकट तेजी से खेती के काम में भी फैल गया और वह वहां पर एक स्थायी संकट हो गया। (जमीन के बंटवारे की वजह से) खेत दिन-ब-दिन ज्यादा छोटे और इतने ज्यादा बिखरे हुए होने लगे कि अंदाज नहीं किया जा सकता। कृषि-ऋण का बोझ बढ़ने लगा और जमीन बहुधा साहूकारों के कब्जे में पहुंच जाती। भूमिहीन मजदूरों की तादाद में लाखों की बढ़ती हुई हिंदुस्तान एक औद्योगिक पूंजीवादी शासन के अधीन था; लेकिन उसकी अर्थ-व्यवस्था उस युग की थी जिसमें पूंजीवाद आरंभ नहीं हुआ था, फिर भी उस अर्थ-व्यवस्था में से कई एक ऐसी चीजें निकली हुई थीं, जिनसे पैसा पैदा किया जा सकता था। हिंदुस्तान आधुनिक औद्योगिक पूंजीवाद का बेवस एजेंट बन गया, जिसमें उसकी सारी बुराइयां तो थीं लेकिन लाभ एक भी नहीं था।

यह बात स्पष्ट है कि औद्योगिक उन्नति के लिए हिंदुस्तान में साधन बराबर रहे हैं। यहां संगठन-सामर्थ्य है, टेकनीकल योग्यता है, हुनरदार काम करनेवाले हैं और हिंदुस्तान के लगातार शोषण के बाद भी कुछ पूंजी बच रही है। इतिहासकार मांटगुमरी मार्टिन ने कहा है—"हिंदुस्तान का औद्योगिक सामर्थ्य उतना ही है, जितना कि उसका कृषि-सामर्थ्य। और वह व्यक्ति, जो उसे खेतिहर देश की ही हैसियत में लाना चाहता है, वह उसे सभ्यता के पैमाने में गिराना चाहता है।" और हिंदुस्तान में अंग्रेजों ने ठीक यही चीज करने की जी-जान से बराबर कोशिश की।

आधुनिक उद्योग-धंधों में पनपने की, हिंदुस्तान की सामर्थ्य का अंदाज उस सफलता से लगाया जा सकता है जो आगे बढ़ने का अवसर मिलने पर उसने प्राप्त का है। वास्तव में यह सफलता, हिंदुस्तान की ब्रिटिश-सरकार और ब्रिटेन के निहित स्वार्थों के प्रबल विरोध के बावजूद हुई है। उसको पहला वास्तविक अवसर १९१४-१८ की लड़ाई के काल में मिला, जब ब्रिटिश माल के आने में रुकावट हो गई। हिंदुस्तान ने उसका लाभ उठाया तो, लेकिन ब्रिटिश नीति की वजह से वह लाभ अपेक्षाकृत बहुत कम हद तक ही उठाया जा सका। तबसे सरकार पर बराबर दबाव रहा है कि हिंदुस्तानी उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए

सारी रुकावटों और उन निहित स्वार्थों को, जो रास्ता रोकते हैं, दूर करके सुविधा दी जाय। प्रकट रूप में तो सरकार ने इसे अपनी नीति के रूप में मंजूर कर लिया, लेकिन वैसे सरकार ने हर वास्तविक उन्नति को और विशेषकर वुनियादी धंधों की उन्नति को रोका है। हिंदुस्तानी उद्योग की उन्नति का आरंभ में खुला विरोध था और बाद में उसकी जगह छिपे विरोध ने ले ली, और वह भी उतना-ही कारगर रहा है। जब हम हिंदुस्तान में ब्रिटिश आर्थिक-नीति को पीछे फिरकर देखते हैं, तो यह मालूम होता है कि हिंदुस्तान की जनता की वर्तमान गरीबी इस नीति का अनिवार्य परिणाम है।

३ : हिंदुस्तान राजनैतिक और आर्थिक हैसियत से पहली बार एक दूसरे देश का पुछल्ला बनता है।

नया पूंजीवाद सारी दुनिया में जो बाजार तैयार कर रहा था, उससे प्रत्यक्ष दशा में हिंदुस्तान के आर्थिक ढांचे पर प्रभाव पड़ता। ऐसे गांव, जहां वाहरी मदद की आवश्यकता न थी, और जहां परंपरा से धंधे आपस में बंटे हुए थे, अब अपने पुराने रूप में वच नहीं सकते थे। लेकिन जो परिवर्तन हुआ, वह स्वाभाविक क्रम में नहीं था और उसने हिंदुस्तानी समाज की सारी आर्थिक नींव को अस्त-व्यस्त कर दिया। एक ऐसा ढांचा, जिसके पीछे सामाजिक अनुमति और नियंत्रण थ, और जो जनता के सांस्कृतिक उत्तराधिकार का अंग था, अचानक-ही अपने-आप बदल दिया गया और एक दूसरा ढांचा, जिसका संचालन वाहर से होता था, लाद दिया गया। हिंदुस्तान-दुनिया के वाज़ार में नहीं आया, वल्कि वह ब्रिटिश-ढांचे का एक उपनिवेश और खेतिहरी की हैसियत रखनेवाला पुछल्ला बन गया।

गांवों के धंधों की बरबादी से इन लोगों को बहुत बड़ा धक्का लगा। कृषि और उद्योग का संतुलन विगड़ गया, श्रम का परंपरा से चला आया विभाजन टूट गया और अलग-अलग कामोंवाले आदमियों की इस वहुत बड़ी संख्या को किसी समुदाय के काम में सहज में नहीं लगाया जा सकता था। जमींदारी प्रथा के जारी करने से जमीन की मालिकी

के बारे में एक बिल्कुल नई धारणा बनी और इससे इन लोगों पर एक और प्रबल चोट हुई। अबतक जो धारणा थी, उसमें जमीन पर तो इतना नहीं, बल्कि जमीन की उपज पर विशेषकर सामूहिक स्वामित्व था। शायद अंग्रेज़ गवर्नर इसको पूरी-पूरी तरह समझ नहीं पाये, लेकिन शायद कुछ अपनी वजहों से उन्होंने ख़ास तौर पर जान-बूझकर अंग्रेजी व्यवस्था जारी की।

जमीन को इस ढंग से जायदाद बना देने से केवल एक बड़ा आर्थिक परिवर्तन ही नहीं हुआ, बल्कि उसका असर अधिक गहरा हुआ और उसने सहयोगपूर्ण सामुदायिक सामाजिक ढांचे की सारी हिंदुस्तानी धारणा पर ही चोट की। जमीन के मालिकों का एक नया वर्ग सामने आया—एक ऐसा वर्ग, जिसको ब्रिटिश सरकार ने खड़ा किया था और जो बहुत हद तक उस सरकार से मिला-जुला था। पुराने ढांचे के टूटने से नई समस्याएं पैदा हुईं और शायद इस नई हिंदू-मुस्लिम समस्या का आरंभ वहींपर पाया जा सकता है। जमींदारी प्रथा पहले-पहल बंगाल और बिहार में जारी की गई, जहां उस ढांचे में,जो स्थायी बंदोबस्त के नाम से मशहूर है, बड़े-बड़े जमींदार बनाए गए। बाद में यह अनुभव किया गया कि यह व्यवस्था सरकार के लिए लाभदायक नहीं है; क्योंकि मालगुजारी तै थी, और बढ़ाई नहीं जा सकती थी। इसलिए हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में कुछ निश्चित समय के ही लिए नया बंदोबस्त किया गया। यहां समय-समय पर मालगुजारी बढ़ती रही। कुछ सूबों में किसानों को ही मालिक बनाया गया। मालगुजारी की वसूली में बेहद कड़ाई के कारण सभी जगह, और विशेषकर बंगाल में, यह नतीजा हुआ कि पुराने जमीन के मालिक बरबाद हो गए और उनकी जगह नये मालदार व्यापारियों ने ले ली। इस तरह बंगाल मुख्यतया हिंदू जमींदारों का प्रांत हो गया और यद्यपि उनके काश्तकार हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे, तथापि उनमें अधिकतर मुसलमान ही थे।

अंग्रेजों ने अपने अंग्रेजी नमूने के बड़े-बड़े जमींदार बनाये और उसकी मुख्य वजह यह थी कि कुछ थोड़े-से आदमियों से व्यवहार करना और निबटना कहीं अधिक सहज था, बनिस्बत इसके कि काश्तकारों की

एक बहुत बड़ी संख्या से सीधा व्यवहार किया जाय। उद्देश्य तो यह था कि लगान के रूप में, अधिक-से-अधिक रुपया जल्दी से-जल्दी वसूल किया जाय।

इसके अतिरिक्त हिंदुस्तानी सना थी, जिसमें अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों सिपाही होते, लेकिन अफसर बहुधा सिर्फ अंग्रेज ही होते। इसका बार बार, विशेषकर १८५७ के विद्रोह के बाद, पुनर्संगठन किया गया, और अंत में संगठन की दृष्टिसे यह ब्रिटिश फौज की एक इकाई बन गई। इसका प्रबंध इस तरह किया गया कि इसके विभिन्न भागोंमें एक सम-तौल बना रहे और बड़ी जगहें अंग्रेजों के पास रहें। "मुख्य बात तो यह है कि काफी यूरोपीय फौजों के द्वारा स्थिति वश में रहे, नहीं तो देश के लोगों का एक-दूसरे के विरुद्ध जोड़-तोड़ लगाया जाय।" यह बात १८५८ की फौज के पुन-संगठन के सिलसिले में सरकारी रिपोर्ट में कही गई है। इस फौज का सबसे पहला काम वह था जो एक अधिकार बना रखनेवाली फौज का होता है। इसको 'आंतरिक सुरक्षा-फौज' कहा जाता था और इसका अधिक भाग ब्रिटिश था। सरहदी सूबे में, हिंदुस्तानी खर्चे पर, अंग्रेजी फौजों के सीखने का मैदान कायम हुआ था। 'फील्ड आर्मी', जिसमें अधिकतर हिंदुस्तानी थे, विदेशों में लड़ने के लिए थी, और उसने कई ब्रिटिश साम्राज्यवादी लड़ाइयों में, भाग लिया और इसके खर्चे का बोझ हिंदुस्तान पर डाला गया। इस बात का भी प्रबंध किया गया कि हिंदु-स्तानी सेना शेष जनसंख्या से अलग रहे।

निश्चय ही हिंदुस्तान में रेलों का बनाना बहुत आवश्यक और अच्छा था; लेकिन उसमें बेहद अपव्यय किया गया। हिंदुस्तानी सरकार ने उस सारी पूंजी पर, जो उसमें लगी, ५% व्याज देने की गारंटी कर दी और कितने खर्चे की उचित रूप से आवश्यकता थी, इसका अनुमान या इसकी जांच करना भी आवश्यक नहीं समझा। सारी खरीदारियां इंग्लैंड में हुईं।

सरकार का सिविल (असैनिक) ढांचा भी अपव्यय से भरा हुआ था और उसमें ऊंची तनख्वाहोंवाली जगहें यूरोपियनों के लिए सुरक्षित थीं। शासनयंत्र को हिंदुस्तानी बनाने की गति बहुत धीमी थी, और वह भी

केवल बीसवीं सदी में ही दिखाई दी। यह प्रक्रिया हिंदुस्तानी हाथों में शक्ति लाने के बजाय ब्रिटिश-राज्य को सुदृढ़ करने का एक और दूसरा प्रकार सिद्ध हुई। वास्तविक महत्व की जगहें ब्रिटिश हाथों में बनी रहीं और शासन में हिंदुस्तानी ब्रिटिश-राज्य के एजेंटों की तरह ही काम कर सकते थे।

इन सब युक्तियों के अतिरिक्त वह नीति थी जो ब्रिटिश-राज्य के युग में बराबर जान-बूझकर बरती गई, जिसमें हिंदुस्तानियों में फूट डाली गई और एक गिरोह को, दूसरे गिरोह पर चोट पहुंचाते हुए, बढ़ावा दिया गया। ब्रिटिश-राज्य के आरंभ के काल में इस नीति को खुले तौर पर स्वीकार किया गया और वास्तव में एक साम्राज्यवादी शक्ति के लिए यह नीति स्वाभाविक थी। राष्ट्रीय आंदोलन की उन्नति के बाद इस नीति ने एक कुटिल और अधिक भयानक रूप ले लिया और यद्यपि इस नीति के अस्तित्व को माना नहीं गया, लेकिन इसको पहले से भी अधिक तीव्रता से बरता गया।

४ : हिंदुस्तान में ब्रिटिश-राज्य के विरोधाभास : राममोहन राय : समाचारपत्र : बंगाल में अंग्रेज़ी-शिक्षा

हिंदुस्तान में ब्रिटिश-राज्य के इतिहास पर विचार करते हुए हमको पग-पग पर एक विशेष विरोधाभास मिलता है। अंग्रेजों का हिंदुस्तान में इसलिए आधिपत्य हुआ और वे दुनिया की एक प्रमुख शक्ति इसलिए बन गए, कि वे बड़ी मशीनों की नई औद्योगिक संस्कृति के अगुआ थे। वे एक ऐसी नई ऐतिहासिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे, जो दुनिया को बदलने जा रही थी, और यद्यपि उनको पता नहीं था, वे परिवर्तन और क्रांति के प्रवर्तक थे। फिर भी सिवाय उस परिवर्तन के, जो उन्हें अपनी स्थिति सुदृढ़ करने और देश और जनता का अपने लाभ के लिए शोषण करने के सिलसिले में आवश्यक मालूम हुए, उन्होंने हर तरह के परिवर्तन को जान-बूझकर रोका। उनका उद्देश्य और दृष्टिकोण प्रति-

क्रियावादी था। कुछ हद तक तो उसकी वजह, उस सामाजिक वर्ग की पृष्ठभूमि थी, जिसके कि वे सदस्य थे; लेकिन विशेषकर उसकी वजह यह थी कि वे जान-बूझकर प्रगतिशील दिशा में परिवर्तन को रोकना चाहते थे, क्योंकि उस परिवर्तन से हिंदुस्तानी जनता सुदृढ़ होती और उसका नतीजा यह होता कि हिंदुस्तान पर अंग्रेजी प्रभुत्व घट जाता। जनता का डर उनकी सारी विचारधारा और सारी नीति में समाया हुआ था, क्योंकि न तो वे उस जनता में घुलना-मिलना ही चाहते थे और न वे ऐसा कर ही सकते थे। उनको तो एक विदेशी शासक-समुदाय की तरह अलग, और एक बिल्कुल भिन्न और विरोधी जनता से घिरा रहना था। परिवर्तन हुए, और कुछ तो प्रगतिशील दिशाओं में भी हुए, लकिन वे ब्रिटिश नीति के बावजूद हुए, यद्यपि उनको उत्तेजना, पच्छिम के संपर्क में आने से, अंग्रेजों द्वारा ही मिली।

व्यक्तिगत रूप से अंग्रेजों ने, जिनमें शिक्षा-प्रसार में दिलचस्पी रखनेवाले लोग थे, पूर्व में दिलचस्पी रखनेवाले लोग थे, संपादक थे और मिशनरी लोग थे, और साथ ही और दूसरे आदमियों ने, हिंदस्तान में पच्छिमी संस्कृति लाने में एक महत्वपूर्ण भाग लिया और अपनी इस कोशिश में उनको बहुधा स्वयं अपनी सरकार से झगड़ना पड़ा। उस सरकार को आधुनिक शिक्षा-प्रसार के प्रभाव का डर था और इसीसे उसने उनके रास्ते में बहुत-सी अड़चनें डालीं, फिर भी हिंदुस्तान में अंग्रेजी विचार, साहित्य और राजनैतिक-परंपरा का प्रवेश करा देने का श्रेय उन योग्य और उत्सुक अंग्रेजों को है, जिन्होंने अपने चारों तरफ हिंदुस्तानी विद्यार्थियों के उत्साही समुदायों को इकट्ठा किया और जिन्होंने अपनी संस्कृति के फैलाने की बड़ी जोरदार कोशिशें कीं। खुद ब्रिटिश-सरकार भी, जिसको शिक्षा नापसंद थी, परिस्थितियों से विवश हुई और उसको अपने बढ़ते हुए काम के लिए क्लर्कों के तैयार करने और उनको शिक्षा देने का प्रबंध करना पड़ा। इन छोटी-छोटी जगहों में काम करने के लिए इंग्लैंड से बड़ी संख्या में आदमियों को लाकर रखना उसकी बिसात के बाहर था। इस तरह धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार हुआ, और यद्यपि वह बहुत सीमित थी और गलत ढंग की थी, फिर भी उसने नये और

सक्रिय विचारों के लिए मस्तिष्क को प्रवृत्त किया।

छापने की मशीन को, और वास्तव में हरएक मशीन को ही, हिंदुस्तानी मस्तिष्क के लिए भड़कानेवाली और खतरनाक समझा गया। उनको किसी भी ढंग से बढ़ावा नहीं देना था, क्योंकि उससे औद्योगिक उन्नति हो सकती थी और राजद्रोह फैल सकता था। लेकिन जहां निजी छापेखानों को बढ़ावा नहीं दिया गया, वहां साथ-ही सरकार का काम विना छपाई के चल नहीं सकता था और इसलिए कलकत्ता, मद्रास और दूसरी जगहों में सरकारी छापेखाने खोले गए। पहला निजी छापाखाना बैप्टिस्ट पादरियों ने श्रीरामपुर में चलाया और पहला अखबार एक अंग्रेज ने कलकत्ते में सन् १७८० में निकाला।

पच्छिम का असली प्रभाव और संघर्ष तो जीवन के व्यावहारिक पहलू पर हुआ, जो स्पष्टतया पूर्व की अपेक्षा श्रेष्ठतर था। नये तरीकों की---रेल, छापेखानों, दूसरी मशीनों और लड़ाई के अधिक होशियारी के तरीकों की---अवहेलना नहीं की जा सकती थी। ये तरीके, परोक्ष रूप से पुराने तरीकों को धकेलकर ऊपर आगए और हिंदुस्तान के मस्तिष्क में संघर्ष पैदा हुआ। सबसे अधिक स्पष्ट और गहरा परिवर्तन यह था कि पुरानी खेतिहरी की व्यवस्था हट गई और उसकी जगह वैयक्तिक संपत्ति और जमींदारी की विचारधारा ने ली, अर्थ-व्यवस्था का आधार पैसा हो गया और जमीन एक खरीदारी की चीज हो गई। जो चीज पहले रिवाज के बल पर दृढ़ता से जमी हुई थी, अब रुपये से उखड़ गई।

खेती संबंधी, शिक्षा-संबंधी, टेकनीकल और बौद्धिक---ये सभी परिवर्तन हिंदुस्तान के और दूसरे हिस्सों से बहुत पहले बंगाल में देखने में आए। उसकी वजह यह थी कि बंगाल में दूसरे प्रदेशों की अपेक्षा ब्रिटिश-राज्य ५० बरस पहले स्थापित हो चुका था। इसीसे अठारहवीं सदी के पिछले पचास बरसों में और उन्नीसवीं सदी के पहले पचास बरसों में, बंगाल ने ब्रिटिश भारतीय जीवन में एक प्रमुख भाग लिया। बंगाल सिर्फ ब्रिटिश शासन का ही केंद्र नहीं था, बल्कि उसने अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिंदुस्तानियों के पहले दल को तैयार किया, जो ब्रिटिश-शक्ति की छाया में ही हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में फैल गए। बंगाल में, उन्नी-

सवीं सदी में, कितने-ही महापुरुष उत्पन्न हुए, जिन्होंने शेष हिंदुस्तान का सांस्कृतिक और राजनैतिक मामलों में पथ-प्रदर्शन किया, और उन्हीं-के प्रयत्नों से आगे चलकर नया राष्ट्रीय आंदोलन साकार हुआ।

ब्रिटिश राज्य से पहले बंगाल मुगल-साम्राज्य का एक वाहरी सूवा था। मध्यकालीन युग के आरंभ में वहां के हिंदुओं में कई गंदे ढंग की पूजाएं और तांत्रिक रस्म-रिवाज चालू थे। तव हिंदू-सुधार-आंदोलन आरंभ हुआ और उसका सामाजिक रीतियों और कानूनों पर असर हुआ। चैतन्य ने, जो एक वड़े विद्वान् थे और वड़ी निष्ठा और भावना के व्यक्ति थे, श्रद्धा की वुनियाद पर एक प्रकार का वैष्णव धर्म स्थापित किया और बंगाल की जनता पर बहुत प्रभाव डाला। बंगालियों में ऊंची बौद्धिक प्रतिभा और उतनी-ही दृढ़ भावुकता का एक विचित्र सम्मिश्रिण हुआ। उन्नीसवीं सदी के पिछले बरसों में प्रेम और मानव-सेवा की निष्ठा की इस परंपरा के एक-दूसरे संत-स्वभाव के व्यक्ति रामकृष्ण परमहंस थे। उनके नाम पर एक सेवा की संस्था स्थापित हुई जिसकी सामाजिक सेवाओं का लेखा बेजोड़ है। रामकृष्ण मिशन के सदस्य धैर्य और प्रेम के साथ सेवा करने के आदर्श से भरे हुए हैं, और कुशल हैं, और उनमें दिखावा नहीं है। ये लोग चिकित्सालय और शिक्षा-संबंधी संस्थाएं चलाते हैं, और जव कभी हिंदुस्तान में कहीं भी और कभी-कभी विदेशों में कोई व्यापक दुर्घटना होती है, तो वे वहां की पीड़ित जनता को सहारा देने में और उनकी सेवा करने में लग जाते हैं।

रामकृष्ण पुरानी हिंदुस्तानी परंपरा के प्रतिनिधि थे। उनसे पहले, अठारहवीं सदी में ही बंगाल में एक और प्रमुख व्यक्ति हो चुके थे। वह थे राजा राममोहन राय। वह एक नये ढंग के आदमी थे। उनमें पुरानी और नई दोनों ही तरह की शिक्षा का मेल था। वह हिंदुस्तानी विचारधारा और हिंदुस्तानी दर्शनशास्त्र से सुपरिचित थे, और साथ-ही वह संस्कृत, अरबी और फारसी के विद्वान् थे। वह उस हिंदू-मुस्लिम संस्कृति की उपज थे, जो उस समय हिंदुस्तान के सुसंस्कृत वर्ग के लोगों में फैली थी। हिंदुस्तान में अंग्रेजों के आने से और साथ ही उनकी कई तरह श्रेष्ठता

की वजह से, राममोहन राय के जिज्ञासु और साहसी मस्तिष्क ने, उनकी संस्कृति के आधारों को जानना चाहा। उन्होंने अंग्रेजी पढ़ी, लेकिन इतना ही पर्याप्त न था—उन्होंने पश्चिम के धर्म और वहां की संस्कृति के स्रोत को खोज पाने के लिए यूनानी, लातीनी और इब्रानी भाषाएं पढ़ीं। दार्शनिक और विद्वत्तापूर्ण रुचि की वजह से राममोहन राय अनिवार्य रूप से पुराने साहित्य की ओर झुके। उनके विषय में चर्चा करते हुए पूर्वी विषयों के जानकार मानियर विलयम्स ने कहा है—"दुनिया के वह पहले आदमी हैं, जिन्होंने धर्मों का आपस में मिलान करते हुए अध्ययन करने की परिपाटी में खोज की।" फिर भी, साथ-ही-साथ, वे शिक्षा को आधुनिक ढांचे में ढालने के लिए चिंतित थे, और उसे पुरानी परिपाटी के चंगुल से निकालना चाहते थे। उन प्रारंभ के दिनों में भी वह वैज्ञानिक तरीकों के पक्ष में थे, और उन्होंने गवर्नर-जनरल को गणित, भौतिक-विज्ञान, रसायन, जीव-विज्ञान आदि दूसरी उपयोगी विद्याओं की, शिक्षा की आवश्यकता पर जोर देते हुए लिखा।

वह केवल एक विद्वान् और अन्वेषक ही नहीं थे, वह एक सुधारक भी थे। आरंभ में उनपर इस्लाम का असर हुआ था, और बाद में कुछ हद तक ईसाई-धर्म का, लेकिन फिर भी वह अपने धर्म पर दृढ़ता के साथ जमे रहे। हां, उस धर्म को उन्होंने उन कुरीतियों और कुप्रथाओं से, जो उस समय उससे जुड़ गई थीं, छुड़ाने की कोशिश की। सती-प्रथा को बंद करने के लिए उन्हींके आंदोलन की वजह से विशेष-रूप से सरकार ने उसपर रोक लगाई।

राममोहन राय हिंदुस्तानी अखबारों के स्थापित करनेवालों में एक थे। सन् १८८० के बाद हिंदुस्तान के अंग्रेजों ने कई अखबार निकाले। ये साधारणतया सरकार की कड़ी आलोचना करते और सरकार से बहुधा उनका झगड़ा होता और उनपर प्रतिबंध रहता। हिंदुस्तान में अखबारों की स्वतंत्रता के लिए सबसे पहले अंग्रेजों ने आवाज उठाई। इन अंग्रेजों में से एक जेम्स सिल्क बकिंघम थे, जिनकी अब भी याद की जाती है। सरकार की वजह से इनको हिंदुस्तान छोड़कर बाहर जाना पड़ा। पहला अखबार, जिसपर हिंदुस्तानी नियंत्रण था

और जिसका संपादन भी हिंदुस्तानियों किया, सन् १८१८ में (अंग्रेजी भाषा में) निकला। और उसी साल श्रीरामपुर के बैप्टिस्ट पादरियों ने बंगला में दो पत्र---एक मासिक और एक साप्ताहिक---निकाले। हिंदुस्तानी भाषा में सामयिक रूप से निकलनेवाले ये पहले पत्र थे। उसके वाद अंग्रेजी में और हिंदुस्तानी भाषाओं में कई अखवार और कई सामयिक पत्र कलकत्ता, वंबई और मद्रास से कुछ ही समय के अंदर निकलने लगे। इसी वीच में अखवारों की स्वतंत्रता के लिए लड़ाई शुरू हो चुकी थी। सन् १८१८ में सुपरिचित रेगुलेशन नं० ३ का जन्म हुआ, जिसके अनुसार किसी व्यक्ति को विना मुकदमा चलाये नजरबंद किया जा सकता था।

राममोहन राय का कई अखवारों से संबंध था, उन्होंने अंग्रेजी और बंगला इन दो भाषाओं की मिली-जुली एक पत्रिका निकाली और वाद में उन्होंने एक साप्ताहिक पत्र फारसी भाषा में प्रकाशित किया, जिसका सारे हिंदुस्तान में चलन हो सके। उस समय हिंदुस्तान में फारसी ही सारे संस्कृत समाज की भाषा थी। लेकिन १८२३ में प्रेस-नियंत्रण के लिए नये कानून वनने पर, इसको बंद होना पड़ा। राममोहन राय ने और दूसरे आदमियों ने इस कानून का प्रवल विरोध किया; यहां-तक कि उन्होंने इंग्लैंड में मंत्रिमंडल के पास एक प्रार्थना पत्र भेजा।

राममोहन राय के संपादकीय काम का विशेषकर उनके सुधार-आंदोलन से संबंध था। कट्टर समुदायों को उनका समन्वयवादी और विश्व-बंधुत्व का दृष्टि-विंदु वहुत नापसंद था और वे उनके वहुत-से सुधारों का भी विरोध करते थे। लेकिन उनके अपने भी कट्टर समर्थक थे। इन्हीं में टैगोर-परिवार भी था, जिसने वाद में बंगाल की नई जागृति में एक मुख्य भाग लिया। राममोहन राय दिल्ली सम्राट् की ओर से इंग्लैंड गए और वहीं ब्रिस्टल में उनकी मृत्यु हो गई।

राममोहन राय ने, और टैगोर-कुटुंव ने अंग्रेजी घर पर पढ़ी। कोई अंग्रेजी स्कूल या कालेज उस समय नहीं थे और सरकारी नीति हिंदुस्तानियों को अंग्रेजी सिखाने के घोर विरोध में थी। सन् १७८१ में सरकार ने कलकत्ते में हिंदू कालेज और कलकत्ता मदरसा स्थापित किये।

पहली संस्था संस्कृत की पढ़ाई के लिए थी, और दूसरी संस्था अरबी की पढ़ाई के लिए। सन् १७८१ में बनारस में एक संस्कृत कालेज खोला गया। शायद १८१० के बाद ईसाई पादरियों की तरफ से अंग्रेजी सिखाने के लिए कुछ स्कूल खुले। सन् १८१० के बाद सरकारी क्षेत्रों में भी ऐसे विचार के लोग हुए, जो अंग्रेजी पढ़ाने के पक्षपाती थे, लेकिन उनके मत का विरोध किया गया। जो भी हो, प्रयोग के रूप में दिल्ली के अरबी स्कूल में अंग्रेजी कक्षाएं भी शुरू की गई और ऐसी कक्षाएं कलकत्ता की कुछ संस्थाओं में भी खोली गईं। अंग्रेजी पढ़ाने के पक्ष में अंतिम निर्णय सन् १८३५ के फरवरी के मैकॉले के शिक्षा-संबंधी नोट से हुआ। बाद में कलकत्ते में प्रेसीडेंसी कालेज स्थापित हुआ। सन् १८५७ में कलकत्ता, बंबई और मद्रास की यूनिवर्सिटियों का काम शुरू हुआ।

अगर एक तरफ हिंदुस्तान में ब्रिटिश-शासन हिंदुस्तानियों को अंग्रेजी पढ़ाने के विरुद्ध था, तो दूसरी ओर ब्राह्मण विद्वान् कुछ दूसरे ही कारणों से, अंग्रेजों को संस्कृत पढ़ाने के और भी अधिक विरुद्ध थे। जब सर विलियम जोन्स, जो पहले से ही कई भाषाएं जानते थे और जो एक बड़े विद्वान् थे, हिंदुस्तान के सुप्रीम कोर्ट के जज बनकर आए, तो उन्होंने संस्कृत सीखने की अपनी इच्छा प्रकट की। और यद्यपि बहुत बड़ा पारितोषिक देने को कहा गया, लेकिन कोई भी ब्राह्मण एक विदेशी और विधर्मी को देववाणी सिखाने को तैयार नहीं हुआ। जोन्स को अंत में बहुत कठिनाई से एक अ-ब्राह्मण वैद्य मिले, जो अपनी विशेष शर्तों पर ही संस्कृत पढ़ाने को तैयार थे। हिंदुस्तान की प्राचीन भाषा को सीखने के लिए जोन्स इतने अधिक उत्सुक थे कि उन्होंने सारी शर्तें मान लीं। संस्कृत ने, और विशेषकर पुराने भारतीय नाटकों ने उनको मोह लिया। उन्हींके लेखों और अनुवादों से यूरोप को पहली बार संस्कृत साहित्य के भंडार की झलक मिली। सन् १७८४ में जोन्स ने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित की, जो बाद में रायल एशियाटिक सोसाइटी कहलाई। हिंदुस्तान अपने प्राचीन साहित्य की खोज के लिए जोन्स और दूसरे यूरोपीय विद्वानों का बहुत आभारी है।

छापने की मशीन के चलन और उपयोग से प्रचलित हिंदुस्तानी

भाषाओं की वृद्धि को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला। इनमें से कुछ भाषाएं, जैसे हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिल और तेलगू बहुत काल से केवल प्रचलित ही नहीं थीं, बल्कि उनमें सहित्य-निर्माण हो चुका था। उनकी बहुत-सी पुस्तकें साधारण जनता में खूब प्रचलित थीं। अधिकतर ये महाकाव्य या कविताओं या गीतों और भजनों के संग्रह के रूप में होतीं, जिनको आसानी से याद रखा जा सकता था। उनमें उस समय प्रायः कोई गद्य साहित्य नहीं था। अधिक गंभीर लेख संस्कृत और फारसी में होते थे और प्रत्येक सुसंस्कृत आदमी के लिए उनमें से किसी एक को जानना जरूरी था। इन दो प्राचीन भाषाओं का एक प्रभाव का क्षेत्र रहा और उनसे आम लोगों की प्रांतीय भाषाओं की उन्नति में रुकावट हुई। पुस्तकों की छपाई से और अखबारों से इन प्राचीन भाषाओं का गढ़ टूटा और शीघ्र-ही प्रांतीय भाषाओं में गद्य-साहित्य की उन्नति हुई। उस समय के ईसाई पादरियों ने, विशेषकर श्रीरामपुर के बैप्टिस्ट मिशनरियों ने, इस काम में बहुत मदद की। गैर-सरकारी तौर पर पहले-पहल उन्होंने ही छापेखाने स्थापित किये थे और बाइबिल का हिंदुस्तानी भाषाओं में, गद्य में, अनुवाद करने के उनके प्रयत्नों को काफी सफलता मिली।

शिक्षा-प्रसार के सिलसिले में ईस्ट इंडिया कंपनी को जो झिझक थी, वह ठीक सिद्ध हुई, क्योंकि १८३० में कलकत्ते के हिंदू कालेज के विद्यार्थियों की एक टोली ने कुछ सुधारों की मांग की। उन्होंने कंपनी की राजनैतिक शक्ति को सीमित करने और अनिवार्य रूप से निःशुल्क शिक्षा देने की मांग की। हिंदुस्तान में निःशुल्क शिक्षा अति प्राचीन समय से प्रचलित थी। वह शिक्षा पुराने ढंग की थी, और कोई बहुत अच्छी या लाभदायक नहीं थी, लेकिन वह बिना किसी खर्च के गरीब विद्यार्थी को भी मिलती थी। उसमें शिक्षक की कुछ व्यक्तिगत सेवा करनी पड़ती थी। इस मामले में हिंदू और मुस्लिम परंपराएं एक-सी थीं।

जहां एक ओर इस नई शिक्षा के प्रसार को जान-बूझकर रोका गया, वहां बंगाल में पुरानी शिक्षा बहुत हद तक समाप्त कर दी गई थी।

जब अंग्रेज बंगाल में अधिकारी बन बैठे, तब मुआफी की जमीनें बहुत बड़ी मात्रा में थीं, अर्थात् उन जमीनों का सरकार को कोई लगान नहीं दिया जाता था। इनमें से बहुत-सी व्यक्तिगत थीं, लेकिन अधिकतर शिक्षा-संबंधी संस्थाओं के लिए दान के रूप में थीं। उनपर पुराने ढंग के प्रारंभिक स्कूलों की एक बहुत बड़ी संख्या का निर्वाह होता था। इनके अलावा कुछ ऊंची शिक्षा की फारसी की संस्थाएं थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी को इस बात की चिंता थी कि जल्दी से रुपया बनाया जाय, ताकि इंग्लैंड में हिस्सेदारों को डिविडेंड दिये जा सकें। डाइरेक्टरों का बराबर तकाजा बना रहता था। इसलिए जान-बूझकर यह नीति बरती गई कि इन मुआफी की जमीनों को जब्त कर लिया जाय। उनकी मुआफी के असली सबूत मांगे गए,लेकिन वे पुरानी सनदें या तो खो गई थीं या उनको दीमक ने खा लिया था। इसलिए ये मुआफियां रद्द कर दी गईं, उन लोगों से कब्जा छीन लिया गया और स्कूलों और कालिजों के निर्वाह की आमदनी का अंत हो गया। इस तरह एक बहुत बड़ा इलाका छीना गया और बहुत-से पुराने घराने नष्ट हो गए। वे शिक्षण-संस्थाएं जो इस मुआफी पर गुजर करती थीं, बंद हो गईं और उनसे संबंध रखनेवाले अध्यापकों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार हो गई।

इस प्रकार बंगाल का पुराना सामंती वर्ग, जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे, और साथ ही वे लोग, जो इनके सहारे गुजर करते थे, बरबाद हुए। एक वर्ग के रूप में मुसलमान अधिक सामंतवादी थे और मुआफी का लाभ उठानेवाले भी अधिकतर वे ही थे, इसलिए हिंदुओं की अपेक्षा उनकी अधिक हानि हुई।

अंग्रेजी शिक्षा से हिंदुस्तानी क्षितिज विस्तृत हुआ, अंग्रेजी साहित्य और संस्थाओं के लिए दिल में आदर हुआ, हिंदुस्तानी जीवन के कुछ पहलुओं और उसकी कुछ रीतियों के खिलाफ विद्रोह हुआ और राजनैतिक सुधार की मांगें बढ़ीं। इस नये पेशेवर वर्ग ने राजनैतिक हलचल में नेतृत्व किया और सरकार के सामने अपने पक्ष को रखा। वास्तव में अंग्रेजी पढ़े-लिखे इन पेशेवर लोगों का एक नया वर्ग बन गया, जो आगे चलकर सारे ही हिंदुस्तान में फैलनेवाला था। यह एक ऐसा वर्ग

था, जिसपर पच्छिमी विचारों और रीतियों का असर था और जो आम लोगों से अलग रहा करता था। सन् १८५२ में कलकत्ते में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन स्थापित हुआ। यह इंडियन नेशनल कांग्रेस का अग्रज था, लेकिन अभी सन् १८८५ में होनेवाली कांग्रेस के आरंभ तक तो एक पीढ़ी का विलंब था। इस काल में १८५७-५८ का विद्रोह हुआ, उसका दमन हुआ, और उसके नतीजे सामने आए। उस सदी के बीच में बंगाल और उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान में जो अंतर था, वह यह था, कि जहां एक ओर बंगाल में नये पढ़े-लिखे (ख़ासतौर से हिंदू लोग) अंग्रेजी साहित्य और विचारों से प्रभावित हो चुके थे, और राजनैतिक संवैधानिक सुधार के लिए इंग्लैंड की तरफ आंखें लगाये हुए थे, वहां दूसरी तरफ़ ये दूसरे हिस्से विद्रोह की भावनाओं से खौल रहे थे।

और जगहों की अपेक्षा बंगाल में ब्रिटिश राज्य का और पच्छिम का असर अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। खेतिहरी अर्थ-व्यवस्था बिल्कुल टूट गई थी, और पुराना सामंती वर्ग समाप्त कर दिया गया था। उनकी जगह जमीन के नये मालिक आ गए थे, जिनका जमीन से परंपरा का लगाव बहुत ही कम था, और जिनमें पुराने सामंती जमींदारों के गुण तो प्राय कोई भी नहीं थे, लेकिन जिनमें उनकी अधिकतर बुराइयां अवश्य थीं। किसानों को अकाल और लूट का सामना करना पड़ा, और वे बेहद ग़रीब हो गए। तरह-तरह के कारीगर लोगों के वर्ग तो क़रीब-क़रीब मिटा ही दिये गये। इन टूटी-फूटी बुनियादों पर ऐसे नये समुदाय और नए वर्ग खड़े हुए जो ब्रिटिश राज्य की उपज थे और जो उससे कितने ही रूपों में संबंधित थे। साथ ही वे सौदागर लोग थे, जो ब्रिटिश कारबार और तिजारत के दलाल थे और जो उसकी जूठन से पलते थे। इनके अलावा छोटी नौकरियों में और विद्वत्तापूर्ण व्यवसायों में वे पढ़े-लिखे लोग थे; जो विभिन्न परिमाण में अंग्रेजी विचारों से प्रभावित हुए थे और जो प्रगति के लिए ब्रिटिश शक्ति की ओर आशा से आंखें लगाये हुए थे। इनमें हिंदू समाज के सामाजिक ढांचे और उसकी कट्टर रीतियों के विरुद्ध विद्रोह हुआ। उन्होंने प्रेरणा के लिए अंग्रेजी उदारता और संस्थाओं की ओर आंखें उठाईं।

ब्रिटिश संबंध के आरंभ के ये सब परिणाम और विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक और राजनैतिक आंदोलन, जो उनकी वजह से बंगाल में हुए, हिंदुस्तान में और दूसरी जगहों में भी दिखाई देते हैं, लेकिन कम और अलग-अलग परिमाण में। दूसरी जगहों में सामंती ढांचे का और पुरानी अर्थ-व्यवस्था का अंत धीरे-धीरे हुआ और अपेक्षाकृत कम हद तक हुआ। वास्तव में उस ढांचे ने विद्रोह किया, और यहां-तक, कि कुचले जाने के बाद भी वह थोड़ा-बहुत बच रहा। उत्तरी हिंदुस्तान के मुसलमान, बंगाल के अपने धर्म-भाइयों की अपेक्षा सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से ऊंचे थे, लेकिन पच्छिमी शिक्षा से वे भी अलग रहे। हिंदुओं ने इस शिक्षा को अधिक सरलता से अपनाया और वे पच्छिमी विचारों से अधिक प्रभावित हुए।

५ : सन् १८५७ का बड़ा ग़दर : जातीय अहंकार

लगभग एक सदी तक ब्रिटिश-शासन में रहकर बंगाल ने उससे अपना मेल बिठा लिया था। किसान अकाल से बरबाद होगए थे और नये आर्थिक बोझों से पिस रहे थे। नये पढ़े-लिखे लोग पच्छिम की तरफ़ देख रहे थे और यह आशा कर रहे थे कि अंग्रेजी उदारता के परिणाम-स्वरूप उन्नति होगी। यही बात कमो-बेश दक्खिनी और पच्छिमी हिंदुस्तान में, मद्रास और बंबई में थी। लेकिन उत्तरी सूबों में इस तरह का कोई भी रुझान नहीं था और विद्रोह की भावना आम जनता में, और विशेषकर सामंती सरदारों और उनके अनुयायियों में बढ़ रही थी। जनता में भी असंतोष और जोरदार ब्रिटिश-विरोधी भावनाएं ख़ूब फैली थीं। ऊंचे वर्ग के लोगों को इन विदेशियों की अकड़ और उनका अपमानजनक व्यवहार बहुत अखरता। जनता को ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों के लालच या अनजानपन की वजह से बहुत कष्ट उठाने पड़ते थे। ये अधिकारी उनकी बहुत काल से प्रचलित रीतियों की अवहेलना करते और देशवासियों के विचारों पर कोई ध्यान ही नहीं देते। एक बहुत बड़ी जनसंख्या पर मनमानी करने की शक्ति से उनके मस्तिष्क फिर गए थे और उन्हें कोई भी रोक सह्य नहीं थी। यहांतक कि

नई न्याय-प्रणाली, जो उन्होंने स्थापित की, वह भी एक आतंक की वस्तु बन गई, क्योंकि एक तो उसमें बहुत-सी उलझनें थीं और दूसरे न्यायाधीश देश की भाषा और प्रथाओं से अपरिचित थे।

मई सन् १८५७ में, मेरठ की हिंदुस्तानी फौज ने विद्रोह किया। विद्रोह का गुप्त रूप स बहुत अच्छा संगठन किया गया था। लेकिन नियत समय से पहले ही इस उभार से नेताओं की सारी योजना ही बिगड़ गई। यह केवल एक सैनिक विद्रोह से कहीं अधिक बड़ी चीज थी। उसने बड़ी तेजी से एक बड़े विद्रोह का रूप ले लिया, और वह हिंदुस्तानी स्वतंत्रता की लड़ाई बन गई। साधारण जनता के सार्वजनिक विद्रोह के रूप में यह लड़ाई दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों तक ही सीमित थी। मुख्यतः यह एक सामंतवादी विद्रोह था, जिसके अगुआ सामंत सरदार या उनके साथी थे और जिसमें विदेशी-विरोधी व्यापक भावनाओं से सहायता मिली। अनिवार्य रूप से इसकी निगाह बचे-खुचे मुग़ल-राजवंश पर थी, जो अब भी दिल्ली के महलों में था; लेकिन दुर्बल, अशक्त और बूढ़ा हो गया था। इस विद्रोह में हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों ने ही भाग लिया।

इस विद्रोह में ब्रिटिश-शासन को अपना पूरा-पूरा जोर लगाना पड़ा। लेकिन अंत में उसका दमन हिंदुस्तानी सहायता से ही हुआ। पुराने शासन की सारी जन्मजात कमजोरियां ऊपर आगईं। यह शासन विदेशी राज्य को उखाड़ फेंकने की अपनी अंतिम जी-तोड़ कोशिश कर रहा था। सामंती सरदारों को विस्तृत प्रदेशों में आम जनता की सहानुभूति प्राप्त थी, लेकिन वे लाचार थे, असंगठित थे और उनके सामने कोई रचनात्मक आदर्श या सामूहिक हित के उद्देश्य नहीं थे। इतिहास में वे अपना भाग अदा कर चुके थे और आगे उनके लिए कोई जगह नहीं थी। उनमें ऐसे भी बहुत-से लोग थे, जिनकी विदेशी राज्य के विरुद्ध होनेवाले विद्रोह से सहानुभूति तो थी, लेकिन जिन्होंने सयानेपन से काम लिया और अलग खड़े हुए इस बात को देखते रहे कि कौनसा पक्ष अधिक सबल है और किसकी जीत की संभावना है। बहुत-से लोगों ने

देशद्रोहियों का काम किया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानी रजवाड़े या तो अलग रहे, या उन्होंने अंग्रेजों की मदद की, क्योंकि जो कुछ भी उनके पास था, उसे जोखिम में वे डालना न चाहते थे। नेताओं में कोई भी राष्ट्रीय एकता लानेवाली भावना नहीं थी, केवल एक विदेशी-विरोधी भावना थी और उसके साथ अपने सामंतवादी विशेषाधिकारों को बनाए रखने की इच्छा थी ; और यह उस राष्ट्रीय भावना की जगह नहीं ले सकती थी।

विद्रोह में छापामार लड़ाई करनेवाले कुछ मारके के नेता सामने आए। उनमें एक तो फीरोजशाह था, जो दिल्ली के बहादुरशाह का संबंधी था। लेकिन उनमें सबसे ज़्यादा प्रतिभावान नेता था तांत्या टोपी, जिसने अंग्रेजों को उस समय भी कितने-ही महीनों तक परेशान किया, जबकि हार उसके सामने स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही थी। अंत में वह नर्मदा को पार करके मराठा प्रदेशों में अपने-ही आदमियों से स्वागत और सहायता पाने की आशा से पहुंचा। उसका स्वागत तो हुआ ही नहीं बल्कि उसके साथ दग़ा भी की गई। इन सबके ऊपर एक नाम और है जिसके लिए साधारण जनता के मन में अब भी सम्मान है, और वह नाम है लक्ष्मीबाई का, जो झांसी की रानी थी, जिसकी अवस्था बीस बरस की थी और जो लड़ते-लड़ते मर गई। उन अंग्रेज सेनापतियों ने, जिन्होंने उसका सामना किया, उसके बारे में यह कहा कि वह विद्रोही नेताओं में 'सर्वोत्तम और सबसे ज़्यादा बहादुर' थी।

ग़दर के अंग्रेजी स्मारक कानपुर में और दूसरी जगहों में बना दिये गए हैं। उन हिंदुस्तानियों के, जिन्होंने अपनी जानें दीं, कोई स्मारक नहीं हैं। कभी-कभी विद्रोही हिंदुस्तानियों ने बड़ा क्रूर और बर्बरता-पूर्ण व्यवहार किया—वे लोग असंगठित थे, दबे हुए थे और वे अक्सर ब्रिटिश अत्याचारों की ख़बरों से नाराज़ हो उठते थे। लेकिन इस तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है, जिसने हिंदुस्तान के मस्तिष्क पर अपनी छाप डाली और मेरे सूबे में तो विशेष रूप से, गांवों और क़सबों में, उसकी याद बनी हुई है। प्रत्येक व्यक्ति उसको भूल जाना चाहेगा, क्योंकि वह एक बड़ी भयानक और घृणास्पद तस्वीर है और यद्यपि वर्तमान युद्ध

में नाज़ियों द्वारा बर्बरता के नये मापदंड बन गए हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उसमें मनुष्य अपने बुरे-से-बुरे रूप में सामने आता है।

यद्यपि विद्रोह का सीधा प्रभाव देश के कुछ हिस्सों पर ही हुआ, लेकिन उसने सारे हिंदुस्तान को, और विशेषकर ब्रिटिश शासन को झकझोर दिया। सरकार ने फिर से सारे ढांचे का संगठन किया। ब्रिटिश ताज ने, अर्थात् पार्लमेंट ने, देश को ईस्ट इंडिया कंपनी से अपने हाथों में ले लिया। हिंदुस्तानी सेना, जिसने विद्रोह का आरंभ किया था, नये सिरे से संगठित हुई। ब्रिटिश-राज्य की—जो अब अच्छी तरह स्थापित हो चुका था—प्रणाली अब स्पष्ट की गई, दृढ़ की गई और उसके अनुसार काम किया जाने लगा। उसकी बुनियादी बातें ये थीं: ऐसे निहित स्वार्थों को बनाये रखना और उनकी रक्षा करना, जो ब्रिटिश शासन से बंधे हुए थे, और यहां के विभिन्न भागों में संतुलन बनाए रखने की नीति और फूट डालनेवाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना।

राजा और बड़े ज़मींदार वे बुनियादी निहित स्वार्थ थे जो इस तरह पैदा किये गए और जिनको बढ़ावा दिया गया। लेकिन एक नया वर्ग और था, जो ब्रिटिश शासन से बंधा हुआ था और अब उसका महत्व बढ़ा। यह वर्ग उन हिंदुस्तानियों का था, जो नौकरियों में और विशेषकर छोटी जगहों पर थे।

नीचे की नौकरियों में भारतीयकरण का क्रम आरंभ हो गया था, यद्यपि सभी वास्तविक शक्ति अंग्रेजों के हाथ में थी। ज्यों-ज्यों अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ, नौकरियों में बंगालियों का एकाधिपत्य कम हुआ और शासन के न्याय और व्यवस्था-संबंधी दोनों ही विभागों में और दूसरे हिंदुस्तानी भी आए। यह भारतीयकरण ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ करने का सबसे अधिक कारगर उपाय हो गया। इस तरह हर जगह एक ऐसी सिविल फ़ौज या एक ऐसा सिविल अड्डा बन गया, जो अधिकार करनेवाली हथियारबंद फ़ौज से भी अधिक महत्व का था। इस सिविल फ़ौज में कुछ ऐसे भी लोग थे जो योग्य थे और जिनमें देशभक्ति और राष्ट्रीय प्रवृत्ति थी, लेकिन सिपाही की तरह, जो व्यक्तिगत हैसियत से देशभक्त हो सकता था, वे नियम और अनुशासन में बंधे हुए

थे, और आज्ञा न पालने, विश्वासघात और विद्रोह का दंड बहुत कठोर था। केवल यह सिविल फ़ौज ही नहीं बनी, बल्कि उसमें भर्ती होने की उम्मीद का एक बहुत बड़ी तादाद पर, जो दिनों-दिन बढ़ रही थी, असर हुआ, और उस असर ने उन लोगों को बिगाड़ दिया।

रोजगार और आजीविका के दूसरे साधनों के अभाव में सरकारी नौकरियों का महत्व और भी अधिक हो गया। कुछ लोग वकील या डाक्टर हो सकते थे, लेकिन केवल उसीकी वजह से सफलता होनी कोई जरूरी नहीं थी। उद्योग-धंधे तो न के बराबर थे। व्यापार कुछ विशिष्ट वर्गों के हाथों में था और उनमें उसके लिए एक ख़ास सूझ थी। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन्हीं लोगों के हाथों में रहता और वे लोग एक-दूसरे की मदद करते। नई शिक्षा से व्यापार या उद्योग-धंधे के लिए कोई योग्यता नहीं साबित होती थी; उसकी निगाह तो विशेषकर सरकारी नौकरी पर थी। शिक्षा इतनी संकरी थी कि किसी दूसरे पेशे की उसमें गुंजाइश नहीं थी; समाज-संबंधी नौकरियों का प्रायः कोई अस्तित्व ही नहीं था। इस तरह केवल सरकारी नौकरी ही बाक़ी बची, लेकिन ज्यों-ज्यों कालेज के ग्रेजुएटों की संख्या बढ़ी, इन सरकारी नौकरियों में भी उन लोगों का खपना कठिन हो गया और उनमें पहुंचने के लिए भयंकर प्रतियोगिता होने लगी। बेकार ग्रेजुएटों का एक ऐसा गिरोह हो गया जिसमें से सरकार हमेशा ही अपने लिए आदमी ले सकती थी; जो लोग नौकरियों में थे उनकी सुरक्षा के लिए ये लोग एक ख़तरा बन गए। इस तरह ब्रिटिश-सरकार हिंदुस्तान में सबसे बड़ी नौकरी देनेवाली संस्था ही नहीं थी, बल्कि नौकरी देने-वाली (रेलों की नौकरियां भी इसमें शामिल हैं) केवल वही एक बड़ी संस्था थी। इस तरह एक बहुत बड़ा नौकरशाही ढांचा तैयार हो गया, जिसकी व्यवस्था और जिसका नियंत्रण चोटी के आदमियों द्वारा होता था। यह कृपा देश पर ब्रिटिश पंजा कसने के लिए की गई। उसके द्वारा उन्हें अपने विरोधी तत्वों को कुचलना था और साथ ही उन लोगों में, जो सरकारी नौकरियों की तरफ़ आंखें उठाए हुए थे, फूट और होड़ पैदा करनी थी। उसकी वजह से नैतिक अधःपतन हुआ, संघर्ष हुआ, क्योंकि शासन विभिन्न समुदायों को आपस में लड़ा सकता था।

एक बार फिर हमको हिंदुस्तान में ब्रिटिश-राज्य का जन्मजात विरोधाभास दिखाई देता है। उन्होंने सारे देश को एक राजनैतिक सूत्र में बांधा और इस तरह वे नई सक्रिय शक्तियां फूट पड़ीं जिन्होंने केवल उस ऐक्य की ही बाबत नहीं सोचा बल्कि उन्होंने हिंदुस्तान की स्वतंत्रता पर लक्ष्य किया। दूसरी तरफ़ ब्रिटिश-शासन ने उसी एके को, जो उन्होंने स्वयं ही पैदा किया था, तोड़-फोड़ देने की कोशिश की। उस समय राजनैतिक दृष्टि से उस फूट के माने हिंदुस्तान के बंटवारे के नहीं थे। उसका उद्देश्य तो राष्ट्रवादी तत्वों को कमजोर करना था, ताकि सारे देश पर ब्रिटिश राज्य बना रहे। फिर भी विच्छेद के लिए यह एक कोशिश तो थी ही, क्योंकि हिंदुस्तानी रियासतों को इतना अधिक महत्व दे दिया गया जितना कि उन्हें पहले कभी भी नहीं मिला था। प्रतिक्रियावादी तत्वों को बढ़ावा दिया गया और उनकी सहायता की आशा की गई। विभाजन को, और हरएक समुदाय को हर दूसरे समुदाय के विरुद्ध प्रोत्साहन दिया गया। धार्मिक या प्रांतीय आधार पर ऐक्य को मिटानेवाली प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा दिया गया और देशद्रोहियों के वर्ग का, जो अपने पर असर डालनेवाले हर परिवर्तन से घबराता था, संगठन किया गया। एक विदेशी साम्राज्यशाही शक्ति के लिए यह एक स्वाभाविक नीति थी, और यद्यपि हिंदुस्तानी राष्ट्रीय-दृष्टिकोण से वह बहुत अधिक हानि पहुंचानेवाली थी, फिर भी उसपर आश्चर्य करना नासमझी होगी।

६ : हिंदुओं और मुसलमानों में सुधार और दूसरे आंदोलन

पच्छिम की असली टक्कर हिंदुस्तान से उन्नीसवीं सदी में हुई। विचारों के क्षेत्र में भी धक्का लगा और परिवर्तन हुआ, और वह क्षितिज, जो बहुत समय से एक संकरे खोल में घिरा हुआ था, विस्तृत हुआ। पहली प्रतिक्रिया अल्पसंख्यक अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग तक ही सीमित थी, और उसमें प्रायः हर पच्छिमी वस्तु के लिए प्रशंसा थी और उनकी स्वीकृति का भाव था। हिंदू-धर्म की कुछ सामाजिक प्रथाओं और रीतियों से असंतोष के कारण बहुत-से हिंदू ईसाई-धर्म की ओर खिचे और बंगाल

में कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों ने भी अपना धर्म वदल लिया। इसलिए राजा राममोहन राय ने इस वात का प्रयत्न किया कि हिंदू-धर्म को इस नये वातावरण के अनुरूप बनाया जाय, और उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की, जिसकी नींव समाज-सुधार पर थी, और जिसे बुद्धि स्वीकार कर सकती थी। उनके उत्तराधिकारी केशवचंद्र सेन ने उसमें ईसाई दृष्टि-कोण को बढ़ा दिया। ब्रह्म-समाज का बंगाल के नये, बढ़ते हुए, मध्यम-वर्ग पर प्रभाव हुआ, लेकिन एक धार्मिक विश्वास के रूप में वह बहुत थोड़े लोगों तक ही सीमित रहा, किंतु इन लोगों में कुछ प्रमुख व्यक्ति थे और कुछ प्रमुख घराने थे। ये घराने भी, यद्यपि इनकी धार्मिक और सामाजिक सुधार में बेहद उत्सुकता थी, धीरे-धीरे वेदांत के पुराने हिंदु-स्तानी दार्शनिक आदर्शों की ओर लौटते हुए दिखाई दिये।

हिंदुस्तान में और दूसरी जगहों में भी ऐसी ही रुझानें काम कर रही थीं और हिंदू धर्म के उस समय प्रचलित कठोर सामाजिक ढांचे और बहुरूपिया स्वभाव के विरुद्ध असंतोष था। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में एक वहुत बड़ा सुधार-आंदोलन आरंभ किया गया। इसको आरंभ करनेवाले स्वामी दयानंद सरस्वती गुजरात के रहनेवाले थे, लेकिन इस आंदोलन का सबसे अधिक प्रभाव पंजाब के हिंदुओं पर पड़ा। यह सुधार-आंदोलन था आर्य-समाज का, और इसकी पुकार थी कि 'वेदों की ओर चलो।' इस पुकार का वास्तव में यह अर्थ था कि वेदों के समय के आर्य-धर्म में बाद में जो कुछ वातें जुड़ गई थीं, उनको अलग कर दिया जाय। बाद में वेदांत-दर्शन जिस रूप में उन्नत हुआ, उसकी अद्वैतवाद की केंद्रीय विचारधारा की, 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' के दृष्टिकोण की, और साथ ही और बहुत-से परिवर्तनों की जोरदार निंदा की गई। यहांतक कि वेदों की भी एक ख़ास ढंग से व्याख्या की गई। आर्य-समाज, इस्लाम और ईसाई धर्म की, विशेषकर इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप में था। इसमें अंदर से सुधार के लिए आंदोलन था और धर्म-युद्ध था और साथ ही बाहरी हमलों के विरुद्ध रक्षा के लिए यह एक संगठन था। इसने हिंदू धर्म में विधर्मियों की शुद्धि करके अपनाने की प्रथा डाली और इस तरह अपने मत में सम्मिलित करनेवाले दूसरे धर्मों से उसके झगड़ों की

संभावना हो गई। आर्य-समाज, जिसमें वहुत-सी वातें इस्लाम से मिलती-जुलती थीं, हर हिंदू वस्तु का हिमायती हो गया। उसे दूसरे धर्मों का हिंदू-धर्म पर अतिक्रमण सह्य नहीं था। महत्वपूर्ण वात यह है कि विशेषकर पंजाव और उत्तर प्रदेश के मध्यम-वर्ग के हिंदुओं में यह फैला। एक समय ऐसा भी था जब सरकार इसको राजनैतिक क्रांतिकारी आंदोलन समझती थी, लेकिन सरकारी नौकरों की वहुत वड़ी संख्या ने इसको विल्कुल मान्य वना दिया। लड़के-लड़कियों के शिक्षा-प्रसार में इसने वहुत अच्छा काम किया है। साथ ही स्त्रियों की दशा सुधारने में और दलित जातियों की हैसियत और मान्यता को उठाने में भी इसने वहुत अच्छा काम किया ह।

लगभग स्वामी दयानंद के ही जमाने में, वंगाल में एक दूसरे ही ढंग का व्यक्तित्व सामने आया और उसके जीवन ने वहुत-से नये अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों पर प्रभाव डाला। यह व्यक्तित्व था श्री रामकृष्ण परमहंस का, जो वहुत सरल पुरुष थे, विद्वान भी नहीं थे और वैसे उन्हें समाज-सुधार में भी कोई रुचि नहीं थी। लेकिन वह निष्ठावान मनुष्य थे। वह चैतन्य और दूसरे भारतीय संतों की ही परंपरा में थे। विशेषकर वह धार्मिक थे लेकिन वहुत ही उदार, और आत्म-साक्षात्कार की अपनी खोज में वह मुसलमान और ईसाई तत्वज्ञों के पास गए और उनके पास वर्षों तक रहे और उनके कठोर नियम-अनुशासन का पालन किया। कलकत्ता में कालीघाट में वह वसे और उनके असाधारण व्यक्तित्व और चरित्र ने धीरे-धीरे लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा। जो लोग इनको देखने गए, यहांतक कि वे लोग भी जो उनपर हँसा करते थे, जव उनके पास गए, तो उनसे वहुत अधिक प्रभावित हुए और ऐसे वहुत-से लोगों ने, जो पच्छिमी रंग में पूरी तरह रंग गए थे, वहां पहुंचकर यह अनुभव किया कि कोई एक ऐसी चीज भी थी जो उनसे छूट गई थी। धार्मिक विश्वास की बुनियादी वातों पर जोर देते हुए उन्होंने हिंदूधर्म और दर्शन के भिन्न-भिन्न पहलुओं को एक-दूसरे के साथ जोड़ दिया। ऐसा जान पड़ता था कि उनके व्यक्तित्व से उन सवका प्रतिनिधित्व होता था। वास्तव में उनके क्षेत्र में दूसरे धर्म भी सम्मिलित थे। वह हर तरह

की सांप्रदायिकता के विरोधी थे और उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सभी रास्ते सच की ओर ले जाते हैं। वे कुछ उन संतों की तरह थे, जिनके बारे में एशिया और यूरोप के पुराने इतिहास में हमको पढ़ने को मिलता था। आधुनिक जीवन के संदर्भ में उनको समझना कठिन है, फिर भी वह हिंदुस्तान के वहुरंगे सांचे के अनुरूप थे और यहां के बहुत-से आदमियों के हृदय में उनके प्रति आदर और श्रद्धा थी, और उनके व्यक्तित्व के चारों ओर एक दिव्य ज्योति थी। जिन लोगों ने उनको देखा, उनपर उनके व्यक्तित्व ने प्रभाव डाला और बहुत-से लोगों पर, जिन्होंने उनको नहीं देखा, उनके जीवन की कहानी का असर हुआ है। इन दूसरी तरह के लोगों में एक रोम्यां रोलां हैं, जिन्होंने परमहंसजी की और उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानंद की जीवनियां लिखी हैं।

विवेकानंद ने अपने गुरुभाइयों के साथ सेवा के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जिसमें सांप्रदायिकता नहीं है। विवेकानंद का आधार अतीत में था, और उनमें हिंदुस्तान की देन का अभिमान था, लेकिन साथ ही जीवन की समस्याओं को हल करने का उनका ढंग इस जमाने का था, और वह हिंदुस्तान के बीते हुए और वर्तमान समय की खाई पर एक पुल की तरह थे। बंगला और अंग्रेजी में वे एक ओजस्वी वक्ता थे और बंगला गद्य और काव्य के एक सुन्दर लेखक थे। वह एक आकर्षक और रोबीले व्यक्ति थे और उनमें शान और गंभीरता भरी हुई थी, उनको अपने पर और अपने मिशन पर भरोसा था, साथ ही वह सक्रिय और तीव्र शक्ति से भरपूर थे और हिंदुस्तान को आगे बढ़ाने की उनमें गहरी लगन थी। बेबस और गिरे हुए हिंदू मस्तिष्क के लिए वह एक जीवनी-औषधि के रूप में आए और इसको उन्होंने अपने पर भरोसा करना सिखाया और अपने पुराने समय की जानकारी कराई। सन् १८९३ में शिकागो में वह दुनिया-भर के धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित हुए। एक साल उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका में बिताया, यूरोप की यात्रा एथेंस और कुस्तुंतुनिया तक की, और मिस्र, चीन और जापान भी गए। जहां-कहीं भी वह गए उन्होंने केवल अपनी उपस्थिति से ही नहीं बल्कि जो-कुछ कहा, उससे, और अपने कहने के ढंग से, एक हलचल

मचा दी। एक वार इस हिंदू संन्यासी को देख लेने के वाद, उसे और उसके संदेश को भुला देना मुश्किल था। अमरीका में विवेकानंद को 'तूफानी हिंदू' कहा गया। पच्छिमी देशों की अपनी यात्रा का स्वयं उनपर बहुत असर पड़ा। उन्होंने अंग्रेजों के लगन की और अमरीकी जनता की दृढ़ता और बराबरी की भावना की प्रशंसा की। हिंदुस्तान में अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा कि किसी भी नये विचार के प्रचार के लिए अमरीका सर्वोत्तम क्षेत्र है। लेकिन पच्छिम के धर्म के स्वरूप ने उनको प्रभावित नहीं किया और भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि में उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया। उनके विचार में हिंदुस्तान अपनी पतित दशा में भी 'प्रकाश' का प्रतिनिधित्व करता था।

उन्होंने वेदांत-दर्शन के अद्वैतवाद का प्रचार किया और उन्हें इस बात का पक्का विश्वास था कि विचारशील मानव-जाति के लिए आगे चलकर केवल वेदांत धर्म ही हो सकता था। कारण यह था कि वेदांत केवल आध्यात्मिक ही नहीं था, वल्कि तर्क-संगत था और साथ ही उसका वाहरी दुनिया की वैज्ञानिक खोजों से भी सामंजस्य था। "इस विश्व का सृजन किसी विश्वोपरि ईश्वर ने नहीं किया और न वह किसी वाहरी मस्तिष्क की कृति है। वह स्वयं-भू, स्वयं-संहारक, स्वयं-पोषक, एक अनंत अस्तित्ववाला ब्रह्म है।" ... "वेदांत का आदर्श, मनुष्य की एकता और उसकी सहज दैवी प्रकृति का था; मानव में ईश्वर-दर्शन ही सच्चा ईश्वर-दर्शन है, प्राणियों में मनुष्य सबसे बड़ा है लेकिन 'अदृश्य वेदांत' को दैनिक जीवन में सजीव काव्यमय, हो जाना चाहिए, बेहद उलझी हुई पौराणिक गाथाओं में से निकलकर उसका स्पष्ट नैतिक स्व-रूप सामने आना चाहिए, और रहस्यपूर्ण योग के भीतर से एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक मनोविज्ञान सामने आना चाहिए।" विवेकानंद ने कर्म-कांड की विवेचना की और खासतौर से ऊंचे वर्ण के लोगों की छुआछूत की बहुत जोरों से निंदा की। "हमारा धर्म रसोईघर में है, हमारा ईश्वर खाना बनाने का वर्तन है और हमारा धर्म है, 'मुझे न छूओ, मैं पवित्र हूं'।"

विवेकानंद ने बहुत-सी बातें कहीं, लेकिन एक बात जिसको उन्होंने

अपने व्याख्यानों और लेखों में वरावर कहा है, अभय है। उनकी दृष्टि में मनुष्य दयनीय पापी नहीं है बल्कि उसमें ईश्वर का अंश है। तव उसे किसी वस्तु का डर क्यों हो ? "अगर दुनिया में कोई पाप है, तो वह है दुर्वलता। दुर्वलता को दूर करो, दुर्वलता पाप है, दुर्वलता मृत्यु है।" यह उपनिषदों का महान् उपदेश था। भय से बुराई और दुःख और पछतावा होता है। ये सव वातें वहुत हो लीं और कोमलता भी वहुत हो ली। "अव हमारे देश को जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, वे हैं लोहे क पुट्ठे, फौलाद की नाड़ियां और ऐसी प्रवल मनःशक्ति जिसको रोका न जा सके।"

इस तरह हिंदुस्तान के दक्खिनी सिरे के कुमारी अंतरीप से लेकर हिमालय तक विवेकानंद ने गर्जना की, और उन्होंने इस काम में अपने-आपको खपा डाला, यहांतक कि सन् १९०२ में, जव वह केवल उनतालीस वरस के थे, उनकी मृत्यु हो गई।

विवेकानंद के ही समकालीन थे रवींद्रनाथ ठाकुर। वैसे वह एक वाद की पीढ़ी के थे। ठाकुर परिवार ने, उन्नीसवीं सदी में, वंगाल में कई सुधार-आंदोलनों में मुख्य हिस्सा लिया था। उस घराने में आध्यात्मिक दृष्टि से वहुत उन्नत लोग थे, वढ़िया लेखक और कलाकार थे, लेकिन इनमें रवींद्रनाथ सवसे वढ़कर हुए और वास्तव में वह शनैःशनैः इस पद पर पहुंच गए कि हिंदुस्तान-भर में उनका कोई वरावरीवाला न रह गया। रचनात्मक काम के उनके लंवे जीवन ने दो पीढ़ियों को ढक लिया, और हमको ऐसा अनुभव होता है मानों वह हमारे ही जमाने के हों। वह कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे, लेकिन वह हिंदुस्तानी जनता की स्वतंत्रता के प्रति इतने सचेत और इतने आसक्त थे कि वह सदा-ही अपने काव्य और संगीत के शीशमहल में नहीं रह सकते थे। जव-जव वे किसी घटनाक्रम को सहन नहीं कर सके, वह वार-वार वाहर आये और उन्होंने व्रिटिश-सरकार को या अपनी-ही जनता को देवदूतों जैसी भाषा में चेतावनी दी। वीसवीं सदी के आरंभ के वर्षों में वंगाल में जो स्वदेशी आंदोलन चला उसमें उन्होंने एक मुख्य हिस्सा लिया और वाद में उस समय भी, जवकि उन्होंने अमृतसर के हत्याकांड के समय अपनी 'सर' की पदवी का परि-

त्याग किया। शिक्षा के मैदान में उनका जो रचनात्मक काम खामोशी से शुरू हुआ उसने तो 'शांति-निकेतन' को भारतीय-संस्कृति का एक प्रधान केंद्र ही बना दिया है। हिंदुस्तान के मस्तिष्क पर, और विशेष-कर बाद की नई पीढ़ियों पर, उनका बेहद प्रभाव पड़ा है। केवल बंगला ही नहीं, जिसमें कि वह स्वयं लिखते थे, बल्कि हिंदुस्तान की सभी आधुनिक भाषाएं कुछ हदतक उनकी रचनाओं से प्रभावित हुई हैं। पूरब और पच्छिम के आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करने में उन्होंने और किसी भी हिंदुस्तानी की अपेक्षा अधिक योग दिया है और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता के आधार को विस्तृत किया है। वह हिंदुस्तान के सबसे बड़े अंतर्राष्ट्रवादी रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में उन्होंने विश्वास किया, और उसके लिए काम किया, और वह हिंदुस्तान का संदेश दूसरे देशों को ले गए और दूसरे देशों का संदेश अपनी जनता के लिए लाये। फिर भी, इस अंतर्राष्ट्रीयता के होते हुए भी, उनके पैर हिंदुस्तान की धरती पर ही दृढ़ता से जमे रहे हैं और उनका मस्तिष्क उपनिषदों के ज्ञान से ओत-प्रोत रहा है। साधारण क्रम के विरुद्ध, ज्यों-ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती गई, उनका दृष्टिकोण अधिक क्रांतिकारी होता गया। घोर व्यक्ति-वादी होते हुए भी रूसी क्रांति के बड़े कारनामों के वह प्रशंसक थे, विशेष-कर शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य, और साम्य-भावना के। राष्ट्रीयता एक संकरी निष्ठा है, और एक अधिपति साम्राज्यवाद से राष्ट्रीयता का संघर्ष होने पर हर ढंग की उलझन और मायूसी होती है। जिस तरह एक दूसरे स्तर पर गांधीजी ने हिंदुस्तान की अपार सेवा की है उसी तरह टैगोर ने देश की इस रूप में बड़ी भारी सेवा की है कि उन्होंने जनता को कुछ हदतक उसके सोच-विचार के संकरे घेरे से धकेलकर बाहर निकाला, और उसके दृष्टिकोण को अधिक विस्तृत और व्यापक बनाया। रवींद्रनाथ हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े मानव-हितैषी थे।

बीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में टैगोर और गांधी निश्चय ही हिंदुस्तान के दो प्रधान व्यक्ति रहे हैं। उनकी समान और विषम बातों की तुलना शिक्षाप्रद है। कोई भी दो व्यक्ति अपने स्वभाव या मानसिक गठन में एक-दूसरे से इतने अधिक भिन्न नहीं हो सकते। रवींद्रनाथ एक

संभ्रांत कलाकार थे, जो आम लोगों से सहानुभूति रखने की वजह से लोकतंत्रवादी बन गए थे। वह मुख्यतया हिंदुस्तान की सांस्कृतिक परंपरा के प्रतिनिधि थे—उस परंपरा के जो जीवन को उसके पूरे रूप में अंगीकार करती है, और जिसमें नाच और गाने के लिए जगह है। गांधीजी विशेष रूप से साधारण जनता के व्यक्ति थे, और प्रायः हिंदुस्तानी किसान का ही स्वरूप थे और वह हिंदुस्तान की दूसरी पुरानी परंपरा के प्रतिनिधि थे। यह परंपरा थी संन्यास और त्याग की। फिर भी रवींद्रनाथ विशेषकर विचार-जगत् के व्यक्ति थे और गांधीजी अनवरत कर्मण्यता के। दोनों का ही अपने-अपने ढंग से विश्व-व्यापी दृष्टिकोण था और साथ ही दोनों ही पूरी तरह हिंदुस्तानी थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न, लेकिन आपस में मेल रखनेवाले, पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते थे और एक-दूसरे के पूरक थे।

हिंदू मध्यम-वर्ग में, फिर से अपने आध्यात्मिक और राष्ट्रीय उत्तराधिकार में विश्वास बढ़ाने में, श्रीमती एनीबेसेंट का प्रबल हाथ रहा। इस सबमें एक आध्यात्मिक और धार्मिक भावना मिली हुई थी, लेकिन साथ ही इसमें एक सुदृढ़ राजनैतिक पृष्ठभूमि भी थी। उठता हुआ मध्यम-वर्ग राजनैतिक प्रवृत्तिवाला था और उसे धर्म की कोई विशेष खोज नहीं थी। उसे एक सांस्कृतिक नींव की आवश्यकता थी, जिसे वह पकड़ सकता और जिससे उसे अपनी क्षमता में विश्वास होता—एक ऐसी चीज जो उस सारी मायूसी और हीनता को दूर करती, जिसको विदेशी विजय और विदेशी शासन ने पैदा किया था। हर देश में राष्ट्रीयता की उन्नति के साथ, धर्म के अतिरिक्त एक ऐसी खोज होती है, और बीते हुए युग पर ध्यान देने का रुझान होता है। हिंदुस्तान के बीते हुए युग में कितने ही सांस्कृतिक पहलू हैं, और उसकी महानता, सारी हिंदुस्तानी जनता की, चाहे वह हिंदू, मुसलमान या ईसाई कुछ भी हो, एक मिला-जुला उत्तराधिकार है, और उन लोगों के पुरखों ने ही तो उसका निर्माण किया था। यह बात, कि बाद में उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया, उनकी इस विरासत को मिटा नहीं देती। हिंदू और मुसलमान की साधारण जनता में एक-दूसरे में छांट करना कठिन था, और ऊपरी

वर्ग में ढंग-ढर्रे हिंदू और मुसलमान दोनों में ही एक थे। यही नहीं, उनकी एक-सी संस्कृति थी, एक-से रिवाज थे, और एक-से त्योहार थे। मध्यम-वर्ग मनोवैज्ञानिक रूप से अलग-अलग हुए, और बाद में और दूसरी तरह के भेद भी आ गए।

ज्यों-ज्यों ग़दर के आतंक के बाद लोग धीरे-धीरे पनपे, उनके मस्तिष्क में एक खोखलापन आया और खाली जगह को भरने के लिए किसी चीज की आवश्यकता थी। अनिवार्यतः ब्रिटिश-हुकूमत को तो मंजूर करना ही था। लेकिन एक नई सरकार ही सामने नहीं आई, बल्कि उसके साथ उलझन और घबराहट आई और आत्म-विश्वास चला गया। नई तालीम से वे अब भी अलग थे। धीरे-धीरे बहुत कठिनाई और बहस-मुबाहसे के बाद सर सैयद अहमद खां ने उनके मस्तिष्क को अंग्रेजी शिक्षा की ओर मोड़ा, और अलीगढ़ कॉलेज स्थापित किया। सरकारी नौकरी के लिए केवल वही एक रास्ता था और इस नौकरी का लालच इतना प्रबल सिद्ध हुआ कि पुराना विरोध और पुरानी धारणाएं ठहर न सकीं। यह बात, कि हिंदू शिक्षा में और नौकरियों में बहुत आगे निकल गए थे, नापसंद की गई और स्वयं वैसा-ही करने के लिए एक प्रबल तर्क सिद्ध हुई। पारसी और हिंदू तो उद्योग-धंधों में भी आगे बढ़ रहे थे, लेकिन मुसलमानों की निगाह केवल सरकारी नौकरियों की ओर थी।

लेकिन इस नई प्रवृत्ति ने, जो वास्तव में कुछ थोड़े-से ही लोगों तक सीमित थी, उनके मस्तिष्क के शक और उलझन को दूर नहीं किया। हिंदुओं ने ऐसी ही दशा में पीछे दृष्टि डाली थी और प्राचीन-युग में शांति की खोज की थी। पुराना दर्शन, पुरानी कला और पुराने साहित्य और इतिहास से उन्हें कुछ शांति मिली। राममोहन राय, दयानंद, विवेकानंद और दूसरे लोगों ने नई विचारधारा के आंदोलन चलाये थे। जबकि एक ओर तो उन्होंने अंग्रेजी-साहित्य के भरे-पूरे भंडार से लाभ उठाया था, दूसरी ओर उनके मस्तिष्क प्राचीन संतों और शूरवीरों से भरे हुए थे। उनके मस्तिष्क में इनके विचार और काम थे और वे गाथाएं और परंपराएं थीं जिनको उन्होंने अपने बचपन से बराबर सीखा था।

सांस्कृतिक नींव की खोज में हिंदुस्तानी मुसलमान (यानी उनमें बीच के वर्ग के कुछ लोग) इस्लामी इतिहास की ओर गए, और वे उस काल में पहुंचे, जब इस्लाम बग़दाद, स्पेन, क़ुस्तुंतुनियां, मध्य-एशिया आदि में विजेता के रूप में छाया हुआ था। इस इतिहास में दिलचस्पी हमेशा रही है और पड़ोसी इस्लामी देशों से कुछ संबंध भी रहे थे। मक्का में हज के लिए यात्री जाते थे, और यहां उनकी दूसरे देशों के मुसलमानों से भेंट होती थी। लेकिन ये सब संबंध सीमित थे, और सतही थे, और इसका हिंदुस्तानी मुसलमानों के साधारण दृष्टिकोण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। वह तो केवल हिंदुस्तान तक सीमित था। दिल्ली के अफ़गान बादशाहों ने, खासतौर से मुहम्मद तुग़लक़ ने क़ाहिरा के खलीफ़ा को अपना सरपरस्त माना था। बाद में क़ुस्तुंतुनियां के आटोमन बादशाह खलीफ़ा बन गए, लेकिन उनको हिंदुस्तान में माना नहीं जाता था। हिंदुस्तान के मुग़ल बादशाहों ने किसी ख़लीफ़ा को या हिंदुस्तान के बाहर के किसी धार्मिक नेता को अपना संरक्षक नहीं माना। उन्नीसवीं सदी क आरंभ में मुग़ल-शक्ति समाप्त होने के बाद ही हिंदुस्तान की मस्जिदों में तुर्की के सुल्तान का नाम लिया जाना शुरू हुआ। ग़दर के बाद यह आम रवैया हो गया।

इस तरह हिंदुस्तान के मुसलमानों ने इस्लाम के उस पुराने बड़प्पन से कुछ मनोवैज्ञानिक संतोष पाना चाहा, जो विशेषकर दूसरे देशों में था। तुर्की के स्वतंत्र मुस्लिम शक्ति बने रहने पर (और इस वक़्त तुर्की ही एकमात्र स्वतंत्र मुस्लिम शक्ति थी) उन्होंने अभिमान किया। इस भावना का हिंदुस्तानी क़ौमियत से कोई संघर्ष या विरोध नहीं था। वास्तव में स्वयं बहुत-से हिंदू इस्लामी इतिहास से सुपरिचित थे, और वे उसके प्रशंसक थे। उन्होंने तुर्की के साथ सहानुभूति प्रकट की, क्योंकि उन्होंने उसे यूरोपीय अनाचारों का एशियाई शिकार समझा। फिर भी एक भेद था, और हिंदुओं के लिए इस भावना ने वह मनोवैज्ञानिक आवश्यकता पूरी नहीं की, जो मुसलमानों के लिए पूरी हुई।

ग़दर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमान इस झिझक में थे कि किस रास्ते को अपनावें। ब्रिटिश-सरकार ने जान-बूझकर उनका हिंदुओं से

भी अधिक दमन किया था। इस दमन से विशेषकर मुसलमानों के उस हिस्से पर असर पड़ा था, जिससे नया बीच का वर्ग या 'बुर्जुआ' वर्ग पैदा होता। उन्होंने बहुत मायूसी अनुभव की, और वे बहुत अधिक ब्रिटिश-विरोधी थे, और साथ-ही रूढ़िवादी और अनुदार थे। सन् १८७० के बाद उनकी ओर ब्रिटिश नीति में धीरे-धीरे परिवर्तन आया और वह उनके अनुकूल हुई। इस परिवर्तन का मुख्य कारण ब्रिटिश-सरकार की संतुलन की नीति थी, जिसको बराबर बरता जा रहा था।

फिर भी बहुत-से प्रसिद्ध मुसलमान कांग्रेस में शामिल हुए। ब्रिटिश-नीति अब निश्चित रूप से मुसलमानों की, या यों कहा जाय कि मुसलमानों के उस वर्ग की तरफ़दार हो गई, जो राष्ट्रीय आंदोलन के विरुद्ध थे। लेकिन बीसवीं सदी के शुरू में मुसलमानों की नई पीढ़ी में राष्ट्रीय और राजनैतिक कार्यवाही के लिए झुकाव मालूम पड़ा। इस तरफ़ से ध्यान हटाकर उसके लिए एक निकासी देने के उद्देश्य से, सन् १९०६ में, ब्रिटिश प्रेरणा से, और अंग्रेजों के एक खास मददगार आग़ा खां के नेतृत्व में मुस्लिम लीग चालू हुई। लीग के दो मुख्य उद्देश्य थे—एक तो ब्रिटिश-सरकार के प्रति वफ़ादारी, और दूसरे मुस्लिम स्वार्थों की रक्षा।

अबुल कलाम आजाद ने अपने हफ्तेवार रिसाले 'अल-हिलाल' में एक नई भाषा में बात की। वह भाषा केवल विचार या दृष्टिकोण के विचार से ही नई नहीं थी, बल्कि उसका गठन भी दूसरे ढंग का था। उसकी वजह यह थी कि आजाद की शैली में जोर था, मर्दानगी थी और अपनी फ़ारसी पृष्ठभूमि के कारण कभी-कभी वह समझने में कुछ कठिन होती थी। उन्होंने नये विचारों के लिए नई शब्दावली का प्रयोग किया और उर्दू भाषा आज जैसी भी है, उसको बनाने में, एक निश्चित प्रभाव डाला। मुसलमानों के पुराने कट्टरपंथी नेताओं में इस सबके लिए अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई, और उन्होंने आजाद के विचारों और उनके दृष्टिकोण की आलोचना की। लेकिन उनमें से योग्य-से-योग्य व्यक्ति भी आजाद से बहस या तर्क में, यहांतक कि धर्म-ग्रंथों और पुरानी परंपराओं की बुनियाद पर भी, आसानी से टक्कर नहीं ले सकते थे। वजह

यह थी, कि इन चीजों के बारे में, उनकी अपेक्षा आजाद की जानकारी अधिक थी। उनमें मध्य-युग की विद्वत्ता, अठारहवीं सदी के तर्कवाद और मौजूदा वर्तमान समय के दृष्टिकोण का एक अद्भुत मेल था।

अबुल कलाम आजाद ने कट्टरता के और राष्ट्रीयता-विरोधी इस गढ़ पर हमला किया। सीधे तौरपर नहीं, बल्कि ऐसे विचारों का प्रचार करके, जो अलीगढ़ की परंपरा को ही खोखला कर देते। मुसलमान विचारवानों में इस नवयुवक लेखक और संपादक ने हलचल मचा दी। नई पीढ़ी के मस्तिष्क में उनके शब्दों से एक उबाल पैदा हुआ। यह उबाल तुर्की, मिस्र, ईरान और साथ-ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीय आंदोलन की घटनाओं से पहले ही शुरू हो चुका था। आजाद ने उसको एक निश्चित धारा दी, और उन्होंने यह जताया कि इस्लाम और इस्लामी देशों से सहानुभूति में, और हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता में कोई संघर्ष नहीं था। इससे मुस्लिम लीग को कांग्रेस के पास लाने में मदद मिली। आजाद स्वयं भी, लीग के पहले ही जल्से में, जबकि वह लड़के ही थे, शरीक हुए थे। चार साल तक वह क़ैद में रखे गए और जब वह बाहर आये, तो उन्होंने तुरन्त ही नेशनल कांग्रेस के नेताओं में अपनी जगह प्राप्त कर ली। तबसे वह बराबर कांग्रेस की सबसे ऊंची कार्य-कारिणी में रहे, और उस वक़्त भी अपनी कम उम्र के होते हुए, वह कांग्रेस के बड़ों में गिने गए। राष्ट्रीय और राजनैतिक मामलों में और साथ ही सांप्रदायिक या अल्पसंख्यक समस्या के सिलसिले में उनकी सलाह की बहुत क़द्र की जाती है। दो बार वह कांग्रेस के सभापति रहे हैं, और कई बार उन्होंने लंबी मुद्दतें जेल में बिताई हैं।

७ : भारी उद्योग-धंधों का आरंभ : पृथक निर्वाचिका

इस काल में बहुत-से परिवर्तन हुए। हिंदुस्तान में कारखानों में काम करनेवाल मजदूरों की जमात बढ़ रही थी। वह असंगठित थी और बेबस थी और यह जमात उन किसानों में से ही तैयार हुई थी जिनका रहन-सहन का मापदंड बेहद नीचा था और इस बात से उनकी मजदूरी की बढ़ती में या उनकी दशा-सुधार में रुकावट हुई। जहांतक

बे-हुनर मजदूरों का सवाल है, करोड़ों बेकार आदमी थे और उनमें से काम करने के लिए आदमियों को रखा जा सकता था और ऐसी हालत में कोई हड़ताल सफल नहीं हो सकती थी। सबसे पहली ट्रेड यूनियन कांग्रेस सन् १९२० के आसपास हुई। इस मजदूर-वर्ग की गिनती इतनी काफ़ी नहीं थी कि उससे हिंदुस्तानी राजनैतिक क्षेत्र में कोई प्रभाव पड़ता। किसानों और जमीन के मजदूरों की तुलना में वे नहीं के बराबर थे। सन् १९२० के बाद, कारखानों के मजदूरों की आवाज सुनाई पड़ने लगी, लेकिन वह बहुत कमजोर थी। अगर रूसी-क्रांति ने लोगों को कारखानों के मजदूरों को महत्व देने के लिए विवश न किया होता, तो शायद उनकी अवहेलना कर दी जाती। कुछ बड़ी और सुसंगठित हड़तालों की ओर भी ध्यान गया।

इन क्रांतिकारी विचारों का मुसलमान नवयुवकों पर भी असर हो रहा था। अलीगढ़ कॉलेज ने इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की और इसी समय सरकारी प्रेरणा से आगा खां ने और दूसरे लोगों ने मुसलमानों के लिए एक राजनैतिक मंच बनाने और इस तरह उनको कांग्रेस से अलग रखने के लिए मुस्लिम लीग को शुरू किया। इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचिका का निर्णय किया गया। हिंदुस्तान के भविष्य पर यह एक प्रभाव डालनेवाली बात थी। भविष्य में मुसलमान केवल पृथक मुसलमान-निर्वाचन-क्षेत्रों से ही खड़े हो सकते थे और चुने जा सकते थे। उनके चारों तरफ़ एक राजनैतिक दीवार खड़ी कर दी गई और उनको बाक़ी हिंदुस्तान से अलग कर दिया गया। इस तरह आपस में घुल-मिलकर एक हो जाने की वह प्रक्रिया, जो सदियों से चल रही थी और जो वैज्ञानिक प्रगति से अनिवार्य रूप से तेज हो रही थी, अब उलट दी गई। यह दीवार आरंभ में छोटी-सी थी, क्योंकि निर्वाचन-क्षेत्र संकुचित था लेकिन हर बार मताधिकार के बढ़ने से वह दीवार बढ़ती गई और उससे सार्वजनिक और सामाजिक जीवन के सारे ढांचे पर इस तरह प्रभाव पड़ा, मानो सारे ढाँचे में घुन लग गया हो। इससे म्यूनिसिपल और स्थानीय स्वराज-संस्थाओं में विष फैला और अन्त में बेहद ग़लत

ढंग का विभाजन हुआ। काफ़ी बाद में पृथक मुस्लिम ट्रेड यूनियन बनी, अलग विद्यार्थी-संगठन बने, और अलग व्यापारी चैंबर क़ायम हुए। चूंकि मुसलमान इन सारे कामों में पिछड़े हुए थे, इसलिए ये संस्थाएं अपने-आप पैदा नहीं हुईं, बल्कि इनको ऊपर से कृत्रिम रूप से बनाया गया और उनका नेतृत्व पुराने ढंग के अर्ध-सामंती लोगों के हाथों में रहा। इस तरह कुछ हदतक मुस्लिम मध्यम-वर्ग—यहांतक कि आम मुस्लिम वर्ग भी—उन्नति की उन धाराओं से अलग हो गया। जो शेष हिंदुस्तान पर प्रभाव डाल रही थीं। हिंदुस्तान में ऐसे बहुत-से निहित स्वार्थ थे, जिनको ब्रिटिश सरकार ने पैदा किया था, या जिनकी उसने रक्षा की थी। अब पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों का एक नया और प्रबल निहित स्वार्थ पैदा किया गया।

यह कोई ऐसी अस्थायी खराबी नहीं थी, जो बढ़ती हुई राजनैतिक चेतना के साथ समाप्त हो जाती। सरकारी नीति से पोषण पाकर वह बढ़ी और चारों तरफ़ फैली, यहांतक कि उसने देश की सारी असली समस्याओं को, चाहे वे राजनैतिक हों या सामाजिक या आर्थिक, ढंक लिया। इससे बंटवारे पैदा हुए और भेद पैदा हुए और वह भी ऐसी जगहों में कि जहां पहले उसका नाम भी नहीं था।

ऐसे समुदायों और अल्पसंख्यकों से, जो शिक्षा की दृष्टि से और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे, बरतने की स्पष्ट नीति यह थी कि उनको अपनी कमी पूरी करने की हर ढंग से मदद की जाती। विशेषकर इस काम में एक प्रगतिशील शिक्षण-नीति से मदद मिलती। मुसलमानों के लिए और दूसरे अल्प-संख्यकों के लिए, या दलित वर्ग के लिए, जिसको इसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी, ऐसी कोई भी चीज नहीं की गई। सारा तर्क नौकरियों में छोटी-छोटी जगहों के लिए था और बजाय मापदंड ऊंचा उठाने के, अक्सर योग्यता का बलिदान किया जाता।

इस तरह पृथक निर्वाचन से वे समुदाय, जो कमजोर थे या पिछड़े हुए थे, और अधिक कमजोर हो गए। उससे पार्थक्य की भावना को बढ़ावा मिला और राष्ट्रीय एकता की उन्नति में रुकावट पड़ी। पृथक

निर्वाचन के अर्थ थे लोकतंत्र से इनकार। उसने अत्यन्त प्रतिक्रियावादी ढंग के नये निहित स्वार्थ पैदा किये, उससे मापदंड नीचे हो गए, और उसने सारे ही देश के सामने जो असली आर्थिक समस्याएं थीं, उनसे ध्यान हटा दिया। ये पृथक निर्वाचन-क्षेत्र मुसलमानों से शुरू हुए और बाद में ये दूसरे अल्प-संख्यकों और दूसरे समुदायों में भी फैल गए। यहांतक कि हिंदुस्तान इन अलग-अलग हिस्सों का एक जमघट बन गया। उनसे हर ढंग की पार्थक्य की प्रवृत्तियां पैदा हुईं और अंत में हिंदुस्तान के ही बंटवारे की मांग की गई।

८ : मध्य-वर्ग की बेबसी : गांधीजी का आगमन

पहला महायुद्ध आरंभ हुआ। राजनीति उतार पर थी। उसका मुख्य कारण यह था कि कांग्रेस दो हिस्सों---गरम दल और नरम दल--- में बंटी हुई थी। साथ ही युद्ध के समय की रुकावटें और पाबंदियां थीं। फिर भी एक प्रवृत्ति विशेषकर दिखाई पड़ रही थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए मध्य-वर्ग की विचारधारा अधिकाधिक राष्ट्रवादी होती जा रही थी और यह मध्य वर्ग मुस्लिम लीग को कांग्रेस की ओर धकेल रहा था। यहांतक कि उन दोनों ने हाथ भी मिला लिये।

हम क्या कर सकते थे? गरीबी और पस्तहिम्मती की इस दलदल से, जो हिंदुस्तान को अपने अंदर खींचे जाती थी, हम उसे किस तरह बाहर ला सकते थे? उत्तेजना, तकलीफ़ और उलझन के कुछ बरसों से ही नहीं, बल्कि लंबी पीढ़ियों से हमारी जनता ने अपने खून और मेहनत, आंसू और पसीने की भेंट दी थी। हिंदुस्तान के शरीर और आत्मा में यह प्रक्रिया बहुत गहरी घुस गई थी और उसने हमारे सामाजिक जीवन के हरएक पहलू में विष डाल दिया था।

और तब गांधीजी का आगमन हुआ। गांधीजी ताजी हवा के उस प्रबल झोंके की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी सांस लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे, जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आंखों के सामने से परदे को

हटा दिया। वह उस बवंडर की तरह से थे, जिसने बहुत-सी चीजों को, विशेषकर मज़दूरों के विचारों को उलट-पुलट दिया। गांधीजी ऊपर से आये हुए नहीं थे, बल्कि हिंदुस्तान की करोड़ों आदमियों की आबादी में से ही उपजे थे। उनकी भाषा वही थी जो आम लोगों की थी, और वह बराबर उस जनता की ओर और उसकी भयावह स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करते थे। उन्होंने कहा कि तुम लोग, जो किसानों और मजदूरों के शोषण पर निर्वाह करते हो, उनके ऊपर से हट जाओ; उस व्यवस्था को, जो गरीबी और तकलीफ़ की जड़ है, दूर करो। तब राजनैतिक स्वतंत्रता का एक नया रूप सामने आया और उसमें एक नया अर्थ पैदा हुआ। उनकी अधिकतर बातों को हमने आंशिक रूप में माना और कभी-कभी तो बिल्कुल ही नहीं माना। लेकिन यह सब एक गौण बात थी। उनकी सीख का सार था निर्भयता और सत्य; और इन दोनों के साथ सक्रियता मिली हुई थी और उसमें हमेशा आम लोगों की बेहतरी का ध्यान था। हमारी प्राचीन पुस्तकों में यह कहा गया था कि किसी मनुष्य या किसी राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा उपहार है अभय—निर्भयता—केवल शारीरिक हिम्मत ही नहीं, बल्कि मस्तिष्क से डर का हट जाना। हमारे इतिहास के ही प्रभात में जनक और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जनता के नेताओं का काम जनता को निर्भय बनाना है। लेकिन ब्रिटिश-राज्य के अंदर हिंदुस्तान में जो सबसे प्रमुख भावना थी, उसमें डर—कुचलनेवाला, दम घोटनेवाला, मिटा देनेवाला डर था; फौज का, पुलिस का, चारों तरफ़ फैले हुए खुफ़िया विभाग का डर था; अफ़सरों के वर्ग का डर था; कुचलनेवाले क़ानूनों और जेल का डर था; ज़मींदार के कारिंदे का डर था; साहूकार का डर था; बेकारी और भूखे मरने का डर था, जो सदा ही पास बने रहते थे। चारों तरफ समाये हुए इस डर के ही विरुद्ध गांधीजी की शांत, किंतु दृढ़, आवाज़ उठी "डरो मत।"

इस तरह मानो अचानक ही लोगों के ऊपर से डर का काला लबादा हटा दिया गया—यह नहीं कि वह पूरी तरह हटा दिया गया, लेकिन फिर भी एक बहुत बड़ी एक आश्चर्यजनक हद तक तो हटा ही

दिया गया। चूंकि डर झूठ का निकटस्थ मित्र है, इसलिए निडरता के साथ सत्य आता ही है। हिंदुस्तान की जनता जैसी भी थी, उससे कोई बहुत अधिक सच बोलनेवाली नहीं बन गई, और न उस जनता ने रातों-रात अपने बुनियादी स्वाभाव को ही बदल दिया। फिर भी एक बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ा, क्योंकि झूठ और लुक-छिपकर काम करने की आवश्यकता कम हो गई। यह परिवर्तन मानो वैज्ञानिक था, ठीक इस ढंग से, मानो कोई मनोविश्लेषक प्रक्रिया का विशेषज्ञ रोगी के भूतकाल में गहरा घुस गया हो और उसने उस रोगी की मानसिक विकृति के कारण को जानकर, उसे रोगी के सामने खोल दिया हो और इस तरह उसको उसके बोझ से छुटकारा दिला दिया हो।

हिंदुस्तान में अलग-अलग हद तक गांधीजी ने करोड़ों आदमियों पर असर डाला; कुछ लोगों ने तो अपनी ज़िंदगी का ताना-बाना पूरी तरह बदल दिया, दूसरे लोगों पर थोड़ा-सा असर हुआ और वह असर पूरी तरह तो नहीं, लेकिन फिर भी, मिट गया। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हुईं और हरएक आदमी इस सवाल का अपना अलग जवाब देगा। कुछ लोग तो कदाचित् सुकरात के संबंध में कहे गए एल्किवियेडीज़ के शब्दों में कहें—"ठीक उस समय जबकि मैं उसे बोलते हुए सुनता हूं, तो मैं एक ढंग के पवित्र आवेश से उत्तेजित हो उठता हूं और मेरा हृदय तुरन्त जीभ पर आ जाता है और मेरी आंखों में आंसू आ जाते हैं—आह, यह सिर्फ़ मेरे साथ ही नहीं होता, बल्कि यही हाल और बहुत-से लोगों का भी होता है!"

९ : गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस एक गतिशील संस्था बन जाती है

कांग्रेस संस्था में गांधीजी पहली बार प्रविष्ट हुए और तुरंत ही उस संस्था के संविधान में पूरी तरह परिवर्तन आया। उन्होंने कांग्रेस को लोकतंत्री और सार्वजनिक संस्था बना दिया। वैसे तो पहले भी वह लोकतंत्री थी लेकिन पहले उसके मतदाताओं का क्षेत्र संकुचित था, और वह केवल बड़े लोगों तक ही सीमित थी। अब उसमें किसान भी

आये और अपने नये रूप में अब वह किसानों की एक बहुत बड़ी संस्था मालूम पड़ने लगी और उसमें बीच के दर्जे के लोगों का, यद्यपि उनकी संख्या थोड़ी थी, काफ़ी मिश्रण था। यह खेतिहर पहलू बढ़नेवाला था। कारखानों के मजदूर भी उसमें आये, लेकिन वे केवल अपनी व्यक्तिगत हैसियत से, न कि अपने पृथक और संगठित रूप में।

इस संस्था का उद्देश्य और उसकी बुनियाद थी सक्रियता—ऐसी सक्रियता, जिसकी बुनियाद शांतिपूर्ण ढंग पर थी। अबतक जो रवैया था वह यह था, केवल बात करना और प्रस्ताव पास करना, या आतंकवादी काम करना। इन दोनों को ही अलग हटा दिया गया और आतंकवाद की तो विशेषकर निंदा की गई, क्योंकि वह तो कांग्रेस की बुनियादी नीति के विरुद्ध था। काम करने का एक नया ढंग निकाला गया, जो वैसे तो बिल्कुल शांतिपूर्ण था, लेकिन साथ ही उसमें जिस चीज को गलत समझा जाता था, उसके सामने सिर झुकाना स्वीकार नहीं किया गया था। इस तरीक़े में जो कष्ट थे, उनको सहन करने की स्वीकृति थी। गांधीजी एक अद्‌भुत प्रकार के शांत आदमी थे, क्योंकि वह तो सक्रिय थे और उनमें गतिशील शक्ति भरी हुई थी। भाग्य या जो कुछ वह बुरा समझते थे, उसके सामने उनमें सिर झुकाने की भावना नहीं थी। उनमें सामना करने की शक्ति भरी हुई थी। हां, उनका ढंग शांतिपूर्ण और मीठा था।

सक्रियता की पुकार दोहरी थी। स्पष्ट है कि विदेशी राज्य को चुनौती देने और उसका सामना करने की सक्रियता तो थी ही, साथ ही अपनी निजी सामाजिक कुरीतियों का सामना करने की सक्रियता भी थी। कांग्रेस के आधारभूत उद्देश्य हिंदुस्तान की स्वतंत्रता के अतिरिक्त और शांतिपूर्ण सक्रियता के साथ, कांग्रेस के मुख्य आधार थे राष्ट्रीय एकता, जिसमें अल्पसंख्यकों की समस्याओं को हल करना सम्मिलित था, और दलित जातियों को ऊपर उठाकर छूआछूत के अभिशाप को समाप्त करना।

ब्रिटिश राज्य की वास्तविक बुनियाद डर, रौब और उस सहयोग पर थी, जो वे लोग मन या बे-मन से देते थे, जिनके निहित स्वार्थ ब्रिटिश-राज्य में केंद्रित थे। गांधीजी ने इन बुनियादों पर चोट की।

उन्होंने कहा कि खिताबों को छोड़ो; और यद्यपि बहुत अधिक लोगों ने खिताब नहीं छोड़, फिर भी अंग्रेजों द्वारा दिये हुए खिताबों का जनता में आदर जाता रहा और ये अध:पतन के प्रतीक बन गए। नया माप-दंड बना और नया मूल्यांकन हुआ और वाइसराय के दरबार और रजवाड़ों की शान और सजावटें, जो इतना प्रभाव डाला करती थीं, अब जनता की हद दर्जे की ग़रीबी और कष्ट के वातावरण में बेहद भद्दी, नामुनासिब, यहांतक कि लज्जाजनक मालूम पड़ने लगीं। अमीर आदमी अपनी दौलत का शानदार दिखावा करने के लिए उत्सुक नहीं थे। कम-से-कम ऊपरी तौर पर उनमें से बहुत-से लोगों ने अपना रहन-सहन सादा बनाया और केवल उनकी पोशाक से उनमें और बराबरी में मामूली आदमियों में कोई अंतर नहीं मालूम पड़ सकता था।

कांग्रेस के पुराने नेता, जो एक अलग और अधिक निष्क्रिय परंपरा में पले हुए थे, इस नये परिवर्तन को सहज में अपना नहीं सके और साधारण जनता के उभार से उन्हें परेशानी हुई। फिर भी विचारों और भावनाओं की जो लहर देश में बही, वह इतनी प्रबल थी कि वे लोग भी कुछ हदतक उसके नशे से भर गए।

गांधीजी ने हमको गांवों में भेजा, और सक्रियता के नये संदेश को ले जानेवाले अनगनित दूतों के काम-काज से देहात में चहल-पहल मच गई। किसान को झकझोरा गया और वह अपनी निष्क्रियता की खोल से बाहर निकलने लगा। हम लोगों पर असर दूसरा था लेकिन कम गहरा नहीं था, क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि हमने पहली बार ग्रामीण को कच्ची झोंपड़ी और भूख की उस छाया से, जो उसका हमेशा पीछा करती रहती थी, चिपटे हुए देखा। हमने पुस्तकों और विद्वत्तापूर्ण भाषणों की अपेक्षा अपना हिंदुस्तानी अर्थशास्त्र इन आंखों-देखी हालतों से अधिक जाना। वह भावनात्मक अनुभव जो हमको पहले हो चुका था, अब पक्का हुआ और उसके प्रमाण सामने आये। इसलिए आगे चलकर हमारे विचारों में और चाहे जो परिवर्तन होता, अब अपने जीवन के पुराने ढर्रे और पुराने मापदंड पर लौटा नहीं जा सकता था।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे विषयों में गांधीजी के विचार बहुत कड़े थे। उन्होंने इन सबको कांग्रेस पर लादने का प्रयत्न नहीं किया। हां, उन्होंने अपनी विचारधारा का बराबर पोषण किया और इस प्रक्रिया में कभी-कभी अपने लेखों के द्वारा उसमें परिवर्तन भी किया, लेकिन कुछ विचारों को उन्होंने कांग्रेस में पैठाने की कोशिश की। वह बड़ी सावधानी से आगे बढ़े, क्योंकि वह जनता को अपने साथ ले चलना चाहते थे। दो तरह से, उनके विचारों की पृष्ठभूमि का धुंधला लेकिन बहुत पर्याप्त प्रभाव हुआ। एक तो यह कि हर बात की बुनियादी कसौटी यह थी कि वह साधारण जनता को किस हदतक लाभ पहुंचाती है, और दूसरे यह कि चाहे उद्देश्य सही ही क्यों न हो, लेकिन साधनों का हमेशा ख़याल होना चाहिए और उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती, क्योंकि साधनों का असर उद्देश्य पर पड़ता है और ये उद्देश्य में परिवर्तन पैदा कर सकते हैं।

गांधीजी विशेषकर एक धार्मिक व्यक्ति थे, जो अपने अस्तित्व क अंतरतम से भी हिंदू थे, फिर भी धर्म के उनके दृष्टिकोण का किसी परंपरा, किसी कर्म-कांड या किसी प्रचलित धारणा से कोई भी संबंध नहीं था। बुनियादी तौर पर उनका संबंध तो उस नैतिक क़ानून से था, जिसको उन्होंने प्रेम या सत्य के क़ानून का नाम दिया है। सत्य और अहिंसा उनको एक ही वस्तु या एक ही वस्तु के अलग-अलग पहलू मालूम देते हैं और उसके लिए दोनों में से एक ही शब्द में दोनों के अर्थ आ जाते हैं। हिंदू-धर्म की बुनियादी भावना को समझने का दावा करते हुए भी वह ऐसी हर क्रिया और हर चीज को नामंजूर कर देते जो उनकी उचित आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खाती। उनका कहना है कि ये चीजें या तो बाद में जोड़ दी गई हैं या बिगड़ी हुई शक्लों में हैं। गांधीजी ने कहा है—"उस प्रचलित ढंग या रीति का, जिसको मैं समझ नहीं सकता हूं या नैतिक आधार पर मैं जिसकी हिमायत नहीं कर सकता हूं, मैं ग़ुलाम होने को तैयार नहीं हूं।" जिस सुधार और जिस शिक्षा की वह दूसरों को सलाह देते हैं, उसपर वह पहले स्वयं अमल करते हैं। वह हमेशा चीजों को अपने-आपसे शुरू करते हैं और उनके

शब्दों और कार्यों में इस तरह का मेल होता है जैसाकि हाथ में और दस्ताने में होता है। ओर इसलिए चाहे जोकुछ होता रहे, उनका समचा व्यक्तित्व कभी भी लुप्त नहीं होता, और उनके जीवन और कार्यों में सदा ही एक सजीव पूर्णता दिखाई देती है। अपनी असफलताओं में भी वह ऊंचे उठते दिखते हैं।

अपनी इच्छाओं और आदर्शों के अनुसार जिस सांचे में वह हिंदुस्तान को ढालने जा रहे थे वह क्या था? "मैं उस हिंदुस्तान के लिए काम करूंगा, जिसमें गरीब-से-गरीब भी यह अनुभव करेगा कि यह उसका देश ह और जिसके निर्माण में उसकी अपनी कारगर आवाज है—ऐसा हिंदुस्तान जिसमें सारी जातियां आपसी मेल के साथ रहेंगी।.... ऐसे हिंदुस्तान में छुआछूत के या नशे के अभिशाप के लिए कोई भी जगह नहीं हो सकती।...स्त्रियों को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे जो कि पुरुषों के हैं।....जिस हिंदुस्तान का मैं सपना देखता हूं वह यह है।" जहां एक ओर स्वयं उन्हें अपने हिंदू-उत्तराधिकार का अभिमान था, वहां साथ-ही, उन्होंने हिंदू-धर्म को एक विश्वव्यापी रूप देने का प्रयत्न किया और सत्य के घेरे में सब धर्मों को सम्मिलित किया। अपनी सांस्कृतिक विरासत को संकरा करने से उन्होंने इनकार किया। उन्होंने लिखा है—"हिंदुस्तानी संस्कृति न तो बिल्कुल हिंदू ही है और न बिल्कुल मुसलमानी।" आगे चलकर वह कहते हैं—"मैं चाहता हूं मेरे घर में सब देशों की संस्कृति अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता के साथ फैले। लेकिन उनमें से कोई भी मुझे वहा ले जाय, यह मैं न चाहूंगा। दूसरे लोगों के मकानों में एक भिखारी या गुलाम या अनचाहे आदमी की तरह रहने को मैं तैयार नहीं हूं।" आधुनिक विचारधारा का उनपर असर तो हुआ है, लेकिन उन्होंने अपनी जड़ों को कटने न दिया और वह उनको दृढ़ता से पकड़े रहे हैं।

हिंदुस्तान के ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर के गरीब और लुटे हुए लोगों के साथ उनकी अद्‌भुत सहानुभूति थी। इन गिरे हुए लोगों को उठाने की लगन के सामने, और दूसरी चीजों की तरह धर्म का भी गौण स्थान था। "एक अध-भूखे राष्ट्र का न तो धर्म हो सकता है, न कला और

न संगठन।" "करोड़ों भूखे आदमियों को जो चीज भी काम की हो सकती है, वही मेरे विचार में सुंदर वस्तु है। आज हम सबसे पहले जीवन देनेवाली चीजों को महत्व दें, और उसके बाद जीवन के सारे अलंकार और उनकी सारी परिष्कृतियां अपने-आप आ जायंगी।... मैं उस कला और साहित्य को चाहता हूं जो करोड़ों आदमियों के लिए काम का हो।" गांधीजी ने कहा है कि उनकी आकांक्षा यह है कि "हर आंख से हरएक आंसू पोंछ दिया जावे।"

यह कोई अचंभे की बात नहीं है कि इस आश्चर्यजनक रूप से दृढ़ व्यक्ति ने, जिसमें आत्म-विश्वास है और एक असाधारण ढंग की शक्ति भरी हुई है और जो हर इनसान की बराबरी और स्वतंत्रता का हिमायती है, और जिसके यहां गरीब-से-गरीब आदमी का खयाल है, हिंदुस्तान की जनता को मोहित किया और एक चुंबक की तरह उनको अपनी तरफ खींचा।

कांग्रेस गांधीजी के कहने में थी, लेकिन यह एक अजीब ढंग का अधिकार था, क्योंकि कांग्रेस सक्रिय थी, क्रांतिकारी थी और कई पहलुओंवाली ऐसी संस्था थी जिसमें तरह-तरह की रायें थीं और वह आसानी से इस या उस तरफ नहीं ले जाई जा सकती थी। अक्सर गांधीजी ने ऐसी स्थिति को झुककर स्वीकार कर लिया कि दूसरों की इच्छा पूरी हो सके। कभी-कभी तो उन्होंने अपने विरुद्ध निर्णयों को भी स्वीकार कर लिया। अपने लिए कुछ विशिष्ट बातों में गांधीजी जिद्दी थे, और कई अवसरों पर उनका और कांग्रेस का नाता टूट गया। लेकिन हमेशा ही वह हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और प्रबल राष्ट्रीयता के प्रतीक थे। हिंदुस्तान को गुलाम बनानेवाले सभी लोगों के वह कभी न झुकनेवाले विपक्षी थे। इस प्रतीक होने के नाते ही लोग उनको घेरते थे और उनके नेतृत्व को स्वीकार करते थे—वैसे चाहे वे बहुत-से मामलों में गांधीजी से सहमत न रहते हों। जिस समय कोई सक्रिय संघर्ष छिड़ा हुआ न हो, उस समय लोगों ने उनके नेतृत्व को सदा ही स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब संघर्ष अनिवार्य हुआ, तो वह प्रतीक सबसे अधिक महत्व का बन गया और शेष सब चीजें गौण हो गईं।

इस तरह १९२० में नेशनल कांग्रेस और वहुत हदतक सारे देश ने इस नये, अनदेखे रास्ते को अपनाया, और उसकी ब्रिटिश-शक्ति के साथ बार-बार लड़ाई हुई। इस नये ढंग में और उस हालत में, जो पैदा हो गई थी, संघर्ष का वीज था। लेकिन इसके पीछे राजनैतिक चालें या पैंतरे नहीं थे, बल्कि हिंदुस्तानी जनता को दृढ़ बनाने की इच्छा थी, क्योंकि उस शक्ति क ही बूते पर वे स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते थे और उसको बनाये रख सकते थे। एक के वाद दूसरा सविनय अवज्ञा-आंदोलन हुआ, और उसमें बेहद मुसीवतें उठानी पड़ीं। लेकिन उन मुसीवतों को आप न्योता दिया गया था, और इसीलिए उनसे शक्ति मिलती थी। किसी समय भी, यहांतक कि अपने बुरे दिनों में भी, कांग्रेस किसी बड़ी शक्ति या विदेशी शासन के सामने झुकी नहीं। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता की तड़पन और विदेशी-शासन के विरोध की वह प्रतीक बनी रही।

१० : अल्पसंख्यकों का प्रश्न

सन् १९३० के दूसरे सविनय अवज्ञा आंदोलन में मुसलमानों का सहयोग वहुत काफी था, यद्यपि वह १९२०-२३ की अपक्षा कम था। इस आंदोलन के सिलसिले में जिन लोगों को जेल भेजा गया, उनमें कम-से-कम दस हजार मुसलमान थे। उत्तरी-पच्छिमी सरहदी सूबे ने, जो प्रायः पूरे तौर से (९० प्रतिशत) मुस्लिम सूबा है, इस आंदोलन में, एक मुख्य और महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। यह अधिकतर, खान अब्दुल गफ्फार खां के कार्य और व्यक्तित्व के कारण हुआ, जो इस सूबे के पठानों के माने हुए और प्रिय नेता थे। वर्तमान काल में हिंदुस्तान में जितनी महत्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं, उनमें सबसे अधिक अचंभा अब्दुल गफ्फार खां के उस कमाल पर है, जिससे उन्होंने अपने झगड़ालू और भड़क उठनेवाले लोगों को राजनैतिक कार्यवाही के शांतिपूर्ण ढंग सिखा दिये, जिनमें वहुत तकलीफें उठानी पड़ती थीं। जिस समय इस बात को ध्यान में रखा जाय कि पठान, जो अपनी बंदूक को अपने भाई से अधिक प्यार करता है, जो बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाता है और जो थोड़ी-सी उत्तेजना पर भी मार डालने के लिए प्रसिद्ध है, तब

यह आत्म-अनुशासन एक अचरज की बात लगती है।

इसी तरह राजनैतिक दृष्टि से जगे हुए मध्य-वर्ग के मुसलमानों ने भी दूसरी जगहों में साथ दिया। किसानों और मजदूरों में कांग्रेस का असर काफ़ी था। उत्तरप्रदेश जैसे सूबों में यह प्रभाव मुख्य-रूप से था, क्योंकि वहांपर किसान और मजदूरों के सिलसिले में बहुत बढ़ा-चढ़ा कार्यक्रम था। फिर भी यह बात सच थी कि कुल मिलाकर आम मुस्लिम जनता, फिर से, पुराने स्थानीय और सामंत नेताओं की तरफ़ लौट रही थी।

कांग्रेस तथा और दूसरी संस्थाओं ने विभिन्न वर्गों की स्वीकृति से इस सांप्रदायिक समस्या को हल करने का बार-बार प्रयत्न किया। कुछ थोड़ी-सी सफलता भी मिली, लेकिन एक बुनियादी कठिनाई थी, अर्थात् ब्रिटिश-सरकार की उपस्थिति और उसकी नीति। यह स्वाभाविक बात है, ब्रिटिश लोग किसी ऐसे असली समझौते के पक्ष में नहीं थे, जिससे वह राजनीतिक आंदोलन, जो अब उनके विरुद्ध व्यापक है, दृढ़ हो। एक ऐसी तीन-तरफ़ा स्थिति बन गई थी, जिसमें विशेष रियायतें देकर सरकार एक-दूसरे को लड़ा सकती थी। अगर और दल पर्याप्त बुद्धिमानी दिखाते, तो उन्होंने इस रुकावट को भी पार कर लिया होता, लेकिन उनमें बुद्धिमानी और दूरदर्शिता की कमी थी। जब-जब वे किसी समझौते पर पहुंचनेवाले ही होते तभी सरकार कोई ऐसा कदम उठाती कि संतुलन बिगड़ जाता।

हिंदुस्तान का सारा इतिहास, अल्पसंख्यकों या विविध जातीय समुदायों के प्रति सहनशीलता का ही नहीं बल्कि प्रोत्साहन का साक्षी था। यूरोप में जैसे तीखे धार्मिक झगड़े रहे, और विद्यार्थियों को जैसी सजाएं मिलीं, उस ढंग की चीज हिंदुस्तान के इतिहास में कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसलिए धार्मिक और सांस्कृतिक उदारता और सहनशीलता के विचारों के सीखने के लिए हमको कहीं बाहर नहीं जाना था—ये बातें तो हिंदुस्तान के जीवन में आरंभ से थीं। निजी और राजनैतिक अधिकारों के सिलसिले में, हमपर फ्रांसीसी और अमरीकी-क्रांतियों का और साथ ही ब्रिटिश पार्लमेंट के संवैधानिक इतिहास का प्रभाव

पड़ा था। समाजवादी विचारधारा और सोवियत-क्रांति का प्रभाव तो बाद में पड़ा, और उसने हमारी विचारधारा में आर्थिक दृष्टिकोण को बहुत महत्व दे दिया।

मुसलमानों (और बाद में और दूसरे छोटे समुदायों) के लिए अलग निर्वाचिकाएं आरंभ की गईं और उनको, उनकी आबादी के अनुपात से, अधिक जगहें दी गईं। लेकिन किसी भी आम लोगों की लोकप्रिय सभा में अधिक जगह देकर अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यक नहीं बनाया जा सकता। वास्तव में पृथक् निर्वाचिका से संरक्षित समुदाय के लिए स्थिति कुछ खराब हो गई, क्योंकि तब बहुसंख्यकों ने उनमें दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। उस समय आपसी सोच-विचार का बहुत कम अवसर था। संयुक्त-निर्वाचिका में आपस में मेल बिठाने की अनिवार्य कोशिश होनी चाहिए, क्योंकि तब तो हरएक उम्मीदवार को हर समुदाय का साथ देना होता है। कांग्रेस इस मामले में आगे बढ़ी और उसने घोषणा की कि किसी ऐसे मामले पर, जिसका अल्पसंख्यकों के विशेष हितों से संबंध हो, अगर बहु-संख्यकों और धार्मिक अल्पसंख्यकों में मतभेद हुआ, तो उसका निर्णय बहुसंख्यक वोटों से नहीं होगा बल्कि वह मामला एक निष्पक्ष न्यायालय को, या आवश्यकता पड़ने पर किसी अंतर्राष्ट्रीय पंच को सौंपा जाना चाहिए और उसका निर्णय अंतिम होना चाहिए।

समझ में नहीं आता कि किसी भी लोकतंत्री ढांचे में किसी धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय को इससे अधिक क्या संरक्षण दिया जा सकता है। साथ ही यह बात याद रखनी चाहिए कि कुछ सूबों में मुसलमान स्वयं बहुसंख्यक थे और चूंकि वह प्रांत स्वाधीन होते, इसलिए कुछ अखिल भारतीय बातों पर ध्यान रखते हुए, उन सूबों में मुसलमान बहुसंख्यकों को अपनी पसंद के अनुसार काम करने की पूरी स्वतंत्रता होती। केंद्रीय सरकार में मुसलमानों का अनिवार्य रूप से एक महत्वपूर्ण भाग होता। मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों में सांप्रदायिक-धार्मिक समस्या उलटी थी, क्योंकि यहांपर दूसरे अल्पसंख्यकों (अर्थात् हिंदुओं और सिखों) की, मुसलमान बहुसंख्यकों के विरुद्ध रक्षा की मांग

थी। इस तरह पंजाब में हिंदू-मुस्लिम और सिखों का त्रिभुज था। अगर मुसलमानों का निर्वाचन-क्षेत्र अलग था, तो दूसरे लोग भी अपने लिए विशेष रक्षा की मांग करते। एक बार पृथक निर्वाचन आरंभ कर देने के बाद बंटवारे और हिस्से का और उससे पैदा हुई कठिनाइयों का कोई अंत ही नहीं था। स्पष्ट है कि किसी समुदाय को अधिक प्रतिनिधित्व देने के अर्थ यह थे कि दूसरे समुदाय को घाटा रहे और उसे अपनी आवादी के अनुपात से कम जगहें मिलें।

कांग्रेस ने वहुत-सी भूलें कीं, लेकिन ये भूलें अपेक्षाकृत छोटे सवालों में या प्रयत्न के ढंग में थीं। यह बात स्पष्ट है कि केवल राजनैतिक कारणों से भी कांग्रेस सांप्रदायिक हल निकालने के लिए उत्सुक और चिंतित थी, और इस तरह उन्नति के रास्ते की अड़चनों को दूर करना चाहती थी। विशुद्ध सांप्रदायिक संस्थाओं में ऐसी कोई उत्सुकता नहीं थी, क्योंकि उनके अस्तित्व का मुख्य कारण यह था कि वे अपने-अपने समुदायों की मुख्य मांगों पर जोर दें, और इसका नतीजा यह हुआ कि सारे ढांचे को यथावत् वनाये रखने में उनका एक निहित स्वार्थ होगया। सदस्यों की संख्या की दृष्टि से कांग्रेस में अधिकतर हिंदू थे, लेकिन साथ ही उसमें मुसलमान भी वहुत बड़ी संख्या में थे और दूसरे धार्मिक समुदाय, जैसे सिख और ईसाई आदि भी थे। इस तरह उसे हर बात पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचना होता था।

दो बुनियादी प्रश्नों पर कांग्रेस दृढ़ थी—राष्ट्रीय-ऐक्य और लोकतंत्र। वे वुनियादें थीं जिनपर कि वह स्थापित हुई थी और स्वयं आधी सदी के काल में इन वातों पर जोर दिया था। जहांतक मुझे पता है, कांग्रेस दुनिया-भर की अधिक-से-अधिक लोकतंत्रीय संस्थाओं में से एक है। यह वात संवैधानिक रूप में भी है और व्यावहारिक रूप में भी। अपनी उन दसियों हजार स्थानीय संस्थाओं के द्वारा जो, दश-भर में फैली हुई हैं, उसने जनता को लोकतंत्रीय ढंग की शिक्षा दी है, और इसमें उसे बहुत बड़ी सफलता मिली है। इस बात से, कि गांधीजी जैसा जन-प्रिय और प्रभावशाली व्यक्तित्व उससे संबंधित रहा, कांग्रेस के

लोकतंत्र में कोई कमी नहीं हुई। संकट और संघर्ष के अवसरों पर पथ-निर्देश के लिए नेता की ओर देखने की अनिवार्य प्रवृत्ति थी और ऐसा हरएक देश में होता है। साथ ही ऐसे अवसर यहां बराबर आये। कांग्रेस को प्रभुत्ववादी संस्था कहने से अधिक गलत बात और कोई हो नहीं सकती और इस सिलसिले में एक मजेदार और ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऐसा दोष आमतौर पर ब्रिटिश हुकूमत के उन ऊंचे प्रतिनिधियों द्वारा लगाया जाता है, जो हिंदुस्तान में निरकुंशता और प्रभुत्ववाद के प्रतीक हैं!

११ : कांग्रेस विदेश नीति बनाती है

गांधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया रुख दिया, और उससे निराशा और तीखेपन की भावना कम हो गई। राष्ट्रीय भावनाएं बनी रहीं लकिन जहांतक मेरा खयाल है, और किसी दूसरे राष्ट्रीय आंदोलन में इतनी कम घृणा का भाव नहीं था। गांधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे, लेकिन साथ-ही-साथ उन्होंने अनुभव किया कि उनके पास जो संदेश था, वह केवल हिंदुस्तान के लिए ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिए था, और वह दिल से दुनिया-भर में शांति चाहते थे। इसी वजह से उनकी राष्ट्रीयता में दुनिया-भर का खयाल था और उसमें किसी दूसरे पर हमला करने की बू नहीं थी। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता चाहते हुए भी, वह यह विश्वास करने लगे थे कि दुनिया-भर क राष्ट्रों का एक संघ ही सही आदर्श था। मेरी राष्ट्रीयता का विचार तो यह है कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाय, और आवश्यक हो तो सारा देश मिट जाय, ताकि मानव-जाति जीवित रह सके।

ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति और आत्म-विश्वास बढ़ा, लोगों के मस्तिष्क स्वतंत्र हिंदुस्तान के विषय में सोचने लगे—उसे कैसा होना चाहिए, उसे क्या करना होगा, और दूसरे देशों से उसका क्या और कैसा नाता होगा? देश के बड़े होने, उसकी बड़ी शक्ति और उसके बहुत ज्यादा फलने-फलने की गुंजाइश से लोग बड़ी-बड़ी बातों को ही

सोचने लगे। हिंदुस्तान किसी देश या राष्ट्र-समूह के पीछे चलनेवाला नहीं हो सकता था। उसकी स्वतंत्रता और उन्नति से एशिया में और उसकी वजह से सारी दुनिया में एक वहुत वड़ा अंतर आयगा। उसकी वजह से इंग्लैंड और उसके साम्राज्य से जो कड़ी हमें बांधे हुए थी, उसको तोड़कर पूरी आजादी का खयाल हमारे सामने आया। डोमीनियन स्टेटस, चाहे वह आजादी के कितने ही निकट क्यों न हो, हमारी पूरी उन्नति के लिए एक विल्कुल वाहियात रुकावट मालूम दिया। डोमीनियन स्टेटस का समर्थक विचार कि आदि देश अपनी नौ-आवादियों से मिला हुआ है और उन सवके लिए एक ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, हिंदुस्तान पर विल्कुल लागू नहीं था।

जव हमने हिंदुस्तान की आजादी की वात की, तो उसमें एकदम अलग रहने का खयाल नहीं था। वहुत-से दूसरे मुल्कों की अपेक्षा हमने अधिक स्पष्ट-रूप में यह अनुभव किया कि पुराने ढंग की पूरी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए कोई भविष्य नहीं था, और अव दुनिया-भर के सहयोग के एक नये युग का आना अनिवार्य था। इसीलिए हमने इस बात को वार-वार दुहराकर स्पष्ट किया कि अंतर्राष्ट्रीय ढांचे से मेल बनाये रखने के लिए दूसरे राष्ट्रों के साथ हम अपनी स्वतंत्रता को सीमित करने को पूरी तरह तैयार थे। यह एक अचंभे की वात है कि अपनी जोरदार राष्ट्रीय भावनाओं के होते हुए भी, हमारे विचारों में अंतर्राष्ट्रीयता की विरोधी भावना नहीं आई।

१२ : कांग्रेस और युद्ध

कांग्रेस ने विशेष रूप से यह मांग की कि विना हिंदुस्तानियों या उनके प्रतिनिधियों की स्वीकृति के हिंदुस्तान का किसी लड़ाई स गठबंधन न किया जाय। और विना ऐसी राय के हिंदुस्तानी फौज किसी भी काम के लिए देश से वाहर न भेजी जाय। केंद्रीय विधान सभा ने भी, जिसमें विभिन्न दल और पार्टियां सम्मिलित थीं, यही मांग पेश की। वहुत समय से हिंदुस्तानियों की यह शिकायत थी कि हमारी फौज़ें देश से वाहर, अक्सर साम्राज्यवादी उद्देश्य से भेजी जाती

हैं, और उनसे उन आदमियों को जीतने या कुचलने या दबाये रखने का काम लिया जाता है, जिनसे हमारा कोई झगड़ा नहीं है और जिनकी आजादी की कोशिशों के लिए हमारे दिल में हमदर्दी है। हिंदुस्तानी फ़ौज को, किराये के आदमियों के तरह, ऐसे-ही कामों में बरमा, चीन, ईरान और मध्यपूर्व और अफ्रीका के हिस्सों में इस्तेमाल किया गया था। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतीक बन गई थीं, और उसी सबब से वहां के रहनेवालों के दिलों में हिंदुस्तान के विरुद्ध भावनाएं पैदा हुईं। मुझे एक मिस्री का यह तीखा आक्षेप याद है—"तुमने सिर्फ अपनी ही आजादी नहीं खोई है, बल्कि तुम दूसरों को ग़ुलाम बनाने में ब्रिटेन की मदद करते हो।"

सन् १९२९ के मध्य में यह पता लगा कि हिंदुस्तानी फौज देश से बाहर भेजी गई—शायद सिंगापुर को और मध्य-पूर्व को। तुरंत ही बड़ी जोरदार आवाजें उठीं कि यह हिंदुस्तान के प्रतिनिधियों की सलाह लिये बिना ही किया गया है। यह बात तो मानी गई कि संकट-काल में फौज का प्रोग्राम अक्सर गुप्त रखना पड़ता है। लेकिन फिर भी प्रतिनिधि नेताओं के साथ और उनसे सलाह लेने के लिए बहुत-से तरीक़े हो सकते थे। केंद्रीय विधान-सभा की पार्टियों के नेता थे, और हर प्रांत में जनता द्वारा चुनी हुई सरकारें थीं। मामूली तौर पर केंद्रीय सरकार को इन प्रांतीय मंत्रियों से बहुत-से मामलों में सलाह-मशवरा करना पड़ता था, और उन्हें भेद की बातें बतानी पड़ती थीं। लेकिन इस अवसर पर राष्ट्र की खुली घोषणा के होते हुए भी जनता के प्रतिनिधियों से नाममात्र को भी सलाह नहीं ली गई। ब्रिटिश पार्लमेंट के द्वारा गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट (सन् १९३५) में संशोधन के लिए क़दम उठाये जा रहे थे। इस समय प्रांतीय सरकारें इसी ऐक्ट के अनुसार काम कर रही थीं। अब यह कोशिश की गई कि लड़ाई के सिलसिले में केंद्रीय सरकार को विशेषाधिकार दे दिये जायं और सारी शक्ति केंद्र के हाथ में आ जाय। आमतौर पर एक लोकतंत्री राज्य में यह बात बिलकुल स्वाभाविक और तर्क-संगत होती, अगर इस बारे में विभिन्न दलों की राय ले ली जाती। इसपर बहुत नाराजी फैली। ऐसा अनुभव

किया गया कि यह नीति उस आश्वासन के विरुद्ध थी, जो कांग्रेसी सरकारों को शुरू में दिया गया था। साथ ही, यह बात स्पष्ट होने लगी कि पहले की तरह बिना हिंदुस्तानियों के निर्वाचित प्रतिनिधियों से सलाह किये ही उनपर लड़ाई का बोझ लाद दिया जायगा।

यूरोप में युद्ध की घोषणा हुई और तुरंत ही हिंदुस्तान के वाइसराय ने घोषित किया कि हिंदुस्तान भी लड़ाई में आ गया। एक व्यक्ति—एक विदेशी, और वह भी एक ऐसे शासन का प्रतिनिधि, जिससे लोगों को घृणा थी, चालीस करोड़ आदमियों को, बिना उनकी रत्ती-भर मर्जी के, लड़ाई में उलझा दे ! स्पष्ट है कि उस ढांचे में बुनियादी तौर पर कोई गलती है, कोई सड़न है, जिसमें इस ढंग से चालीस करोड़ आदमियों की क़िस्मत का निबटारा किया जाता है। उपनिवेशों में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा पूरी तरह सलाह-मशविरा और हर पहलू से सोच-विचार के बाद यही निर्णय किया गया। लेकिन हिंदुस्तान में ऐसा नहीं हुआ। इससे हिंदुस्तानियों के दिलों को चोट पहुंची।

१३ : युद्ध की प्रतिक्रिया

१४ दिसंबर, १९३९ को; लंबी बहस के बाद कांग्रेस कार्य-समिति ने युद्ध-संकट के सिलसिले में एक लंबा बयान जारी किया। इसमें वाइसराय के उठाये हुए क़दमों और क़ानूनों की चर्चा थी, और यह कहा गया था कि "कार्य-समिति को इन घटनाओं को बड़े गंभीर रूप में लेना चाहिए।" फ़ासिस्ट और नात्सी मतों की निंदा की गई और खास तौर पर नात्सी जर्मन-सरकार के सबसे ताजे हमले की, जो उसने पोलेंड पर किया था, और उन लोगों के लिए जो ऐसी चीजों का विरोध करते थे, हमदर्दी प्रकट की गई।

यद्यपि सहयोग के लिए हम तैयार थे, लेकिन यह बात साफ़ कर दी गई कि 'जबरदस्ती सिर मढ़े हुए फैसलों का'...अनिवार्य-रूप से विरोध किया जायगा। अगर किसी ऊंचे आदर्श के लिए सहयोग की आवश्यकता है, तो यह बात स्पष्ट है कि वह सहयोग दबाव या जबरदस्ती से नहीं मिल सकता, और न कार्य-समिति इस बात के लिए तैयार

—

हो सकती है कि हिंदुस्तानी उन हुक्मों की पाबंदी करें जो विदेशी शक्ति द्वारा दिये गए हैं। सहयोग तो बराबरवालों में होना चाहिए, और उसमें आपसी रजामंदी होनी चाहिए, और वह उस आदर्श के लिए, जिसको दोनों ही बड़ी चीज समझते हों। इधर हाल में ही हिंदुस्तानियों ने बड़े खतरों का सामना किया है, और अपने-आप ही स्वतंत्रता प्राप्त करने और हिंदुस्तान में लोकतंत्र स्थापित करने के लिए बड़े-बड़े बलिदान किये हैं। उनकी हमदर्दी पूरी तरह लोकतंत्र और स्वतंत्रता के पक्ष में है। लेकिन हिंदुस्तान किसी ऐसी लड़ाई में सम्मिलित नहीं हो सकता था, जिसके लिए कहा तो यह जाय कि वह लोकतंत्र और आजादी के लिए है, जबकि यह आजादी खुद उसे प्राप्त नहीं है, और यही नहीं, बल्कि जो कुछ थोड़ी-बहुत आजादी उसके पास है, वह भी उससे छीनी जा रही है।"

इस बयान में, जो गहरे सोच-विचार के बाद निकाला गया था, हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान के बीच से उन अड़ंगों को हटाने की कोशिश थी, जो उनके आपसी रिश्तों को डेढ़ सौ बरसों से खराब कर रहे थे। इसमें कोशिश थी कि कोई ऐसा रास्ता निकल आवे कि आजादी के लिए हमारी बेचैनी और दुनिया के इस संघर्ष में आम जोश और सहयोग के साथ हमारी सम्मिलित होने की हार्दिक इच्छा, ये दोनों बातें एक साथ चल सकें।

कांग्रेस की कार्य-समिति के लिए ऐसा प्रस्ताव इंग्लिस्तान के सामन रखना कोई आसान बात नहीं थी। इस समय अधिकतर लोगों की अंतर्राष्ट्रीय मसलों के बारे में जानकारी नहीं के बराबर थी और वे हाल की ब्रिटिश-नीति के प्रति नाराजगी प्रकट करते थे। हम जानते थे कि एक-दूसरे पर शक और आपस में भरोसे की कमी लफ्जों के जादू से नहीं मिट सकती थी। फिर भी हमें आशा थी कि घटनाओं की मार से इंग्लिस्तान के नेता अपने साम्राज्यवादी दरबों से बाहर आकर, दूर की चीजों को ध्यान में रखते हुए, हमारे प्रस्ताव को मंजूर करेंगे। इस तरह इंग्लिस्तान और हिंदुस्तान के झगड़े खत्म हो जायंगे, और लड़ाई के लिए हिंदुस्तान का जोश और उसके साधन, दोनों ही रुके बांध की तरह

फूट पड़ेंगे।

लेकिन ऐसा नहीं होना था, और उन्होंने जवाब में हमारी मांग को अस्वीकार कर दिया। यह बात स्पष्ट हो गई कि वे हमारा साथ मित्रों और बराबरवालों की तरह नहीं चाहते थे। उनकी इच्छा तो यह थी कि हम गुलामों की तरह उनका हुक्म बजावें।

हमारे सूबों की सरकारों की कठिनाइयां बढ़ गईं, और उन्हें दो चीजों में से एक को चुन लेना था। या तो वे वाइसराय और गवर्नर की दस्तंदाजी क सामने सिर झुकातीं या उनका सामना करतीं। बड़े-बड़े सरकारी नौकर गवर्नर के साथ थे, और वे मंत्रियों और विधान-सभाओं की ओर इस तरह देखते थे, मानो वे उनके रास्ते में रोड़ा हों। यह तै किया गया कि हिंदुस्तान के ग्यारह सूबों में से जिन आठ सूबों में कांग्रेसी सरकारें थीं (यानी बंगाल, सिंध और पंजाब को छोड़कर), वे विरोध में इस्तीफा दे दें। कुछ लोगों की राय थी कि वे इस्तीफा न दें और काम करती रहें, ताकि गवर्नर को उन्हें बरखास्त करने की नौबत आवे। यह बात स्पष्ट थी कि बुनियादी झगड़ों की वजह से, जो दिन-ब-दिन ज्यादा साफ़ होते जा रहे थ, उन सरकारों में और गवर्नरों में झगड़े होने लाजिमी थे। और अगर वे सरकारें इस्तीफा न देतीं तो उनको बरखास्त कर दिया जाता। उन सरकारों ने बिल्कुल संवैधानिक रास्ता अपनाया, यानी इस्तीफा दिया, और विधान-सभा को भंग कर फिर से चुनावों के लिए न्यौता दिया। चूंकि विधान-सभा में उनके पीछे बहुमत था, इसलिए कोई नया मंत्रिमंडल बनाया नहीं जा सकता था। लेकिन गवर्नर नये चुनावों से बचना चाहते थे, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि उसमें कांग्रेस की बड़ी भारी जीत होगी। उन्होंने विधान सभा को रद्द नहीं किया, बल्कि उसके काम को स्थगित कर दिया, और विधानसभा और मंत्रिमंडल दोनों के ही सारे अधिकारों को अपने हाथों में ले लिया। सूबों के वे बिल्कुल निरंकुश मालिक हो गए। वे क़ानून बनाते, हुक्म जारी करते और जो चाहते करते, और उसमें जनता की या उसके प्रतिनिधियों की राय का रत्ती-भर भी खयाल न होता।

बंगाल और पंजाब के बड़े सूबों में, और सिंध के छोटे-से सूबे में,

इस्तीफे नहीं दिये गए। बंगाल और पंजाब दोनों ही में गवर्नर और सिविल सर्विस का पहले से ही बोल-बाला था, इसलिए वहां कोई झगड़ा नहीं उठ सकता था। इतने पर भी बंगाल में बाद में गवर्नर और प्रधान-मंत्री की नहीं बनी और गवर्नर ने मंत्रिमंडल को इस्तीफा देने के लिए मजबूर किया। आगे चलकर सिंध के प्रधान मंत्री ने वाइसराय को एक पत्र लिखा और उसमें ब्रिटिश-नीति की बुराई-भलाई की और उसके विरोध में उन्होंने वह सरकारी खिताब, जो उन्हें दिया गया था, छोड़ दिया। उन्होंने इस्तीफा नहीं दिया। लेकिन वाइसराय ने इस पत्र की वजह स, गवर्नर के हाथों, उन्हें प्रधान-मंत्री के पद से बरखास्त कराया, क्योंकि यह पत्र वाइसराय की प्रतिष्ठा के विरुद्ध था।

१४ : सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स का हिंदुस्तान में आना

पेनांग और सिंगापुर के पतन के बाद, और ज्यों-ज्यों जापानी मलाया में बढ़ते गए, वहां के हिंदुस्तानी और दूसरे लोग भागे और सब हिंदुस्तान में आए। उनको एकदम ही भागना पड़ा था और इसलिए अपने बदन के कपड़ों के अलावा उनके पास कुछ नहीं था। फिर बरमा से रक्षा के लिए भ.गे हुए आदमियों की बाढ़ आई; उनमें लाखों आदमी थे—अधिकतर हिंदुस्तानी। यह कहानी कि किस तरह से सिविल अधिकारियों ने और दूसरे अफसरों ने उनका ऐन मौके पर साथ छोड़ दिया और न उनके लिए भागने और वहां से हटने का कोई प्रबंध था, हिंदुस्तान में चारों तरफ फैल गई। उन्होंने सैकड़ों मीलों का पहाड़ी और घने जंगलों का रास्ता पार किया। दुश्मन से वे घिरे हुए थे। रास्ते में बहुत-से लोग मर गए—कुछ छुरों से, कुछ बीमारी से और कुछ भूख से। लड़ाई का यह भयानक नतीजा था और कोई चारा नहीं था।

ठीक उसी अवसर पर सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स हिंदुस्तान में ब्रिटिश वार कैबिनेट (ब्रिटिश-युद्ध-मंत्रि-परिषद्) के प्रस्ताव लेकर आये। मुझे याद है, जब मैंने इन प्रस्तावों को पहली बार पढ़ा, तो मुझे बहुत मायूसी हुई। उस मायूसी का विशेष कारण यह था कि मैंने सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स से उस समय की नाजुक हालत देखते हुए कुछ अधिक सारवस्तु की आशा की थी। हिंदुस्तान की हालत से अपरिचित आदमी को तो ऐसा मालूम होना

कि उन प्रस्तावों में हमारी मांगों को पूरा करने का पर्याप्त प्रयत्न हुआ है। लेकिन आत्म-निर्णय के अधिकार की स्वीकृति इन प्रस्तावों में इस तरह जकड़ी हुई थी, और संकुचित घेरे में दबी हुई थी कि सारे भविष्य को संकट में डालनेवाली थी।

उन प्रस्तावों में भविष्य की, लड़ाई समाप्त होने के बाद के समय की, ही विशेषकर चर्चा थी। हां, बाद में एक ऐसा टुकड़ा और था, जिसमें बहुत स्पष्ट रूप में मौजूदा समय में सहयोग मांगा गया था। उस भविष्य में आत्म-निर्णय के सिद्धांत पर सूबों को हिंदुस्तानी संघ से अलग एक नया स्वतंत्र राज्य स्थापित कर सकने का अधिकार था। इसके अलावा हिंदुस्तानी संघ से अलग हो सकने का अधिकार हिंदुस्तानी रियासतों को भी दिया गया था। यह बात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तान में ६०० से ज्यादा ऐसी रियासतें थीं। इनमें कुछ तो बड़ी हैं, लेकिन ज्यादातर तो बहुत छोटी हैं। ये रियासतें और ये सूबे संविधान बनाने में हिस्सा लेते, संविधान पर असर डालते और बाद में उससे बाहर निकल सकते थे। सारी पृष्ठभूमि में पृथक होने की बू होती, और राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को एक गौण स्थान मिलता। प्रतिक्रियावादी तत्व, जिनमें बहुत-से आपसी भेद होते, एक बार मिलकर दृढ़, उन्नतिशील और एक राष्ट्रीय सरकार के विकास को कुचल देते। अलहदा होने की लगातार धमकियों की वजह से संविधान में बहुत-सी बेजा पाबंदियां लग जातीं। केंद्रीय सरकार कमजोर, निकम्मी बना दी जाती, लेकिन इतने पर भी वे फिर अलग हो सकते थे, और तब बाकी रियासतों और सूबों के लिए एक व्यावहारिक संविधान बनाना कठिन होता।

हिंदुस्तान को हिस्सों में बांटने का कोई भी सुझाव सोचने में दुःखद होता। यह तो उन सारी भावनाओं और धारणाओं के ही विरुद्ध होता, जो जनता में एक प्रबल प्रेरणा उत्पन्न करती हैं। हिंदुस्तान का सारा राष्ट्रीय आंदोलन हिंदुस्तान के एके की बुनियाद पर था, यद्यपि यह एके की भावना, राष्ट्रीयता के मौजूदा पक्ष से बहुत अधिक पुरानी और गहरी थी।

भावना के अलावा, बंटवारे के विरुद्ध ठोस दलीलें थीं। हिंदुस्तान

की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं की उलझन हद दर्जे पर पहुंच गई थी। इसका मुख्य कारण था ब्रिटिश-सरकार की नीति। और अब अगर भयंकर-से-भयकर सर्वनाश से बचना था, तो उसके लिए आवश्यकता थी कि बहुमुखी प्रगति का पग उठाया जाय और उन्नति की जाय। यह उन्नति उसी समय संभव थी कि जब समूचे और अविभक्त हिंदुस्तान के लिए, अखंड भारत के लिए, व्यावहारिक और उपयोगी योजनाएं बनाई जावें—सारे-समूचे हिंदुस्तान के लिए, क्योंकि अलग-अलग हिस्से एक-दूसरे की कमियों को पूरा करते थे।

गांधीजी ने बराबर घोषणा की थी कि वह राजाओं के कोई दुश्मन नहीं हैं। यह सही है कि राजाओं से बराबर उनका व्यवहार मैत्री का रहा, यद्यपि अक्सर उन्होंने उनके शासन के ढंग की आलोचना की, और इस बात की भी आलोचना की, कि उनकी जनता को मामूली अधिकारों की भी स्वतंत्रता नहीं थी। कितने-ही वर्षों से उन्होंने कांग्रेस को रोक रखा था कि वह रियासती मामलों में सीधेतौर पर दखल न दें। उनकी यह इच्छा थी कि रियासतों की जनता स्वयं आगे बढ़े और इस तरह अपने अंदर आत्म-विश्वास और शक्ति बढ़ाए। हममें से बहुत-से लोगों को उनकी यह नीति नापसंद थी। लेकिन इस सबके पीछे एक पक्का विश्वास था। उन्हींके शब्दों में—"मेरी नीति की एक बुनियादी बात यह है कि रियासती जनता के अधिकारों को बेच देने में मैं साथ न दूंगा (चाहे) इससे ब्रिटिश हिंदुस्तान की जनता को स्वतंत्रता ही क्यों न मिलती हो।"

ब्रिटिश वार-कैबिनेट के मस्तिष्क में हिंदुस्तान के भविष्य के बारे में क्या विचार था, मुझे नहीं मालूम। मेरे ख़याल से, सर स्टैफर्ड हिंदुस्तान का भला चाहते थे, और हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और राष्ट्रीय एकता की आशा करते थे। लेकिन यह निजी विचारों या रायों या शुभ-कामनाओं का मामला नहीं था। हमको एक सरकारी मसविदे पर सोच-विचार करना था। उसमें बातें जान-बूझकर साफ नहीं की गई थीं, लेकिन उसे बड़ी सावधानी से लिखा गया था और उसमें प्रत्येक शब्द के मानी थे। हमको बताया गया कि हम उसे या तो ज्यों-का-त्यों मान

लें या उसे रद्द कर दें। उसके पीछे ब्रिटिश-सरकार की एक शताब्दी पुरानी नीति बराबर छिपी हुई थी—हिंदुस्तान में फूट डालना, और राष्ट्रीय उन्नति और स्वतंत्रता के रास्ते में आनेवाली हर चीज को बढ़ावा देना।

हिंदुस्तान की एकता के लिए सारे उत्साह और इच्छा के होते हुए भी, कांग्रेस ने अल्प-संख्यकों और दूसरे दलों का सहयोग लेने की दिल से कोशिश की, और वह यहांतक आगे बढ़ गई कि उसने घोषणा की कि कोई भी प्रादेशिक इकाई, हिंदुस्तानी संघ में, उसकी जनता की घोषित इच्छा के विरुद्ध, हठात् नहीं रखी जायगी। अगर और कोई चारा न हो तो बंटवारे के सिद्धांत को उसने मान लिया। लेकिन किसी तरह वह इस चीज़ को बढ़ावा नहीं देना चाहती थी। कांग्रेस कार्य-समिति ने क्रिप्स-प्रस्तावों के संबंध में अपने प्रस्ताव में कहा—"कांग्रेस ने सदा से समझा है कि हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और उसकी एकता के टूटने से और विशेष रूप से आज की दुनिया में, जब आदमी अनिवार्यतः बड़ी-बड़ी फेडरेशनों की बात सोचते हैं, सभीको बहुत हानि होगी और इसलिए उस कल्पना से ही बेहद कष्ट होता है। फिर भी समिति यह नहीं सोच सकती कि वह किसी खास हिस्से के लोगों को उनकी घोषित इच्छा के विरुद्ध, हिंदुस्तान के संघ में रहने को विवश करे। इस सिद्धांत को मानते हुए भी समिति यह चाहती है कि ऐसी हर कोशिश की जाय जिससे ऐसी हालत पैदा हो कि अलग-अलग हिस्सों के आदमी मिल-जुलकर एक राष्ट्रीय जीवन बना सकें। इस सिद्धांत को मानने के लाजिमी मानी यह हैं कि अब ऐसी कोई रद्दोबदल न की जाय कि नये झगड़े पैदा हों या उन हिस्सों के दूसरे बड़े-बड़े समुदायों पर जबरदस्ती की जाय। देश के हर हिस्से को संघ के अंदर भीतर अधिकतम स्वायत्तता होनी चाहिए और साथ-ही एक सुदृढ़ राष्ट्रीय सरकार होनी चाहिए। ब्रिटिश-वार कैबिनेट के वर्तमान प्रस्ताव ऐसा बढ़ावा दे रहे हैं कि उनकी वजह से बंटवारे की पूरी कोशिश होगी। यह सब संघ स्थापित करने के अवसर पर हो रहा है। इस तरह तो आपसी झगड़े होंगे, ठीक ऐसे अवसर पर जबकि अधिक-से-अधिक सहयोग और सद्भावनाओं की आवश्यकता है।

यह प्रस्ताव शायद सांप्रदायिक मांग को पूरा करने के लिए है, और इसके दूसरे नतीजे भी होंगे। राजनैतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी, और अलग संप्रदायों के अड़ंगा डालनेवाले लोग, झगड़ा शुरू करेंगे और इस तरह देश की बड़ी-बड़ी समस्याओं की ओर से जनता का ध्यान हट जायगा।"

इस अवसर पर कांग्रेस की स्थिति यह थी कि हिंदुस्तान पर मंड-राते हुए युद्ध-संकट के कारण वह भविष्य की चीजों को एक तरफ रख देने के लिए तैयार थी। उसकी सारी निगाह एक राष्ट्रीय सरकार बनाने की ओर थी, जो लड़ाई में पूरी तरह साथ दे सके। वह भविष्य के सिल-सिले में ब्रिटिश-सरकार के उक्त प्रस्तावों को मानने को तैयार नहीं थी। जहांतक कि वर्तमान का प्रश्न था, ब्रिटिश-वार कैबिनेट के प्रस्ताव अस्पष्ट थे, अधूरे थे। हां, उनमें एक बात अवश्य स्पष्ट थी कि हिंदुस्तान की रक्षा करना पूरी तरह से ब्रिटिश-सरकार की जिम्मेदारी रहेगी। सर स्टैफर्ड क्रिप्स के बार-बार के बयानों से ऐसा मालूम होता था कि रक्षा-विभाग को छोड़कर शेष सब विषयों का प्रबंध हिंदुस्तानी हाथों में दे दिया जायगा। इसकी भी चर्चा थी कि वाइसराय केवल संवैधानिक प्रमुख की तरह होगा, ठीक उसी तरह जैसे इंग्लैंड का बादशाह था। इससे हमने यह समझा कि अब केवल प्रतिरक्षा के प्रश्न पर ही सोच-विचार करना है। हमारी दलील यह थी कि लड़ाई के जमाने में अक्सर ऐसा होता है, और बाद में ऐसा हुआ भी, कि उसके (प्रतिरक्षा के) अंदर अधिकतर राष्ट्रीय काम-काज समा जाते हैं। अगर प्रतिरक्षा को राष्ट्रीय सरकार के कार्य-क्षेत्र से बिल्कुल अलहदा कर दिया जाय, तो शायद ही कुछ बाकी बचे। यह बात मंजूर थी कि ब्रिटिश सेनापति हथियारबंद फौज पर और फौजी कार्रवाइयों पर अपना पूरा काबू बनाये रहे। यह बात भी मंजूर थी कि लड़ाई की नीति सम्राट् के अधिकारियों द्वारा तै हो। लेकिन इसके अलावा यह मांग की गई थी कि प्रतिरक्षा-मंत्री का काम राष्ट्रीय सरकार के हिंदुस्तानी सदस्य को मिलना चाहिए।

कुछ बहस के बाद सर स्टैफर्ड तैयार हो गए कि एक हिंदुस्तानी सदस्य के अधीन प्रतिरक्षा-विभाग हो। लेकिन जो काम इस विभाग के

जिम्मे सौंपे गए वे ये थे : सार्वजनिक संबंध, पेट्रौल, लिखाई और छपाई का सामान, विदेशी शिष्टमंडलों के लिए सामाजिक प्रबंध, फौजों के आराम का प्रबंध, फौज के नाश्ते और मन-वहलाव का प्रबंध। यह एक ध्यान देने योग्य सूची थी और उससे प्रतिरक्षा-मंत्री का पद एक मजाक की चीज बन गया। आगे वहस से एक दूसरा ही पहलू सामने आया। इन दोनों दृष्टिकोणों में अव भी काफी अंतर था। लेकिन ऐसा महसूस हुआ कि हम एक-दूसरे के करीव आते जा रहे हैं। पहली वार मुझे ऐसा लगा और यही वात दूसरों को महसूस हुई कि अब समझौता मुमकिन है। लड़ाई की हालत में बढ़ता हुआ संकट वरावर एक अंकुश था कि हम सभी किसी समझौते पर पहुंचना चाहते थे।

और तव, ठीक उसी समय जब मुझे सबसे ज्यादा उम्मीद थी, अजीव चीजें होने लगीं। लार्ड हैलीफेक्स ने संयुक्त-राज्य में कहीं व्याख्यान देते हुए, कांग्रेस पर जोरदार आक्षेप किये। सुदूर अमरीका में ठीक उसी समय उन्होंने यह क्यों किया, यह समझ में नहीं आया। लेकिन यह साफ था कि कांग्रेस के साथ समझौते की वातचीत चल रही थी, वह ऐसा उस वक्त तक नहीं कर सकते थे जबतक कि वह ब्रिटिश-सरकार की नीति और विचारों को ही प्रकट न कर रहे हों। यह वात दिल्ली में अच्छी तरह मालूम थी कि वाइसराय लार्ड लिनलिथगो और सिविल सर्विस के वड़े-वड़े अफसर समझौते के सख्त खिलाफ थे। वे अपनी शक्तियों को घटाने के लिए तैयार नहीं थे। वहुत-सी वातें गुप-चुप ढंग से हुईं और उनके वारे में पूरी जानकारी नहीं मिली।

जब हम स्टैफर्ड क्रिप्स से, प्रतिरक्षा-मंत्री के काम-काज के विषय में एक नया समझौता निकालने और सोच-विचार करने के लिए फिर मिले, तो यह वात प्रकट हुई कि हमारी पिछली वातों का असली चीज से कोई संबंध नहीं था। न कोई नये मंत्री वनने थे और न उन्हें कोई अधिकार ही दिये जाने थे। वाइसराय की मौजूदा एक्जीक्यूटिव कौंसिल वदस्तूर बनी रहेगी, और इरादा केवल यह था कि राजनैतिक दलों के कुछ और हिंदुस्तानियों को उसमें नियुक्त कर दिया जाय।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स से बातचीत के सारे दौरान में अल्पसंख्यकों

के मामले पर या सांप्रदायिक कहे जानेवाले सवालों पर न तो कोई सोच-विचार हुआ और न उनका जिक्र ही उठा। जहांतक हमारा संबंध है, हम मुख्य दलों के विश्वास पर वनी एक सच्ची राष्ट्रीय सरकार के लिए इतने उत्सुक थे कि हमको ऐसा ज्ञात होता था कि आपसी अनुपात के प्रश्न पर कोई विशेष वाधा नहीं होगी। कांग्रेस-सभापति, मौलाना अबुल कलाम आजाद, ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को एक पत्र में लिखा—"हम इस वात पर आपका ध्यान दिलायगे कि जो प्रस्ताव हमने पेश किये हैं, वे सिर्फ हमारी ही नहीं वल्कि हिंदुस्तान की जनता की सर्वसम्मत मांग कहे जा सकते हैं। इन मामलों पर अलग-अलग समुदायों और दलों में कोई मतभेद नहीं है; भेद तो कुल मिलाकर हिंदुस्तानी जनता और ब्रिटिश-सरकार में है।"

वाद में कांग्रेस-सभापति के अंतिम पत्र में यह कहा गया था—"हमारी दिलचस्पी इसमें नहीं है कि केवल कांग्रेस को ही शक्ति मिले, वल्कि हमारी दिलचस्पी इसमें है कि हिंदुस्तान की सारी जनता को स्व-तंत्रता और शक्ति मिले। ....हमको विश्वास है कि अगर ब्रिटिश सरकार अपनी फूट डालनेवाली नीति को वढ़ावा न दे, तो हम सब, चाहे हम किसी पार्टी या दल के हों, आपस में मिल सकते हैं और काम करने का ऐसा रास्ता निकाल सकते हैं जो सवको मंजूर होगा। लेकिन अफसोस कि इस भारी खतरे के मौके पर भी ब्रिटिश-सरकार अपनी फूट डालनेवाली नीति को छोड़ने को तैयार नहीं है। इससे हमको विवश हो-कर इस नतीजे पर पहुंचना पड़ा है कि हिंदुस्तान की, मंडराते हुए हमल से रक्षा की जगह, हिंदुस्तान में जवतक मुमकिन हो सके, अपना राज्य कायम रखने का उसके मस्तिष्क में अधिक महत्व है और उसी उद्देश्य से वह यहां फूट और झगड़ा वढ़ाती जाती है। हमारे लिए और सभी हिंदु-स्तानियों के लिए हिंदुस्तान की रक्षा का ही मुख्य ध्यान है और उसी कसौटी को हम सबसे ऊपर मानते हैं।"

कांग्रेस-सभापति के इस आखिरी पत्र के कुछ ही वाद सर स्टैफर्ड क्रिप्स हवाई जहाज से इंग्लैंड वापस लौट गए। लेकिन इससे पहले, और फिर इंग्लैंड पहुंचने के बाद, उन्होंने जनता के सामने ऐसे बयान दिये

जो वस्तुस्थिति से उल्टे थे। उनसे हिंदुस्तान में बेहद नाराजी हुई। हिंदुस्तान में जिम्मेदार आदमियों के विरोध और शिकायत के बाद भी सर स्टैफर्ड और दूसरे आदमी उन बयानों को दुहराते रहे। ब्रिटिश-प्रस्तावों को केवल कांग्रेस ने ही रद्द नहीं किया था, बल्कि हर पार्टी और दल ने उन्हें रद्द कर दिया था।

ब्रिटिश-पार्लमेंट में और दूसरी जगहों पर यह कहा गया कि कांग्रेस की रद्द करने की वजह तो गांधीजी का वह रुख था जो समझौता चाहता ही नहीं था। यह बात बिल्कुल गलत है। गांधीजी ने और लोगों के साथ इस बात को नापसंद किया था कि प्रस्ताव की वजह से भविष्य में, अनगिनत बंटवारे करने पड़ते और साथ ही हिंदुस्तानी रियासतों की नौ करोड़ जनता की अवहेलना की गई थी, उन्हें अपने भविष्य के बारे में कुछ कहने का अधिकार नहीं दिया गया था। समझौते की सारी बात-चीत, जिसमें भविष्य का ही नहीं बल्कि वर्तमान स्थिति में रद्दोबदल का ही जिक्र था, गांधीजी की अनुपस्थिति में हुई।

१५ : चुनौती : भारत छोड़ो प्रस्ताव

जिस समय हिंदुस्तान के मस्तिष्क में द्वंद्व चल रहा था और निराशा की भावना बढ़ रही थी, गांधीजी ने कितने ही लेख लिखे, जिनसे अचानक जनता के विचारों को एक नई दिशा मिली, या जैसाकि प्रायः होता है, जनता के अस्पष्ट विचारों को उन्होंने एक रूप दे दिया। उस नाजुक स्थिति में निष्क्रियता या उस वक्त की घटनाओं के सामन चुप-चाप सिर झुकाने की बात उन्हें सहन नहीं हुई। इस स्थिति का सामना करने के लिए केवल यही रास्ता था कि हिंदुस्तान की स्वतंत्रता को मान लिया जाय। तब मित्रराष्ट्रों के सहयोग के साथ स्वतंत्र हिंदुस्तान हमले का सामना करता। अगर यह स्वीकृति नहीं मिलती, तो मौजूदा ढांचे को चुनौती देने के लिए कुछ कार्रवाई करनी चाहिए, और जनता को उस काहिली से, जो उन्हें पंगु बना रही थी, और उन्हें हर तरह के हमले का शिकार बना रही थी, जगाना चाहिए।

इस मांग में कोई नई बात नहीं थी, क्योंकि इसमें केवल इसी बातं

को दुहराया गया था जो हम बराबर कहते आये थे, लेकिन उनके लेखों और व्याख्यानों में एक नया जोश था, और एक नई स्फूर्ति थी। और उसमें काम करने के लिए संकेत था। इसमें संदेह नहीं कि उस समय हिंदुस्तान में जो भावना चारों तरफ छाई हुई थी, उसे वह प्रकट करते थे। दोनों की आपसी लड़ाई में राष्ट्रीयता ने अंतर्राष्ट्रीयता पर जीत पाई और गांधीजी के नये लेखों ने सारे हिंदुस्तान में हलचल मचा दी। फिर भी इस राष्ट्रीयता का अंतर्राष्ट्रीयता से कभी भी विरोध नहीं था, और वह भरसक कोशिश कर रही थी कि व्यापक हितों से मेल खाने का कोई रास्ता निकल आये। लेकिन यह तभी संभव था जब उसको इसके लिए एक सम्मानपूर्ण और प्रभावपूर्ण अवसर मिलें।

इस नये परिवर्तन से हममें से कुछ लोग परेशान हुए और विचलित हुए, क्योंकि कोई भी कार्रवाई व्यर्थ थी——अगर वह कारगर न हो। ऐसी कोई भी कार्रवाई लड़ाई की तैयारियों के रास्ते में अनिवार्य रूप से अड़चन होती, क्योंकि इस समय स्वयं हिंदुस्तान पर हमले का भय था। गांधीजी के आम दृष्टिकोण में कुछ महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय बातों को छोड़ दिया गया था, और ऐसा मालूम होता था कि उसकी बुनियाद राष्ट्रीयता के संकरे घेरे में है। लड़ाई के तीन साल के दौरान में हमने जान-बूझकर परेशान न करने की नीति को अपनाया था, और जो-कुछ भी कार्रवाई हमने की थी, वह विरोध जता देने-भर के लिए थी। जब १९४०-४१ में हमारे यहां के तीस हजार प्रमुख नर-नारी जेल भेज दिये गए, तो प्रतीक-रूप विरोध का पमाना बहुत बढ़ गया। लेकिन यह जेल जाना भी एक निजी मामला था, जिसको चुने हुए व्यक्ति कर रहे थे। इसमें जनता को उभारने और सरकारी मशीन के काम में खुली छेड़-छाड़ का कोई इरादा न था। हम उसको दुहरा नहीं सकते थे। अगर हमें कुछ और करना था तो वह कार्रवाई दूसरे ढंग की होती और अधिक कारगर पैमाने पर होती। क्या इससे लड़ाई के काम में, जो हिंदुस्तानी सरहद पर ही थी, कोई बाधा न पड़ती और क्या इससे दुश्मन को बढ़ावा न मिलता?

स्पष्ट रूप से कठिनाइयां थीं और इस संबंध में हमने गांधीजी

से विस्तारपूर्वक बहस की। लेकिन हम एक-दूसरे की राय न बदल सके। कठिनाइयां थीं और सक्रियता और निष्क्रियता दोनों में ही भय था, जोखिम थी। अब सवाल उनमें समतौल लाने का था और उनमें से कम बुरी चीज को चुनना था। हमारी आपसी बहस से, बहुत-सी चीजें जो पहले धुंधली थीं, अनिश्चित थीं, अब साफ हो गईं, और हमारे ध्यान दिलाने पर गांधीजी ने कई अंतर्राष्ट्रीय पेचों को मान लिया। उनके बाद के लेख बदले, और उन्होंने स्वयं उन अंतर्राष्ट्रीय पेचों पर जोर दिया, और हिंदुस्तान के सवाल पर, अधिक व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए, सोचा। लेकिन उनका बुनियादी रुख बराबर बना रहा, हिंदुस्तान में ब्रिटिश स्वेच्छाचारी और कुचलनेवाले शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाना उन्हें स्वीकार नहीं था और उसको चुनौती देने की उनकी बहुत प्रबल इच्छा थी।

गांधीजी की अवस्था सत्तर से ऊपर थी। एक लंबी और बराबर काम-काजी, मेहनत-भरी शारीरिक और मानसिक काम-काज से भरी हुई जिंदगी ने उनके शरीर को दुर्बल कर दिया था। लेकिन अब भी वह काफी दृढ़ थे और ऐसा अनुभव करते थे कि अगर उस समय की हालतों के सामने उन्होंने सिर झुका दिया और अगर अपनी अधिक-से-अधिक मूल्यवान वस्तु की रक्षा के लिए उन्होंने कोई कार्रवाई नहीं की, तो उनकी सारी जिंदगी की कमाई मिट्टी में मिल जायगी। हिंदुस्तान की और दूसरे सताए हुए राष्ट्रों और समुदायों की स्वतंत्रता के लिए उनके प्रेम ने उनकी अहिंसा की दृढ़ निष्ठा को जीता। एक पहले अवसर पर बहुत हिचकिचाते हुए, बिल्कुल बे-मन से, उन्होंने कांग्रेस को इस बात की स्वीकृति दी थी कि रक्षा के मामले में या राज-सत्ता के लिए किसी विकट परिस्थिति में अहिंसा की नीति को छोड़ा जा सकता था। लेकिन वह स्वयं उससे अलग थे।

बहुत-से आपसी तार्किक मतभेद, जो हममें से कुछको गांधीजी से अलग किये हुए थे अब मिट गए। फिर भी सबसे बड़ी मुश्किल अभी बाकी थी। हमारी किसी भी कार्रवाई से लड़ाई की तैयारियों में गड़बड़ होती। हमें आश्चर्य होता था कि गांधीजी अब भी इस विश्वास से चिपटे

हुए थे कि ब्रिटिश-सरकार से समझौता संभव था और उन्होंने कहा कि इसके लिए वह अपना भरसक प्रयत्न करेंगे। और इस तरह, यद्यपि वह काम के बारे में बहुत वातें कह रहे थे, फिर भी न तो उस काम की उन्होंने कोई रूप-रेखा ही बताई, और न यही बताया कि वह क्या करना चाहते हैं।

यदि एक ओर जनता का मिजाज विगड़ रहा था, तो दूसरी ओर सरकार का भी मिजाज विगड़ रहा था। घटनाएं घटती रहीं। फिर भी, अजीव-सी वात थी कि गांधीजी ने, जो हिंदुस्तान के मान को बचाने के लिए और उसकी स्वतंत्रता के अधिकार पर वल देने के लिए (जिससे वह एक स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत से लड़ाई में हमले के विरुद्ध पूरा सहयोग दे सके), किसी-न-किसी कार्रवाई के लिए कह रहे थे, यह वात नहीं बताई कि वह कार्रवाई किस ढंग की हो। शांतिपूर्ण तो वह होती ही, लेकिन उसके आगे ? उन्होंने ब्रिटिश-सरकार से समझौते की संभावना पर अधिक बल दिया। उन्होंने अपना यह इरादा प्रकट किया कि वह फिर सरकार से इस मामले पर बातचीत शुरू करेंगे और कोई-न-कोई रास्ता निकालने की भरसक कोशिश करेंगे। आल इंडिया कांग्रेस कमेटी की बैठक में उनके अंतिम भाषण में समझौते के लिए हार्दिक अनुरोध था, और इस मामले में वाइसराय से मिलने का उनका पक्का इरादा प्रकट किया गया था। न तो सार्वजनिक रूप में और न आपसी बातचीत में ही उन्होंने कांग्रेस कार्य-समिति को यह वताया कि उनके मन में किस ढंग की कार्रवाई का विचार था। केवल एक वात अवश्य प्रकट थी। बातचीत में उन्होंने संकेत किया था कि समझौते के असफल होने पर किसी ढंग के असहयोग की, विरोध में एक दिन की हड़ताल की, देश में सारे काम-काज को रोकने की प्रार्थना करेंगे। एक ढंग से वह एक दिन के लिए आम-हड़ताल होगी और राष्ट्र के विरोध का प्रतीक होगी। यह भी एक धुंधला-सा इशारा था और इसपर उन्होंने विस्तार से कुछ नहीं कहा। जब-तक समझौते की पूरी-पूरी कोशिश न कर ली जाय, वह आगे कोई योजना भी नहीं बनाना चाहते थे। इसलिए न तो उन्होंने, और न कांग्रेस-कार्य-समिति ने ही कोई हिदायतें जारी कीं——न सार्वजनिक रूप में और

न आपसी तौर पर। हां, यह अवश्य कहा गया कि जनता को हर नई परिस्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए और हर हालत में उसका काम शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक होना चाहिए।

यद्यपि इस विकट उलझन से निकलने की गांधीजी को अब भी आशा थी, लेकिन उनके अलावा और बहुत थोड़े-से ही लोग थे जिन्हें अब आशा शेष थी। घटनाओं के बहाव से और सारे चढ़ाव-उतारों से यह बात अनिवार्य मालूम होती थी कि झगड़ा होगा। जब ऐसी हालत आ जाती है, तो बीच की जगह का कोई महत्व नहीं रहता और हर आदमी को यह तै कर लेना पड़ता है कि उसे किस ओर रहना है। कांग्रेसियों के लिए या उन लोगों के लिए, जो इसी ढंग से सोचते थे, तै करने का कोई सवाल ही न था। यह बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी कि जब सरकार अपनी पूरी शक्ति से जनता को कुचलने की कोशिश करे, तब हममें से कुछ लोग अलग खड़े हुए तमाशा देखते रहें। यह तो ऐसी लड़ाई थी जिसमें हिंदुस्तान की स्वतंत्रता का प्रश्न मिला हुआ था। हां, बहुत-से ऐसे लोग हैं, जो सहानुभूति के होते हुए भी एक ओर खड़े रहते हैं। अपनी पिछली कार्रवाइयों के नतीजे से अपने-आपको बचाने की ऐसी कोई भी कोशिश, किसी भी प्रसिद्ध कांग्रेसी के लिए लज्जा और अपमान की बात होती। लेकिन इसके अतिरिक्त भी उनके सामने रास्ता तै करने का कोई प्रश्न नहीं था। हिंदुस्तान के सारे पुराने इतिहास, उसके वर्तमान संकट और भविष्य की आशा ने उनको आगे बढ़ाया और उनके लिए एक ही रास्ता रह गया।

बंबई में ७ और ८ अगस्त १९४२ को कांग्रेस-कमेटी ने खुली सभा में उस प्रस्ताव पर, जो अब 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध है, बहस की और सोच-विचार किया। वह प्रस्ताव लंबा था, और उसमें बहुत-सी बातें थीं। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता की तुरंत स्वीकृति और ब्रिटिश राज्य के हिंदुस्तान में अंत के लिए यह एक तर्क-संगत बहस के रूप में था, जो समूचे हिंदुस्तान के हितों और स्वयं संयुक्त-राष्ट्रों की सफलता की दृष्टि से पेश किया गया था। इस राज्य को कायम रखने की वजह से हिन्दुस्तान दिन-ब-दिन निःशक्त होता जा रहा था और

गिरता जा रहा था। अपनी रक्षा के लिए दिन-व-दिन उसकी सामर्थ्य घटती जा रही था। इस तरह वह दुनिया की आजादी के उद्देश्य में साथ दे सकने के लिए भी असमर्थ होता जा रहा था। "साम्राज्य पर अधिकार से शासक शक्ति का वल नहीं वढ़ा, बल्कि वह उसके लिए एक वोझ और एक अभिशाप हो गया है। हिंदुस्तान जो आधुनिक साम्राज्य का मुख्य शिकार है, अव इस सवाल की कसौटी वन गया है। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता से ही ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों की जांच होगी। इसीसे एशिया और अफरीका के मनुष्यों में आशा और उत्साह आ सकते हैं।" प्रस्ताव में यह सलाह दी गई कि अस्थायी सरकार की स्थापना हो, जो मिली-जुली होगी और जिसमें जनता के सभी मुख्य दलों और वर्गों के प्रतिनिधि होंगे। इस सरकार का "सवसे पहला काम यह होगा कि मित्र-शक्तियों से मिलकर, अपनी सारी हथियारबंद फौजों और गैर-हथियारबंद सब संस्थाओं का लाभ उठाकर हिंदुस्तान की रक्षा की जाय और हमले को रोका जाय।" यह सरकार संविधान वनानेवाली सभा की योजना तैयार करेगी और हिंदुस्तान की जनता के सभी समुदायों को मान्य हो, ऐसा एक संविधान वनायगी। संविधान फेडरल होगा और फेडरेशन में शामिल होनेवाले हिस्सोंको अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता होगी और कुछ मुख्य वातों को छोड़कर सारे अधिकार उन हिस्सों की सरकारों को होंगे। स्वतंत्रता हिंदुस्तान को इस योग्य वनायगी कि जनता के दृढ़ निश्चय और उसकी शक्ति के साथ वह हमले का प्रभावपूर्ण ढंग से सामना कर सके।"

हिंदुस्तान की स्वतंत्रता, दूसरे एशियाई राष्ट्रों की स्वतंत्रता का प्रतीक और अग्रगामी होगी। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र राष्ट्रों की एक दुनिया-भर की फेडरेशन का प्रस्ताव था, जिसका आरंभ संयुक्त राष्ट्रों से हो सकता था।

समिति ने कहा कि वह "चीन और रूस की रक्षा के हक में किसी तरह परेशानी न पैदा करने के लिए उत्सुक है। उनकी स्वतंत्रता वहुमूल्य है और उसे वनाये रखना है। और समिति संयुक्त राष्ट्रों की रक्षा की शक्ति को छिन्न-भिन्न न करने के लिए भी उत्सुक है।" (उस समय चीन और रूस के लिए सबसे अधिक भय था)। "लेकिन हिंदुस्तान के

लिए और इन राष्ट्रों के लिए खतरा बढ़ता जा रहा है। इस अवसर पर निष्क्रियता और विदेशी शासन के सामने सिर झुकाना हिंदुस्तान के लिए केवल अपमानजनक ही नहीं है, बल्कि उससे अपनी रक्षा के लिए उसका सामर्थ्य घट रहा है, और न तो यह दब्बूपन उस संकट का ही जवाब है और न इससे संयुक्त राष्ट्रो की जनता की ही सेवा हो सकती है।"

समिति ने, "संसार की स्वतंत्रता के हित में" फिर ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों से अपील की। लेकिन (और यहां प्रस्ताव की खास चोट थी) "अब, समिति साम्राज्यवादी और स्वेच्छाचारी सरकार के विरुद्ध अपने अधिकार के लिए दबाव डालने की राष्ट्र की प्रवृत्ति को रोकना न्याय-संगत नहीं समझती। यह सरकार उसपर अधिकार किये हुए है और उसको अपने और सारी दुनिया के हित में काम करने से रोकती है। इसलिए हिंदुस्तान की स्वतंत्रता के निर्विवाद अधिकार की पुष्टि के लिए, समिति इस बात की अनुमति देने का निश्चय करती है कि गांधीजी के अनिवार्य नेतृत्व में अहिंसात्मक ढंग से एक व्यापक संघर्ष आरंभ किया जाय।" यह आज्ञा उसी समय लागू होगी जब गांधीजी ऐसा निर्णय करें। अंत में समिति ने कहा कि "वह कांग्रेस के लिए शक्ति नहीं प्राप्त करना चाहती। जब शक्ति आयगी, तो वह हिंदुस्तान की सारी जनता की होगी।"

अपने अंतिम व्याख्यानों में कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद और गांधीजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका अगला कदम वाइसराय से, जो ब्रिटिश-सरकार का प्रतिनिधि है, मिलना है। इसके अलावा मुख्य-मुख्य संयुक्त राष्ट्रों के सबसे बड़े पदाधिकारियों से अपील की जायगी कि एक सम्मानपूर्ण समझौता हो। इसमें हिंदुस्तान की स्वतंत्रता को स्वीकार करने के साथ ही, आक्रमणकारी धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रों की लड़ाई का उद्देश्य भी आगे बढ़ेगा। ८ अगस्त १९४२ की रात में काफी देर बाद यह प्रस्ताव अंतिम रूप में स्वीकार किया गया। चंद घंटों बाद, ९ अगस्त को सवेरे बंबई में और देश की और दूसरी जगहों में बहुत-सी गिरफ्तारियां हुईं। और तब हम अहमदनगर के किले में आये।